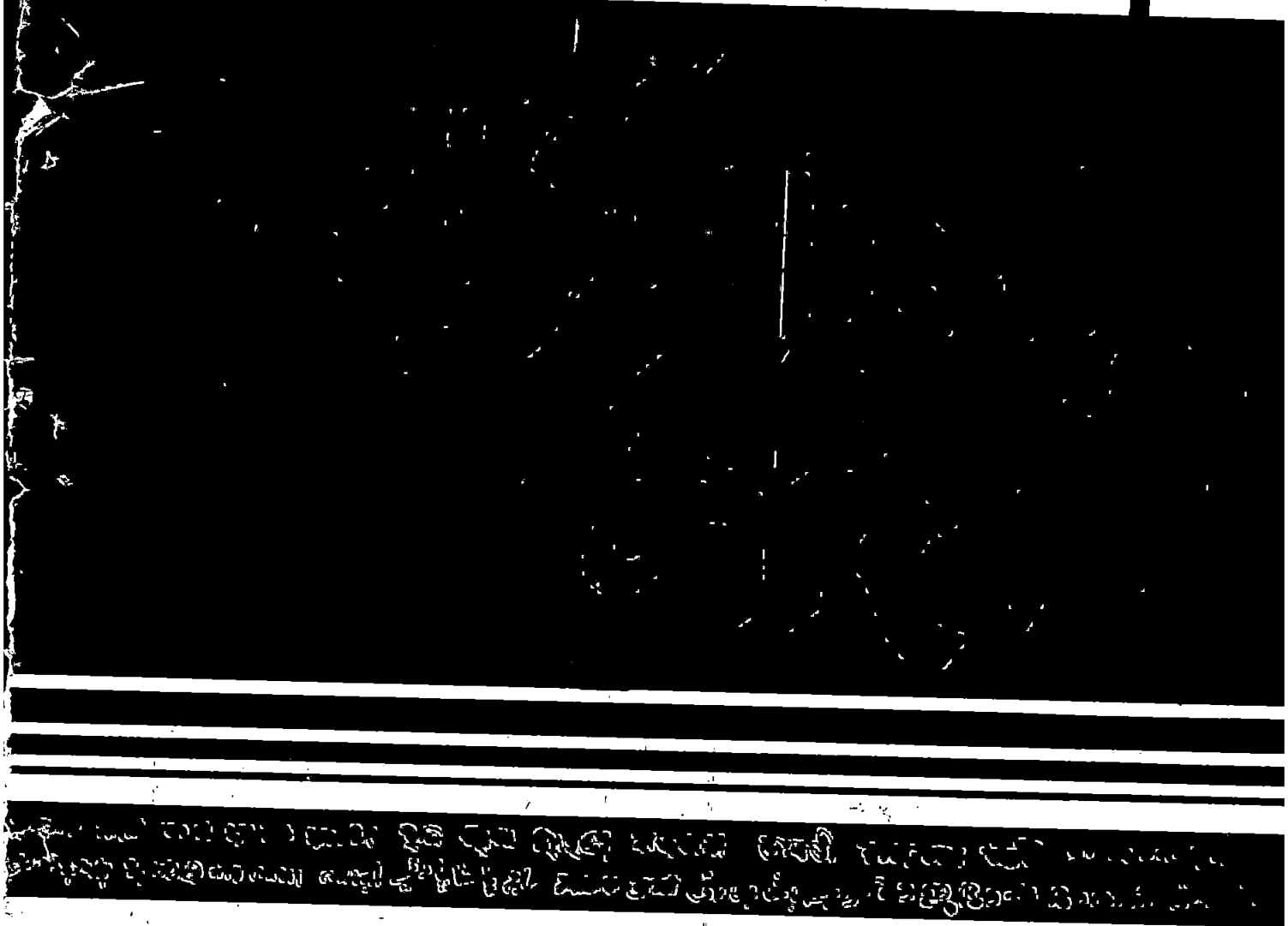

राजभाषा विभाग गृह मंत्रालय भारत सरकार

केंद्रीय हिंदी समिति की 24 वीं बैठक

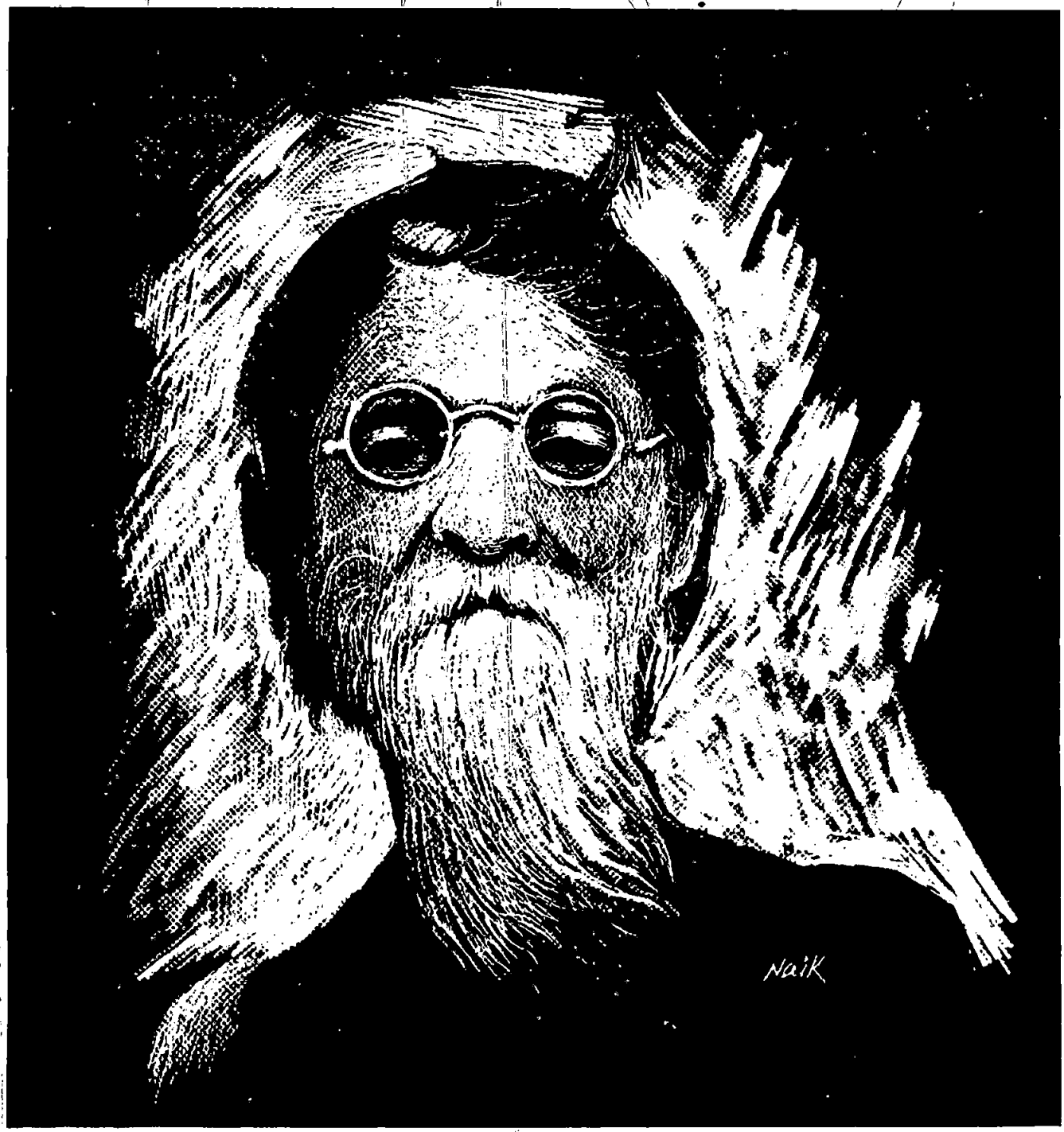

आचार्य विनोबा भावे
की जन्मशती (11 सितम्बर 1994) के अवसर पर
उनकी स्मृति को समर्पित

राजभाषा भारती विशेषांक
(अंक 66)

भारति जय विजय करे, कनक-शस्य-कमल धरे

—निराला

राजभाषा भारती

विशेषांक

राजभाषा विभाग की त्रैमासिकी

अंक: 66
वर्ष: 17

आषाढ़-भाद्रपद 1916 शक
जुलाई-सितंबर 1994

☐ संपादक

राज कुमार सैनी
निदेशक (अनुसंधान)
फोनः 4617807

☐ उपसंपादक

डा० गुरुदयाल बजाज
नेत्र सिंह रावत
देवी दत्त तिवारी
फोनः 4698054

☐ संपादन सहायक
शांति कुमार स्याल

पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखक के हैं। सरकार अथवा राजभाषा विभाग का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

☐ निःशुल्क वितरण के लिए

☐ पत्र-व्यवहार का पताः
संपादक, राजभाषा भारती,
राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय,
लोकनायक भवन (11 वां तल)
खान मार्किट,
नई दिल्ली-110003

			पृष्ठ
☐	भूमिका-विशेषांक के बारे में	श्री चंद्रधर त्रिपाठी सचिव, राजभाषा विभाग	1
1.	सर विलियम जोन्स ने संस्कृत कैसी सीखी	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी	3
2.	राष्ट्रभाषा हिंदी	गणेश शंकर विद्यार्थी	5
3.	राष्ट्रभाषा का प्रश्न	पं० जवाहर लाल नेहरू	10
4.	राष्ट्र भाषा और लिपि	राहुल सांकृत्यायन	13
5.	राष्ट्रभाषा हिंदी	डा० अमरनाथ झा	16
6.	भारत की संविधान सभा में प्रथम दिन ही हिंदी भाषा का प्रवेश	पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी	18
7.	हिंदी सीखने का मेरा प्रेरणास्त्रोत	संतराम बी०ए०	21
8.	भाषा की सरलता की समस्या	डॉ नगेन्द्र	24
9.	भाषा, समाज और संस्कृति	डॉ० रघुवंश	26
10.	नेहरू जी और राजभाषा हिंदी	प्रभाकर माचवे	29
11	भारत के संविधान में सामासिक संस्कृति और भारतीय भाषाएं	डॉ० मोटूरि सत्यनारायण	30
12.	राजभाषा हिंदी ही क्यों	आचार्य क्षेमचन्द "सुमन"	33
13.	हिंदी के विकास में अन्य भाषाओं की भूमिका	रमा प्रसन्न नायक	37
14.	राजभाषा हिंदीः परम्परा और विकास	डॉ० भोलानाथ तिवारी	39
15.	राजभाषा हिंदी के विकास की समस्या और साहित्यकार	डॉ० विजयेन्द्र स्नातक	41
16.	हिंदी का स्वरूप	डॉ० हरवंश लाल शर्मा	43
17.	राजभाषा का आधुनिकीकरण	डॉ० रमेश कुंतलमेघ	47
18.	दक्षिण भारत में छः सौ वर्ष पूर्व हिंदी	प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी	49
19.	हिंदी का यथार्थ	डॉ०गोपाल शर्मा	51

20.	देवनागरी लिपिः संशोधन और परिवर्धन	काशीराम शर्मा	53
21.	भाषा, समाज और प्रयोजनमूलक हिंदी	कृष्ण कुमार श्रीवास्तव	55
22.	अनुवादक का दायित्व	जयनारायण तिवारी	57
23.	अनुवाद की समस्याएं	डॉ॰ ए॰ रमेश चौधरी "आरिगपुड़ी"	59
24.	हिंदी की प्रतिष्ठा-वृद्धि में अहिंदी भाषियों का योगदान	डॉ॰ शिवसागर मिश्र	61
25.	विधि के क्षेत्र में हिंदी	शांति भूषण	63
26.	विज्ञान में हिंदी प्रयोग की संभावनाएं	डॉ॰ ओम् विकास	65
27.	हिंदी और तमिल के समान तत्व	ह॰ बालसुब्रह्मण्यम	67
28.	उड़ियाः साहित्य, भाषा और राजभाषा	प्रदीप कुमार बख्शी	70
29.	पंजाबीः साहित्य, भाषा और राज्य-भाषा	कुलभूषण कालड़ा	72
30.	क्या हिंदी राजभाषा एक वोट से हुई	ब्रज किशोर शर्मा	74
31.	बंगलाः भाषा, साहित्य और राजभाषा	अवधेष मोहन गुप्त	76
32	अंग्रेजी-हिंदी पारिभाषिक शब्दकोश-निर्माण में डॉ॰ रघुबीर का योगदान	डॉ॰ रमेश चंद्र शुक्ल	81

विशेषांक के बारे में

केन्द्रीय सरकार के कामकाज में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग के लिए किए जा रहे कार्य-कलापों तथा राजभाषा के संबंध में संवैधानिक और कानूनी स्थिति के बारे में सरकारी अधिकारियों, कर्मचारियों तथा आम जनता को अपेक्षित जानकारी प्रदान करने के लिए राजभाषा विभाग ने अप्रैल, 1978 में 'राजभाषा भारती'' का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। पिछले 16 वर्षों के अन्तराल में धीरे-धीरे यह पत्रिका हिन्दी भाषा, देवनागरी लिपि, व्याकरण, शब्द-मीमांसा, भारतीय वाङ्मय और साहित्य की एक लोकप्रिय पत्रिका बन गई है और साथ ही साथ वह भारतीय भाषाओं की सामासिक संकृति के विविध तत्वों की अभिव्यक्ति का भी सहज माध्यम बनती जा रही है। समय के साथ-साथ विकसित होती हुई इस ऐतिहासिक और स्वाभाविक प्रक्रिया के दौरान ''राजभाषा भारती'' के स्वरूप और कलेवर में भी बदलाव आया है। यह बदलाव एकाएक नहीं हुआ, समय के साथ बदलती हुई आवश्यकताओं तथा नए-नए तकाज़ों के फलस्वरूप अनायास होता गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि ''राजभाषा भारती'' मात्र एक सरकारी पत्रिका नहीं रही बल्कि वह बुद्धिजीवियों के हलकों में भी चर्चा का विषय बनती है और उसके नए अंकों की सुधी पाठकों को प्रतीक्षा रहती है। देश के उच्च कोटि के बुद्धिजीवी, विश्वविद्यालयों के विद्वान प्राध्यापक, हिन्दी और अहिन्दी भाषी साहित्यकार, भाषा सेवी, मंत्री और सांसद तथा सरकार के निवर्तमान एवं वर्तमान वरिष्ठतम अधिकारी इस पत्रिका के लिए अपना रचनात्मक योगदान अर्पित करते हैं।

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि ''राजभाषा भारती'' हिन्दी की एकमात्र पत्रिका है जो राजभाषा हिन्दी, देवनागरी लिपि, संस्कृत और भारतीय भाषाओं तथा भारतीय वाङ्मय जैसे विषयों की भी पत्रिका समझी जाती है। ऐसी समझ आकस्मिक नहीं है। जब राजभाषा हिन्दी को देश की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनना हो तो उस भाषा के प्रचार-प्रसार की पत्रिका उक्त विषयों से असंपृक्त कैसे रह सकती है? ये सभी विषय हिन्दी के विकास से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़े हैं। आशय यही है कि ''राजभाषा भारती'' हिन्दी के प्रचार-प्रसार की पत्रिका तो है ही, वह हिन्दी के विकास के लिए भी प्रतिबद्ध है। यही कारण है उसकी परिधि में भी निरन्तर विस्तार होता गया है।

''राजभाषा भारती'' की इसी ऐतिहासिक यात्रा को अभिलक्षित करने के प्रयोजन से हमने यह विचार किया कि इस वर्ष हिन्दी दिवस/पखवाड़े के अवसर पर ''राजभाषा भारती'' के विगत अंकों में प्रकाशित चुनिन्दा लेखकों को पत्रिका के एक विशेषांक के रूप में हिन्दी पाठकों के समक्ष पुनः प्रस्तुत किया जाए। आशा है हमारा यह प्रयास सुधी पाठकों को पसन्द आएगा।

"राजभाषा भारती का यह विशेषांक पूज्य आचार्य विनोबा भावे की जन्मशती के साथ संक्रमित हो रहा है। 11 सितम्बर 1994 को उन के जन्म के सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। आचार्य विनोबा भावे महात्मा गांधी के बाद दूसरे महापुरूष थे जिन्होंने राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की सर्वाधिक सेवा की है। देश के अग्रणी नेताओं में आचार्य विनोबा भावे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सारे देशवासियों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया था कि नागरी लिपि से बढ़कर वैज्ञानिक लिपि कोई नहीं है। वे हिन्दी को विश्व की सर्वाधिक सम्पन्न भाषा मानते थे और बड़े सहज भाव के साथ कहा करते थे कि यह संस्कृत की ज्येष्ठ पुत्री है। आचार्य विनोबा भावे का यह विश्वास था कि हिन्दी की प्रगति को कोई भी शक्ति रोक नहीं सकेगी। राष्ट्रभाषा की अवमानना उनसे सही नहीं जाती थी। एक बार ऐसे ही एक प्रसंग में उन्होंने कहा था कि मेरे देश में हिन्दी की इज्जत न हो यह मैं नहीं सह सकता। देवनागरी लिपि को उन्होंने भारत के लिए वरदान कहा था। इस अवसर पर उनका यह कथन भी बड़ी शिद्दत के साथ याद आता है कि हिन्दी को गंगा नहीं समुद्र बनना होगा।

"राजभाषा भारती" का यह विशेषांक आचार्य विनोबा भावे की पवित्र स्मृति को समर्पित है।

सचिव,
राजभाषा विभाग
गृह मन्त्रालय,
नई दिल्ली।

बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के संस्थापक

सर विलियम जोन्स ने संस्कृत कैसे सीखी?

सम्पादकाचार्य स्व० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी—

सर विलियम जोन्स संस्कृत के बहुत प्रसिद्ध पण्डित हो गए हैं। उन्होंने बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की नींव डाली थी। यद्यपि उनके पहले भी कई योरोप निवासियों ने इस देश में आकर संस्कृत की थोड़ी बहुत शिक्षा प्राप्त की थी, तथापि सर विलियम की तरह बड़ी बड़ी कठिनाइयों को झेलकर संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान और किसी ने उनके पहले नहीं प्राप्त किया था। एशियाटिक सोसायटी की स्थापना करके उन्होंने बहुत बड़ा काम किया। इस सोसायटी की बदौलत प्राच्य भाषाओं के अनेक अलभ्य ग्रनथ आज तक प्रकाशित हो चुके हैं और विद्या और कला आदि के विषय की अनेक अश्रुतपूर्व बातें मालूम हुई हैं। यदि सर विलियम जोंस संस्कृत सीखकर संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेजी में प्रकाशित न करते तो शायद ही संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य का महत्व योरोप के विद्वानों को विदित होता या यदि होता भी तो बहुत दिन बाद होता।

जून 1907 के "हिन्दुस्तान रिव्यू" में एक छोटा सा लेख, श्रीयुक्त एस सी सान्याल, एम० ए० का लिखा हुआ प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने दिखलाया है कि कैसी कैसी कठिनाइयों को झेल कर सर विलियम ने कलकत्ता में संस्कृत सीखी। क्या हम लोगों में एक भी मनुष्य ऐसा है जो सर विलियम की आधी भी कठिनाइयां उठाकर संस्कृत सीखने की इच्छा रखता हो? कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फारसी और अंग्रेजी शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत किस चिड़िया का नाम है। संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृ-भाषा हिन्दी भी तो बहुधा नहीं जानते और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिन्दी लिखते शरम आती है? इन मातृभाषा द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पार कर इंग्लैण्ड वाले यहां आते हैं और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठा कर यहां की भाषाएं सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रन्थ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञानी बनते हैं। पर खुद कुछ नहीं करते। करते है सिर्फ व्यर्थ कालातिपात और करते हैं अंग्रेजी लिखने की अपनी योग्यता का प्रदर्शन। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते। विदेश में जहां गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।

सर विलियम जोन्स, सुप्रीम कोर्ट के जज मुकर्रर होकर, 1783 ईसवीं में कलकत्ता आए। वहां आकर उन्होंने थोड़ी सी हिन्दी सीखी। उसकी मदद से वे अपने नौकरों से किसी तरह बातचीत करने लगे। उसके बाद उन्हें संस्कृत सीखने की इच्छा हुई। इससे ये एक पण्डित की तलाश में लगे। पर पण्डित उन्हें कैसे मिल सकता था? वह आजकल का जमाना तो था नहीं। एक भी ब्राह्मण वेद और शास्त्र की पवित्र संस्कृत भाषा एक यवन को सिखाने पर राजी न हुआ। कृष्णनगर के महाराज शिवचन्द्र सर विलियम के मित्र थे। उन्होंने भी बहुत कोशिश की, पर व्यर्थ। यवन को संस्कृत शिक्षा! शिव शिव! सर विलियम ने बहुत बड़ी तनख्वाह का भी लालच दिया। पर उनका यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ। लालच के मारे दो एक पण्डित सर विलियम के यहां पधारे भी और इसका निश्चय करना चाहा कि यदि वे उन्हें संस्कृत पढ़ावें तो क्या तनख्वाह मिलेगी। पर जब यह बात उनके पड़ोसियों ने सुनी तो उनके तलबों की आग मस्तक जा पहुंची। तुम यवनों के हाथ हमारी परम पवित्र देववाणी बेचोगे। अच्छी बात है; तुम बिरादरी से खारिज। तुम्हारा जलग्रहण बंद। बस फिर क्या था, उनका सारा साहस काफूर हो गया। फिर उन्होंने सर विलियम के बंगले के अहाते में कदम नहीं रखा। अब क्या किया जाय। खैर कलकत्ते में न सही, और ही कहीं कोई पण्डित मिल जाय तो अच्छा। यह समझकर सर विलियम संस्कृत के प्रधान पीठ नवद्वीप पहुंचे। वहां भी उन्होंने बहुत कोशिश की, परन्तु किसी ने उन्हें संस्कृत शिक्षा देना अङ्गीकार न किया। मन मारकर वहां से भी वे लौट आए।

इस असफलता और निराशा पर भी सर विलियिम जोन्स ने लगन न छोड़ी। पण्डित की तलाश में वे बराबर लगें ही रहे। अन्त में ब्राह्मण तो नही, वैद्य जाति के एक संस्कृतज्ञ ने, 100 रु० महीने पर पढ़ाना मंजूर किया। इस पण्डित का नाम था रामलोचन कवि भूषण। ये पण्डित महाराज संसार में अकेले थे ही। न स्त्री थी, न सन्तति, हावड़ा के पास सलकिया में रहते थे। किसी से कुछ सरोकार न रखते थे। सबसे अलग रहते थे। इसी से आपको जाति या समाज के बहिष्कार कर डर न था। पण्डित महाशय वैद्य विद्या भी जानते थे। पास पड़ोस के लोग चिकित्सा कराने उनको अक्सर बुलाते थे। इससे इन्होंने अपने मन में कहा कि यदि हम इस यवन को संस्कृत पढ़ाएंगे तो भी हमारे टोले-मुहले के लोग हमें न छोड़ सकेंगे। जब कोई बीमार होगा, लाचार होकर हमी को बुलाना पड़ेगा क्योंकि और कोई वैद्य यहां है ही नही। इसी से इन्हें सर विलियम जोन्स को पढ़ाने का साहस हुआ। एक तो 100 रुपये महीने तनख्वाह, फिर सलकिया से चौरिधी (आजकल 'चौरंगी सं०) तक रोज आने जाने के लिए मुफ्त में पालकी की सवारी। याद रहे, उस समय पालकी की सवारी के लिए महीने में 30 रुपये के कम न खर्च होते थे। अतएव अपना सब तरह से फायदा समझकर रामलोचन ने सर विलियम को पढ़ाने का निश्चय किया।

संस्कृत पढ़ाने की शर्त

कवि भूषण जी ने सर विलियम जोन्स के साथ बड़ी-बड़ी शर्तें रखी। पर सर विलियम इतने उदार हृदय थे कि उन्होंने सब शर्तों को मंजूर कर लिया। उनके बंगले के नीचे के खण्ड का एक कमरा पढ़ाने के लिए पसन्द किया गया। उसके फर्श में संगमरमर बिछवाया गया। एक हिन्दू नौकर रखा गया। उसके सुपुर्द यह काम हुआ कि वह रोज हुगली से जल लाकर कमरे के फर्श को और थोड़ी दूर तक दीवारों को भी धोवे। दो चार लकड़ी की कुर्सियों और एक लकड़ी की मेज के सिवाय और सब चीजें उस कमरे से हटा दी गई। ये चीजें भी रोज धोई जाने लगीं। शिक्षादान के लिए सवेरे की बेला नियत हुई। पढ़ने के कमरे में कदम रखने के पहले सर विनिलयम को हुक्म हुआ कि एक प्याला चाय के सिवाय न खाएं न पिएं। यह भी उनको मंजूर करना पड़ा। कवि भूषण जी को यह भी आज्ञा हुई कि गो-मांस, वृष-मांस, शूकर-मांस मकान के अन्दर न जाने पावे। यह बात भी कबूल हुई। एक कमरा पण्डित जी को कपड़े पहनने के लिए दिया गया। उसके भी रोज धोये जाने की योजना हुई। पण्डित महाशय ने दो जोड़े कपड़े रखे। उनमें से एक जोड़ा इस कमरे में रखा गया। रोज प्रातःकाल जिस कपड़े को पहन कर वे साहब के यहां आते थे उसे इस कमरे में रख देते थे। और कमरे में रखा हुआ जोड़ा पहनकर वे पढ़ाते थे। चलते समय फिर उसे बदलकर घर वाला जोड़ा पहन लेते थे।

इतने महाभारत के बाद सर विलियम ने "रामः, रामौ, रामाः" शुरू किया। न सर विलियम संस्कृत जानें। व कवि-भूषण महाशय अंग्रेजी। पाठ कैसे चले, खैर इतनी थी कि साहब थोड़ी सी टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेते थे। उसी की मदद से पाठारम्भ हुआ। दोनों ने उसी की शरण ली। सौभाग्य से अध्यापक और अध्येता दोनों बुद्धिमान थे। नहीं तो इतनी थोड़ी हिन्दी से कभी काम न चलता। सर विलियम ने बड़ी मेहनत की। एक ही वर्ष में वे सरल संस्कृत में अपना आशय प्रकट करने लगे। संस्कृत में लिन्ग भेद और क्रियाओं के रूप बड़े मुश्किल हैं। बहुत संभव है, पहले पहल सर विलियम ने बहुत सी संज्ञाओं और क्रियाओं के रूप कागज पर लिख लिये होंगे। उनकी तालिकाएं बना ली होंगी। उन्हीं की मदद से उन्होंने आगे का काम निकाला होगा। किस तरह उन्होंने पण्डित रामलोचन से संस्कृत सीखी, कहीं लिखा हुआ नहीं मिलता। यदि उनकी पाठ ग्रहण प्रणाली मालूम हो जाती तो उसे जानकर जरूर कुतूहल होता।

संस्कृत में भी नाटक

इस दिन सर विलियिम जोन्स पंडित महाशय से बातचीत कर रहे थे। बातों-बातों में नाटक का जिक्र आया। उन्हें मालूम हुआ कि संस्कृत में भी नाटक के ग्रन्थ हैं। उस समय भी कलकत्ता में अमीर लोगों के यहां नाटक खेले जाते थे। अंग्रेजों को यह बात मालूम थी। पण्डित रामलोचन ने कहा कि पुराने जमाने में भी राजों और अमीर आदमियों के यहां ऐसे ही नाटक हुआ करते थे। यह सुनकर सर विलियम को आश्चर्य हुआ और पण्डित रामलोचन से वे शकुन्तला पढ़ने लगे। उस पर वे इनते मुग्ध हुए कि उसका गद्य पद्य-मय अंग्रेजी अनुवाद कर डाला। यद्यपि अनुवाद अच्छा नहीं बना, तथापि उसने योरूपवालों की आंखें खोल दीं। उसे पढ़कर लोगों ने पहले पहल जाना कि संस्कृत का साहित्य खूब उन्नत हैं। जर्मनी का गेटे नामक कवि तो सर विलियम के अनुवाद को पढ़कर अलौकिक आनन्द से मस्त हो उठा। उसने उसी मस्ती की दशा में शकुन्तला की स्तुति में एक कविता तक बना डाली।

सुनते हैं, सर विलियम जोन्स के संस्कृत शिक्षक बड़े तेज मिजाज आदमी थे। जो बात सर विलियम की समझ में न आती थी उसे गुरु जी से पूछना पड़ता था। गुरु महाशय ठीक तौर से पढ़ाना जानते न थे। वे सर विलियम को भी उसी रास्ते ले जाते थे जिस रास्ते टोल (पाठशालाओं) के विद्यार्थी जाते हैं। इससे सर विलियम को कभी कभी कोई बात दो-दो, तीन तीन दफे पढ़नी पढ़ती थी। एक दफे बताने से वह उनके ध्यान ही में न आती है। ऐसे मौकों पर गुरुदेव महाशय का मिजाज गरम हो उठता था। वे झट कह बैठतें थे—**"यह विषय बड़ा ही विलष्ट है, गो मांस भोजी लोगों के लिए इसका ठीक ठीक समझना प्रायः असम्भव है"**। पर सर विलियम जोन्स पण्डित महाशय को इतना प्यार करते थे और उन्हें इतना मान देते थे कि उनकी इस तरह की मामलों को तो वे हंस कर टाल दिया करते थे।

पण्डित राम लाचन कविभूषण 1812 ईसवी तक जीवित रहे। ये अच्छे विद्वान थे। काव्य, नाटक, अलंकार और व्याकरण में वे खूब प्रवीण थे। पर धर्मशास्त्र और दर्शन में उनकी विशेष गति न थी। इसलिए व्याकरण और काव्य का यथेष्ट अभ्यास कर चुकने पर, जब सर विलियम ने धर्मशास्त्र का अध्ययन शुरु किया तब उन्हें एक और पण्डित रखना पड़ा। यवनों को संस्कृत सिखाना पहले घोर पाप समझा जाता था, पर अब इस तरह का ख्याल कुछ ढीला पड़ गया था। इससे सर विलियन को धर्मशास्त्री पण्डित ढूंढने में विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ा।

सर विलियम जोन्स, 1783 ईसवी में, जज होकर कलकत्ता आये और 1794 में वहीं मरे। हिन्दुस्तान आने के पहले आक्सफोर्ड में उन्होंने फारसी और अरबी सीखी थी। उनका बनाया हुआ फारसी का व्याकरण उत्तम ग्रन्थ है। वह अब नहीं मिलता। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी उन्हीं की कायम की हुई है। उसे चाहिए कि इस व्याकरण को वह फिर से प्रकाशित करे, जिसमें सादी और हाफिज की मनमोहक भाषा सीखने की जिन्हें इच्छा हो वे उससे फायदा उठा सकें। हिन्दुस्तान की सिविल सर्विस के मेम्बरों के लिए वह बहुत उपयोगी होगा।

(जून, 1908 में 'सरस्वती' में प्रकाशित और यहां लेखक की 'साहित्य सीकर' नामक पुस्तक से जो सन् 1929 में प्रकाशित हुई थी, से उद्धृत)

(आर्य जगत 16-4-1989 से साभार)

राष्ट्रभाषा हिन्दी

□ गणेश शंकर विद्यार्थी

[2 मार्च 1930 को गोरखपुर में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 19वें अधिवेशन के अध्यक्ष पद से श्री गणेश शंकर विद्यार्थी का भाषण]

श्रीमान स्वागताध्यक्ष महोदय, देवियों और सज्जनों

मैं आपके समक्ष कोई नई बात नहीं रखने जा रहा। जो कुछ कहूंगा वह भी बहुत त्रुटिपूर्ण होगा। मेरी विनम्र प्रार्थना है कि आप मेरी त्रुटियों पर ध्यान न दें, उनके लिए मुझे क्षमा करें और जिस बड़े कार्य के लिए हम-सब इस महान देश के कोने-कोने से आकार बाबा गोरखनाथ की इस पुरी में एकत्र हुए है, उसकी सिद्धि ही के लिए हम कुछ विशेष निष्कर्षों पर पहुंचे।

आज से उन्नीस वर्ष पहले जबकि इस सम्मेलन का जन्म नहीं हुआ था और उसके जन्म के पश्चात भी कई वर्षों तक अपनी मातृ भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए हमें पग-पग पर न केवल संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, सौराष्ट्री आदि की छानबीन करते हुए शब्द विज्ञान और भाषा विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध करने के लिए आवश्यकता पड़ा करती थी कि हिन्दी भाषा संस्कृत या प्राकृत की बड़ी कन्या है किन्तु बहुधा बात यहां तक पुहंच जाया करती थी और यह भी सिद्ध करना पड़ता था कि नानक और कबीर; सूर और तुलसी की भाषा का, बादशाह शाहजहां के समय जन्म लेने वाली उर्दू बोली के पहले कोई अलग गद्य रूप भी था। जिस भाषा में पद्य की रचना इतने ऊंचे दर्जे तह पहुंच चुकी हो, उसके सम्बन्ध में इस बात की सफाई देनी पड़े कि उसका उस समय गद्य रूप भी था, इससे बढ़ कर कोई हास्यास्पद बात नहीं हो सकती। मैं केवल एक सर्वमान्य बात को आपके सामने रख रहा है। और यह भी चाहूंगा कि आप में से जो सज्जन मुझसे इस विषय में मतभेद रखते हों वे इसके विपरीत संसार भर में कहीं से भी कोई भी उदाहरण निकाल कर उपस्थित करने की कृपा करें। **मैं जो कुछ कहने** वाला हूं, वह केवल इतना ही है कि राजनीतिक पराधीनता **पराधीन देश की भाषा पर** अत्यन्त विषम प्रहार करती है। विजयी लोगों की **विजय गति विजितों** के जीवन के प्रत्येक विभाग पर अपनी श्रेष्ठता की छाप लगाने **का** सतत् प्रयत्न करती है। स्वाभाविक ढंग से विजितों की भाषा पर इतना सबसे पहला वार होता है। भाषा जातीय जीवन और उसकी संस्कृति की सर्वप्रथम रक्षिका है वह उसके शील का दर्पण है, यह उसके विकास का वैभव है भाषा जीती और सब जीत लिया। फिर कुछ भी जीतने के लिए शेष नहीं रह जाता। विजितों का अस्तित्व मिट चलता है। विजितों के मुंह से निकली हुई विजयी जनों की भाषा उनको दासता की सबसे बड़ी चिन्ह है। पराई भाषा चरित्र की दृढ़ता का अपहरण कर लेती है मौलिकता का विनाश कर देती है और नकल करने का स्वभाव बना करके उत्कृष्ट गुणों और प्रतिभा से नमस्कार करा देती है। इसी लिए जो देश दुर्भाग्य से पराधीन हो जाते हैं, वे उस समय तक जब तक कि वे अपना सब कुछ नहीं खो देते हैं, अपनी भाषा की रक्षा के लिए सदा लोहा लेते रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। अनेक यूरोपीय देशों के इतिहास भाषा-संग्राम की घटनाओं से भरे पड़े है। प्राचीन रोम साम्राज्यों से लेकर अब तक के रूस, जर्मन, इटेलियन, आस्ट्रियन फेंच और ब्रिटिश सभी साम्राज्यों ने अपने अधीन देशों की भाषा पर अपनी विजय वैजयन्ती गहराई। भाषा-विजय का यह काम सहज में ही नही हो गया। भाषा सम-स्थला के एक-एक इंच स्थान के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयां हुई। देश को स्वाधीनता के लिए मर-मिटने वाले अनेक वीर-पुर्गवों के समयों में इस विचार का स्थान सदा ऊंचा रहा है कि देश की भौगोलिक सीमा, की अपेक्षा मातृ-भाषा की सीमा की रक्षा की अधिक आवश्यकता है। वे अनुभव करते हैं कि भाषा बची रहेगी तो देश का अस्तित्व और उसकी आत्मा बची रहेगी अन्यथा फिर कहीं उसका कुछ भी पता न लगेगा। भाषा संबंधी सबसे आधुनिक लड़ाई आयर-लैंड को लड़नी पड़ी थी। पराधीनता में गालिक भाषा का सर्वनाश कर दिया गया था। दुर्दशा यहां तक हुई कि इने-गिनें मनुष्यों को छोड़कर किसी को भी गालिक का ज्ञान न रहा था,- आयरलैंड के समस्त लोग यह समझते थे कि अंग्रेजी ही उनकी मातृभाषा है और जिन्हें गालिक आती भी थी, वे उसे बोलते लजाते थे और कभी किसी व्यक्ति के सामने उसके एक शब्द का भी उच्चारण नहीं करते थे। आत्म विस्मृति के इस युग के पश्चात, जब आयरलैंड की सोती हुई आत्मा जागी, तब उसने अनुभव किया कि उसने स्वाधीनता तो खो दी, किन्तु उसमे भी अधिक बहुमूल्य वस्तु उसने अपनी भाषा भी खो दी। गालिक के पुनरुत्थान की कथा अत्यन्त चत्मकारपूर्ण और उत्साहवर्द्धक है। उसने अपने भाव और भाषा को विसर, देने वाले समस्त देशों को प्रोत्साहन और आत्मोद्धार का संदेश मिलता है। इस शताब्दी के आरम्भ हो जाने के बहुत पीछे, गालिक भाषा पुनरुद्धार का प्रयत्न आरम्भ हुआ। देखते-देखते यह आयरलैंड भर पर छा गई। देश की उन्नति चाहने वाला प्रत्येक व्यक्ति गालिक पढ़ना और पढ़ाना अपना कर्त्तव्य समझने लगा।

सौ वर्ष बुढ़े एक मोची से डी-बेलरा ने युवावस्था में गालिक पढ़ी और इसलिए पढ़ी कि उनका स्पष्ट मत था यदि मेरे सामने एक ओर देश की स्वाधीनता रखी जाय और दूसरी ओर मातृभाषा और मुझसे पूछा जाय कि इन दोनों में से एक कौन सी लोगे तो एक क्षण के विलम्ब बिना में मातृभाषा को ले लूंगा, क्योंकि इसके बल से, मैं देश को स्वाधीनता भी प्राप्त कर लूंगा। राजनीतिक पराधीनता ने भारत वर्ष में भी उसी प्रकार, जिस प्रकार उसने अन्य देशों में किया, भाषा-विकास के मार्ग में रोड़े अटकाने में कोई कमी नहीं की। यद्यपि इस देश के मुसलमान शासक बहुत समय तक विजेता और विदेशी नहीं रहे और उनकी भाषा का विशेष प्रभाव देश के अन्य भागों पर बहुत कम पड़ा है, किन्तु तो भी उनके कारण, भारतीय भाषाओं का सहज स्वाभाविक विकास नहीं हो सका। सबसे अधिक हिन्दी की हानि हुई। उसकी सत्ता देश के उत्तर पश्चिम और मध्यवर्ती भाग में थी। यही प्रदेश शाही सत्ता के कारण, अरबी अक्षर में

और फारसी साहित्य से इतने प्रभावित हुए कि उनका रंग रूप ही बदल गया और आज तक बहुत से स्थानों में सत्य नारायण की कथा तक विधिवत अरबी अक्षरों में पढ़ी जाती है। एक भाषा दूसरी भाषा के संसर्ग में आकर शब्दों और वाक्यों का सदा दान-प्रतिदान किया करती है। यह हानिकारक या अपमानजनक बात नहीं। प्रत्येक भाषा के विकास के लिए इस बात की आवश्यकता है। किन्तु जब यह दान-प्रतिदान प्रभुता और पराधीनता की भावना से होता है एक भाषा को दूसरी भाषा के शब्दों और वाक्यों को इसलिए लेना पड़ता है कि दूसरी भाषा के लोग बलवान है, उनकी प्रभुता है, उनकी प्रसन्न करना है, उनके सामने झुकना है, तो इससे लेने वालों की उन्नति नहीं होती, वे अपनी गांठ का बहुत कुछ खो देते ही है और पर-भाषा की सत्ता स्वीकार करके अपनी परवशता और हीनता को पुष्ट करते हैं और अपने सर्वसाधारण जन से दूर जा पड़ते हैं। इस देश में विजेताओं के साथ फारसी के प्रवेश से ये बातें हुई। इसलिए बाबा गोरखनाथ, गंग कवि आदि के गद्य पर जोर देते हुए हिन्दी के भक्तों को यह सिद्ध कने की आवश्यकता पड़ती रही कि फारसी के आगमन और उर्दू के जन्म से पहले भी हिन्दी गद्य रूप में वर्तमान थी और उसका स्वतंत्र अस्तित्व था। फारसी से जो कुछ हुआ, वह उसका पासंग भी नहीं है, जो अंग्रेजी के आगमन से इस देश में हुआ। हिन्दी भाषा जिसे सम्मेलन के मन से स्वर्गीय पंडित बद्रीनारायण जी नागरी भाषा और स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी आर्य भाषा के नाम से पुकारना उचित समझते हैं, अंग्रेजी के कारण जितने घाटे में रही और अब तक है, उतने घाटे में वह शाही समय में न थी और यदि उसे स्वाभाविक वायुमंडल मिलता तो कभी न रहती।

अंग्रेजी शासन के आरम्भ में फारसी अदालतों भाषा थी। किन्तु अदालतों और उनकी भाषा से सर्वसाधारण का उस समय इतना संबंध नहीं था। अंग्रेजी शासन ने फारसी के स्थान पर उर्दू को अदालती भाषा का स्थान दिया। उस समय उर्दू का कोई विशेष और स्वतंत्र अस्तित्व न था। मुसलमान जिस हिन्दी को बोलते और लिखते थे, और जिसमें वे फारसी के कुछ शब्दों का भी प्रयोग करते थे, वही उर्दू थी। हिन्दी का उससे कोई संघर्ष नहीं था। उर्दू को इस समय पूरक भाषा का स्थान प्राप्त था। अर्थात देश के जो लोग शुद्ध हिन्दी नहीं बोल सकते हैं, वे फारसी के कुछ शब्दों और शक्लों को लेकर हिन्दी भाषा-भाषी थे। अंग्रेजी शासन ने उत्तर भारत में उर्दू को एक ऐसा स्थान देकर जो उसे पहले प्राप्त न था हिन्दी और उर्दू के कार्य के विवाद का सूत्रपात किया और इस प्रकार बहुसंख्यक हिन्दी भाषा-भाषी लोगों की सुविधा और विकास में बाधा उपस्थित कर दी। इसका यह फल हुआ कि उर्दू देश की बोली, समझी और लिखी जाने वाली भाषा से दूर की वस्तु हो गई है। उसने अपने आप को देश के भावी शब्दों और वाक्यों से भरना छोड़ दिया, उसने हर बात में अपना मुख फारसी की तरफ किया, देश की भाषाओं की ओर देखने की अपेक्षा उसने अंग्रेजी भाषा की ओर देखना तक अधिक आवश्यक समझा और हिन्दी भाषा-भाषियों व दो-दो भाषाओं का एक उर्दू के बदले हुए रूप का और दूसरे अंग्रेजी का भारी वोझ व्यर्थ में पड़ गया।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि, उस समय उर्दू में अर्थात् अरबी अक्षरों में लिखी जाने और फारसी शब्दों से मिश्रित हिन्दी में यथेष्ट साहित्य ग्रंथ और साहित्य सेवी वर्तमान थे और सर्वत्र पढ़े-लिखे लोग इस प्रकार की भाषा को शिरोधार्य समझते थे। हिन्दी गद्य के खड़ी बोली में लिखे जाने का सूत्र-पात हो चुका था। लल्लूलाल, मुंशी सदासुख, सदल मिश्र, इंशा आदि की सुन्दर कृतियों का जन्म हो चुका था। अंग्रेजी आगे चलकर पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता पड़ी और श्रीराम-पुर के ईसाई पादरियों को अपने धर्म प्रचार की इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति भी हिन्दी में की गई। किन्तु सरकारी सहायता के कारण उर्दू हिन्दी से एक नितांत अलग भाषा होती गई और साथ ही, अंग्रेजी का दबदबा दिन व दिन बढ़ता ही गया। इसी कारण हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पहले और उसके पश्चात भी कुछ समय तक समय-समय पर हमें यह सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ी थी कि हिन्दी भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व है, उसका अलग स्रोत और अलग विकास है, वह करोड़ों जनों को सोचने, बोलने और लिखने की भाषा है और जो लोग उसकी अवहेलना करते हैं, वे देश में करोड़ों व्यक्तियों और उन की आवश्यकताओं और बात की अवहेलना करते हैं। अनेक मुखों से अनेक अवसरों पर यह बात कही गई। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने जन्म ही से इस मंत्र का उच्चारण किया। हिन्दी के बड़े पढ़े आदमी राजा शिव-प्रसाद, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा लक्षमण सिंह, पं० मदन मोहन मालवीय, डा० सुन्दरलाल, बाबू श्याम सुन्दर दास आदि हिन्दी को स्वतंत्र अस्तित्व के माने जाने के लिए सतत परिश्रम करते रहे। इस प्रांत में, सर एन्टोनी मैकडोनिल ने हिन्दी में भी अदालती कागज लिए जाने की आज्ञा प्रदान की । यह बात यथार्थ में हिन्दी के विशेष पोषण के लिए नहीं थी। देश के कितने ही राजनीतिज्ञ तो इस आज्ञा से हिन्दी का उतना हित नहीं पाते, जितना कि वे उसमें और कुछ देखते हैं। उनकी धारणा तो यह है कि इधर यदि हिन्दी को कुछ बल मिला, उसकी कुछ उन्नति हुई तो उसका कारण यह है कि अनेक कारणों से देश के जीवन के प्रत्येक खंड में अधिक व्यापकता और विशालता का शुभागमन हुआ है, कचहरियों में कुछ कागजों का हिन्दी में लिया जाना, या बेमन से उसके अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाना उसका कारण नहीं। हिन्दी के अस्तित्व के लिए बहुत समय से संघर्ष है। यह संघर्ष उस समय था, जब गद्य रूप में हिन्दी कुछ भी नही थी और उस समय भी था, जबकि उस रूप से वह कुछ थी भी, और इस समय भी है जबकि गद्य और पद्य दोनों रूपों में हिन्दी के अस्तित्व से कोई मुकर नहीं सकता। इस समय भी हिन्दी को पूरा खुला हुआ मार्ग नहीं मिल रहा है। उसके निज के क्षेत्र पर केवल उसी का आधिपत्य नहीं है। अभी तक इस देश के करोड़ों बालक जिनकी मातृभाषा हिन्दी थी, कच्ची उम्र ही साधारण से साधारण विषयों की ज्ञान प्राप्ति के लिए विदेशी भाषा के भार से दाव दिए जाते थे। अब भी उच्च शिक्षा के लिए बालक ही क्या बालिकाएं तक उसी भार के नीचे दबती हैं।

वाल्यकाल से अंग्रेजी की छाया में पढ़ने के लिए विवश होने के कारण हमारे अधिकांश सुशिक्षित जनों के चित्त पर अंग्रेजी इतनी छा जाती है कि वह बहुधा मन में जो कुछ विचार करते हैं, उसे भी अंग्रेजी में ही करते हैं और अपने निकटस्थ जनों से अपनी बात कहते या लिखते हैं तो अंग्रेजी ही में। हिन्दी में लिखे हुए अनेक सुशिक्षित सज्जनों की भाषा शैली से इस बात का पता चल सकता है। उनका शब्द विन्यास, उनके वाक्यों की रचना और उनका व्याकरण सभी अंग्रेजी के ढंग का प्रतिबिम्ब है। हमारे सुशिक्षितों में ही ऐसे लोग मिल सकते है जो पुत्र और पति-पत्नी तक अकारण हिन्दी में पत्र व्यवहार करने की अपेक्षा अंग्रेजी में करना अधिक अच्छा मानते हैं। यदि आप उनका ध्यान मात्र भाषा की ओर आकर्षित करें, तो बहुधा यह उत्तर सुनने को मिले कि हिन्दी में अभी शब्दों और मुहावरों का उतना सुन्दर भंडार नहीं है। हिन्दी की इसी दरिद्रता की दुहाई

देकर उच्च शिक्षा में अंग्रेजी का समावेश भी अनिवार्य सिद्ध किया जाता है, निःसंदेह हिन्दी में अभी उपयुक्त शब्दों और वाक्यों की कमी है। कविवर रामनरेश त्रिपाठी का कहना है कि हम हिन्दी में केवल 300 शब्दों ही के घेरे में घूमते रहते हैं। किसी भी देशी भाषा के शब्दकोष में इतनी दरिद्रता नहीं है। किन्तु इस दरिद्रता का दोष जितना हमारे सुशिक्षितों पर है, उतना दूसरों पर नहीं। वे अपनी आवश्यकता को विदेशी भाषा से पूरी कर लिया करते हैं। वे विदेशी भाषा बोलना सुगम समझते हैं। यदि हिन्दी पर कृपा भी करते हैं तो बहुधा देखने में यह आता है कि उनकी बातों में अंग्रेजी शब्दों की भरमार होती है और कभी कभी तो उनके वाक्यों की हिन्दी का परिचय केवल उनकी हिन्दी क्रियाओं से ही लगता है। यदि हमारे सुशिक्षित इस प्रकार भाषा की अनावश्यक और अपावन वर्ण संकरता न करें, अपने भावों को उसमें व्यक्त करना आवश्यक समझें तो कुछ ही समय में, हमारी भाषा की उपरिकथित दरिद्रता दूर हो जाये और हिन्दी भाषा-भाषियों की शिक्षा और ज्ञान का मापदंड भी ऊंचा हो जाये। स्वर्गीय जस्टिस तैलंग ने मराठी भाषा पर इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा की चढ़ाई देखकर सुशिक्षित महाराष्ट्र सज्जनों की एक ऐसी परिषद की स्थापना की थी, जिसके सदस्य नित्य कुछ समय तक अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का प्रयोग नहीं करते थे और उनका स्थान शुद्ध मराठी प्रयोगों को देते थे।

संक्षेप में जो लोग हिन्दी को मातृभाषा मानते हैं, उनके सामने स्पष्ट ढंग से यह बात सदा रहनी चाहिए कि हिन्दी की जो इधर उन्नति हुई, वह उसकी आगामी बाढ़ के लिए कदापि ऐसी नहीं हैं कि हम समझ लें कि अब गाड़ी चलती जायेगी, वह रुकेगी नहीं, अब हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है? हिन्दी की स्वाभाविक गति के लिए तो अनेक बाधाओं के हटाने की आवश्यकता है, किन्तु उन सबके दूर होने में तो अभी बहुत समय लगेगा इस बीच में कम से कम हम अवहेलना की बाधा को उपस्थित न होने दें और अवेत न हों जायें। साहित्यिक ढंग से यह मातृ भाषा के प्रचार और पुष्टि के लिए जहां और जिस प्रकार जो कुछ भी हो सके उसका करना हम सबके लिए नितांत आवश्यक है।

हिन्दी भाषा भाषियों के उद्योग से हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त नहीं हुआ है। जैसी-जैसी परिस्थिति थी, उसको देखते हुए बाबू हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन हिन्दी विद्वान तो कभी इस बात को व्यावहारिक बात भी नहीं मान सकते थे कि देश के अन्य भाषा भाषी लगभग सभी समुदाय हिंदी को इतना गौरवान्वित स्थान देने के लिए तैयार हो जाएंगे, किन्तु सार्वदेशिक आवश्यकताएं बढ़ती गई और देश भर के लिए काम करने वालों के सामने प्रकट और अप्रकट दोनों प्रकार से यह प्रश्न उपस्थित होता गया कि वह किस प्रकार अपनी बात को देश के दूर से दूर कोने के झोपड़ तक पहुंचायें। भगवान बुद्ध ने धर्म के प्रचार के लिए पाली को अपनाया था, देश के वर्तमान कार्यकर्ताओं ने युग-धर्म के प्रचार और ज्ञान के लिए अनेक गुणों के कारण हिन्दी को अपनाना आवश्यक समझा। नानक और कबीर-सूर और तुलसी राष्ट्रभाषा के लिए पहले ही क्षेत्र तैयार कर गये थे। उनकी वाणी और पद देश के कोने-कोने में उन असंख्यों श्रद्धालू नर-नारियों के कंठों से आज कई शताब्दियों से प्रतिध्वनित हो रहे हैं, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। हिन्दी के फारसी मिश्रित रूप उर्दू ने एक विशेष दिशा में एक बहुत बड़ा काम किया था। देश भर में जहां भी मुसलमान बसते हैं, वहां की भाषा चाहे कोई भी क्यों न हो, वे उर्दू के रूप में हिन्दी समझते हैं और हिन्दी बोलते हैं।

अंग्रेजी शासनकाल में फारसी के स्थान पर आसीन होने पर उर्दू हिन्दी के मार्ग में किसी अंश में कुछ बाधा डालने वाली अवश्य सिद्ध हुई, किन्तु अब वह ऐसी कदापि नहीं है और उसका जन्म हिन्दी के विरोध के लिए नहीं हिन्दी की बृद्धि के लिए हुआ। मेरी धारणा तो यह है कि उर्दू के रूप में मुसलमान भारतीयों ने हिन्दी की और भारत वर्ष की अर्चना की। उर्दू वह वाणी पुष्प है जिसे मुसलमानों ने इस देश के हो जाने के पश्चात भक्ति भाव से माता की अरदास करते हुए उनके चरणों में चढ़ाया।

आज नहीं, जब यह राष्ट्र पूर्ण राष्ट्र हो जाने के योग्य होगा, उस समय, राष्ट्रभाषा के निर्माण में उर्दू और उसके द्वारा देश की जो सेवा मुसलमान भारतीयों से वन पड़ी, उसका वर्णन इतिहास में स्वर्णांकित अक्षरों में होगा।

स्वामी दयानन्द आर्यसमाज और गुरुकुलों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में बड़ा काम किया है। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों से राष्ट्र भाषा और राष्ट्र लिपि की आवश्यकता अनुभव होने लगी। कृष्ण स्वामी अय्यर, जस्टिस शारदाचरण मिश्र, महाराज संमाजीराव गायकवाड़, जस्टिस आशुतोष मुकर्जी आदि ने अब से बहुत पहले इस दिशा में बहुत उद्योग किया था। अन्य भाषा भाषियों ने देश भक्ति और राष्ट्र निर्माण के विचार से हिन्दी को अपनाना आरम्भ किया। मराठी और गुजराती की साहित्य परिषदों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया। महात्मा गांधी के इस प्रश्न को अपने हाथ में ले लेने के पश्चात तो राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार विधिवत अन्य प्रांतों में होने लगा और दक्षिण में जहां सबसे अधिक कठिनाई थी, बहुत संतोषजनक काम हुआ। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है, और अब देश के विविध भागों से आए हुए उसके प्रतिनिधि उसका अधिकांश काम हिन्दी में करते हैं। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का स्थान निर्विवादरूपेण सुरक्षित है। उर्दू वालों को पहले चाहे जो आपत्ति रही हो, किन्तु अब वे भी इसे मानने लगे हैं कि उर्दू हिंदी ही का फ़ारसी मिश्रित रूप है और डा० अंसारी और प्रो० जफर अली ऐसे मुसलमान नेता तक हिन्दी को राष्ट्रभाषा के नाम से पुकारना आवश्यक और योग्य की बात समझते है। इस द्रुतगति से बहुत ही थोड़े समय में हिन्दी का इस स्थान को प्राप्त कर लेना देश में नए जीवन के उदय का विशेष चिन्ह है।

राष्ट्रभाषा का काम अभी तक केवल भारत में ही हुआ है। बृहत्तर भारत अभी तक उससे कोरा है। लाखों, भारतवासी, विदेशों में पड़े हुए हैं। वे अपनी वेशभूषा और भाषा भूलते जाते है। अभी तक वे इन देश के है और देश के नाम पर विदेशों में टूटे-फूटे रूप में हिन्दी को अपनाते हैं किन्तु धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति का अधिकार उन पर से कम होता जाता है और सम्भव है कि कुछ समय पश्चात वे नाम मात्र ही के लिए भारतीय रह जायेंगे। उनको अपना बनाये रखने और हिन्दी का सन्देश संसार में अनेक स्थलों पर पहुंचाने का यही सबसे सुगम उपाय है कि उन तक राष्ट्र भाषा हिन्दी का संदेश पुहंचाया जाए।

प्रचार और उन्नति के कुछ उपाय

हिन्दी के प्रचार और उन्नति के लिए पहले के सहज और स्वाभाविक ढंग की अपेक्षा अब अधिक क्रमबद्ध शैली को ग्रहण करने की आवश्यकता है। एक भाषा और राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी इस समय जिस स्थान पर पहुंच चुकी है, वहां से उनका सतत आगे बढ़ सकना उसी समय संभव है, जब उसके प्रचार और उन्नति के लिये नये अधिक व्यापक साधनों से काम लिया जाये।

(अ) हिन्दी के प्रचार का सबसे बड़ा साधन है, हिन्दी प्रान्तों में लोक शिक्षा को आवश्यक और अनिवार्य बना देना कोई घर ऐसा न रहे जिसके नर-नारी बच्चे और बूढ़े तक तुलसी कृत रामायण और साधारण पुस्तकें और समाचार पत्र न पढ़ सकें। यह काम उतना कठिन कदापि नहीं है जितना की समझा जाता है। यदि टर्की में कमाल पाशा बूढ़ों और बच्चों तक को थोड़े से समय के भीतर साक्षर कर सकते है और यदि सोवियत दस वर्ष के भीतर रूस में अविद्या का दिवाला निकाल सकता है तो इस देश में भी सब प्रकार की शक्तियां जुटकर बहुत थोड़े समय में अविद्या के अंधकार का नाश कर प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ने और लिखने के योग्य बना सकती है। देश के अन्तरतर में रहने वाले लोग तक शिक्षा के महत्व को सहज में समझने लगे हैं और इस समय जो लोक-सेवक ग्राम संगठन के आवश्यक कार्यों में अपना समय और शक्ति लगाये हुए उनका अनुभव है कि बहुत थोड़े से प्रयास से देहात के लोगों में साक्षर होने की अभिलाषा उत्पन्न की जा सकती है। हम जितनी साक्षरता बनायेंगे उतना ही भाषा और साहित्य का कल्याण होगा। जब करोड़ों निरक्षर, साक्षर बन जायेंगे, तब उनकी बौद्धिक आवश्यकताओं की प्रेरणा से हिन्दी भाषा और साहित्य के सौष्ठव में स्वयं बहुत वृद्धि हो जाएगी। किसी समय, शरीर और स्वास्थ्य की त्रुटियों के दूर करने के लिए जर्मनी में यह आन्दोलन उठाया गया था कि जर्मन लोग भोजन में शक्कर अवश्य खाएं। आलू और केले के अपने व्यापार की वृद्धि को क्षति न पहुंचने देने या उसे अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इँगलैंड में 'खूब आलू खाओं' खूब केले खाओं' का आंदोलन चल चुका है। निरक्षरता को दूर करने के लिए रूस में बड़े-बड़े चित्रों द्वारा झोंपड़े तक में यह विचार पहुंचाकर कि निरक्षर व्यक्ति आंख पर पट्टी बांधे हुए उन मनुष्य के समान है, जो चट्टान की कगार पर खड़ा हुआ पग बढ़ाते ही नीचे खड्डे में गिरने के लिए तैयार है, साक्षरता का आलोक देश के कोने कोने में पहुंचाने गया। इस देश में भी हिन्दी और देश के लिए इसी प्रकार का सुसंगत और व्यापक आंदोलन उठाया जाना चाहिए। लोक शिक्षा के काम में हिन्दी के समाचार पत्रों से बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। यदि वे इस आन्दोलन को आंदोलन के ढंग से उठा लें और अपने, कलेवर में साधारण आदमियों के नित्य के जीवन और नित्य की आवश्यकताओं का अधिक-सजीव चित्रण करें तो वे निःसंदेह अधिक लोकप्रिय होते और अपना प्रचार बढ़ाते हुए देश के करोड़ों आदमियों की सुषुप्त बुद्धि के जागरण और हिन्दी के कहीं अधिक प्रचार का श्रेय प्राप्त करेंगे।

(आ) जिन स्थानों में हिन्दी को स्थान मिल चुका है या यहां उसका स्थान मिलना और न मिलना, दोनों एक समान हैं, वहां उसका प्रचार बढ़ाने और उचित स्थान की प्राप्ति के लिए पूरा यत्न करना आवश्यक है। सरकारी और अर्ध-सरकारी कामों और स्कूलों में अब भी, हिन्दी को उचित स्थान प्राप्त नहीं है। मातृ भाषा को पाठयक्रम में क्या स्थान मिलना चाहिए, इस दृष्टि से स्कूल की पुस्तकों में बहुत सी त्रुटियां हैं। इसी देश में यह बात देखी जा सकती है कि छोटे-छोटे बच्चों के मस्तिष्क पर अनावश्यक रूप से पराई भाषा का बोझ पड़ता है। यहीं यह देखा जा सकता है कि उच्च शिक्षा कहीं भी, यहां तक कि हिन्दू विश्वविद्यालय तक में, मातृभाषा द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती यह संभव है कि लड़कियों तक में उच्च शिक्षा के लिए एक विदेशी भाषा आवश्यक पढ़ना पड़े। और, इस पर भी यह अनोखी बात यही देखी जा सकती है कि मातृभाषा में भी गणित, रेखा-गणित, भूगोल आदि की जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनके अंक और उनके पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी में होते है। अपने अस्वाभाविक वातावरण के कारण हम इस प्रकार की बहुत-सी अधोगति को दूर नहीं कर सकते, किन्तु तो भी बहुत कुछ कर सकते हैं और उसके करने से हमें कदापि नहीं चूकना चाहिए। रेल के बहुत से कार्यों में हम हिन्दी को अच्छा स्थान दिला सकते हैं और कम से कम इतना तो करा ही सकते हैं कि स्टेशनों पर लगे हुए नामों के पट्ट और सक्षण-सूचक पत्रों में हिन्दी की हत्या तो न होने पाये। पंजाब और सिध में हमारी धार्मिक संस्थायें बहुत सहज में हिन्दी के प्रयोग को स्वीकार कर सकती हैं। देश के अन्य प्रान्तों में हिन्दी का जो काम हो रहा है वह तो बढ़ेगा ही **हमें परदेशों में अपने भाइयों के पास भी अधिक बल के साथ हिन्दी का संदेश भेजना चाहिए।** वहां अपने आदमियों में हिन्दी ही का एक छत्र राज्य था, किन्तु अब दशा बदलती जाती है और ऐसा भाषित होता है, कि मातृ-भाषा के विस्मरण के साथ ही वे देश और उसकी संस्कृति का भी विस्मरण कर बैठेंगे। अमरीका, अफ्रीका, फीजी, गुयाना, बर्मा आदि में अपने भाइयों तक हिन्दी का संदेश पहुंचाना भारतवर्ष की संस्कृति की रक्षा करना है। युवकों को इस काम के लिए आगे बढ़ना चाहिए। वे किसी प्रकार भी घाटे में न रहेंगे। इस प्रकार हिन्दी और देश की सेवा कर सकेंगे और संसार भ्रमण करके अपने मानसिक क्षितिज को भी अधिक विस्तृत कर सकेंगे।

(इ) हिन्दी में अच्छे और आवश्यक ग्रंथों के लिखने और प्रकाशित करने के लिए भी संगठित प्रयत्न होना चाहिए। हिन्दी विद्वानों की सुसंगठित मंडली द्वारा सदा भाषा और साहित्य के क्षेत्र की त्रुटियों पर विचार करें। यह सम्भव नहीं है कि कोई भी मण्डली सब प्रकार की पुस्तकों को लिख या प्रकाशित कर सके। इसलिए इस प्रकार की मण्डली लेखकों और प्रकाशकों में संबंध स्थापित करें। जिन विषयों पर लिखे जो की आवश्यकता हो, उन पर लिखने के लिए लेखकों और प्रकाशित करने के लिए प्रकारण को उत्साहित करें। ऐसे लेखक भी इस समय हैं जो किसी आवश्य विषय पर ग्रंथ लिख बैठे हैं, किन्तु यद्यपि उनका ग्रंथ है तो अच्छा और खोजपूर्ण, किन्तु वह चलेगा नही। इसलिए कोई प्रशासक उसके प्रकाशन का साहस नहीं करता। इस प्रकार की मण्डली किसी भी ऐसे ग्रंथ को प्रकाशकों में कमी के कारण व्यर्थ न पड़ा रहने दे। उसके उद्योग की या तो उस ग्रंथ का कोई प्रकाशक खड़ा हो जाये या फिर सम्मेलन ऐसी कोई संस्था अपनी ओर से उसका प्रकाशन करे।

सत्साहित्य की वृद्धि के लिए साहित्य मण्डली प्रकाशित होने वाले ग्रंथों के विषय की अलोचना प्रत्यालोचना भी करे। अनुवाद का काम बेसिर-पैर का हो रहा है। अनावश्यक और व्यर्थ के अनुवाद अपने आप समाप्त हो जायेंगे, किन्तु यदि सविज्ञ जन समय-समय पर उन पर अपना मत प्रकट किया करें तो बहुत सा श्रम और शक्ति की बचत हो जाये। किसी समय बंगला में अनुवाद की झड़ी लगी थी, अब अंग्रेजी से हम बहुत कुछ लेते हैं। व्यर्थ की वस्तु कहीं से भी लेने की आवश्यकता नही, अच्छी को कहीं से छोड़ना भी नहीं चाहिए। विदेशी भाषाओं में केवल अंग्रेजी को अपना आधार मान बैठने के कारण हमने अपनी दृष्टि को संकुलित बना लिया है और हम संसार भर की वस्तुओं को केवल अंग्रेजी चश्में से देखने लगें हैं। अंग्रेजी में जो कुछ नही है उसे हम नहीं जान पाते। उसमें जो कुछ तोड़ा मरोड़ा हुआ है उसे हम उसी प्रकार से विकृत

रूप में देखते हैं। अंग्रेजी और बंगला के शब्दों और वाक्यों की हिन्दी पर बहुत छाया पड़ी है। मैं अन्य भाषाओं से कुछ भी लेने शब्दों और वाक्यों के लेने तक के विरुद्ध नहीं हूं किन्तु अपनी भाषा के व्यक्तित्व की रक्षा का विचार रखते हुए मैं कुछ लेना चाहता हूं उसें खोकर नहीं। हमारे अनुवादकों को विदेशी भाषाओं में फ्रेंच और जर्मन भाषा के भण्डार तक पहुंचने का यत्न करना चाहिए। घर में हमें संस्कृत, पालि और उर्दू की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए। संस्कृत और पालि के अनेक ग्रन्थ और उनका पौराणिक बौद्ध और जैन साहित्य हिन्दी के रूप में आकर हमारे बौद्धिक जीवन के लिए बहुत श्रेयस्कर हो सकता है। आयुर्वेद के समस्त ग्रन्थों के हिन्दी में होने और लोक कल्याण के लिए उनकी शिक्षा बहुत व्यापक रूप से हिन्दी में होने की आवश्यकता है विज्ञान, पुरातन, इतिहास, राजनीतिक और अर्थशास्त्र और विधि धर्मों के ऐतिहासिक उत्थान और पतन पर मौलिक और अनुवादित बहुत सी पुस्तकें हिन्दी में होनी चाहिए। अभी पिछले मास ही, महिला विद्यापीठ के उपाधि वितरण उत्सव पर अध्यक्षीय महोदय ने कहा था कि हिन्दी में सभी साहित्य की बहुत कमी है और उनकी वृद्धि के लिए यत्न होना चाहिए। स्त्रियों ने हिन्दी की बहुत रक्षा की। उन दिनों में जब उत्तरी भारत में हिन्दी का ज्ञान होना लज्जाजनक तक समझा जाता था, लाला हरदयाल के कथनानुसार, उन कठिन दिनों में भी हिन्दी यदि बची रही तो केवल स्त्रियों के कारण और माताओं और बहिनों और पत्नियों को पत्र लिखने के लिए पुरुषों को विवश होकर नागरी अक्षरों का परिचय प्राप्त करना पड़ा था। अब इस युग में तो, उनके लिए जो साहित्य आवश्यक है उसकी कमी नहीं रहनी चाहिए। साइमन कमीशन के साथ देश भर की शिक्षा की दशा जांच करने के लिए, हटांग कमेटी बैठी थी। उसकी रिपोर्ट हाल ही में प्रकाशित हुई है। वह कमेटी कहती है कि देशी भाषाओं में बाल साहित्य की बहुत कमी है और यह भी एक कारण है जिससे लोक शिक्षा को प्रोत्साहन नहीं मिलता। हिन्दी के साहित्य सेवियों का इधर भी ध्यान जाना चाहिये। इधर हिन्दी में स्त्री साहित्य और बाल साहित्य के रूप में कुछ पुस्तकें निकाली भी हैं किन्तु अभी बहुत सुरुचि और सुचयन के साथ बहुत निकलने की आवश्यकता है। उर्दू की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। उससे अब हिन्दी को बहुत लाभ पहुंच सकता है। उसके वजीर, हाली, दाग गालिब, आजाद और अकबर सहज में हमारे हो सकते हैं। और उनकी कृतियों से हम लाभ उठा और गर्व कर सकते हैं। हिन्दी और उर्दू शब्द और वाक्य रचना में कोई अन्तर नहीं है हाली और रत्न-ना 'शरशार' ऐसे उर्दू साहित्य सेवियों के ग्रन्थों के मुहावरे बहुत लाभ के साथ हिन्दी में ग्रहण किये जा सकते हैं। हिन्दी भारतीय राष्ट्र की समस्त निधि की रक्षा होनी चाहिए। इसलिए प्राचीन विशाल भारत पर भी उसमें साहित्य होना चाहिए। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'बृहत्तर भारत, संस्था के कारण, हमें प्राचीन विशाल, भारत के दर्शन होते जा रहे हैं। वह अत्यन्त दिव्य है । वह अत्यन्त गौरवान्दित करने वाला है।

श्रीमान कपूरथला नरेश हाल ही में, श्याम देश के त्यागकार नामक स्थान के खंडहरों में प्राचीन विशाल भारत के गौरव-स्वरूप कुछ सुन्दर मदिरों और उनमें खचें हुए शताब्दियों पुराने रामायण और महाभारत संबंधी चित्रों और मूर्तियों को लगभग 2-3 मील के घेरे में अब तक बने हुए देखकर आश्चर्य चकित हो गये थे। उनके ये शब्द है—"प्राचीन रोम और ग्रीस के सबसे अधिक सुन्दर वैभवशाली स्मारकों से भी बढ़कर यह सुन्दर और शोभाशाली है और संसार भर में इससे बड़ी अदभूत कोई वस्तु मैंने आज तक नहीं देखी।" कपूरथला नरेश संसार भर में कई बार भ्रमण कर चुके हैं। उनकी यह राय है—"जावा, सुमात्रा, वाली श्याम तिब्बत, नेपाल, अफगानिस्तान आदि में पता नहीं हमारी संस्कृति का कितना वैभव छिपा पड़ा है। जो कुछ पता लगता जाये उसका हिन्दी द्वारा परिचय हमारी भाषा को जितना ऊंचा करेगा, कम से कम उतना ही ऊंचा वह हमारे मन को भी करेगा।

नागरी लिपि पर जो आक्रमण हो रहे हैं उनमें भी इसकी रक्षा के लिए यत्न होना चाहिए, पहले तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना जाना ही कठिन था किन्तु अब जब यह कठिनाई नहीं रही तब रोमन अक्षरों की श्रेष्ठता और सुविधा प्रकट करके देश के काम में उनके व्यवहृत किये जाने की बात उठायी जा रही है। यह चर्चा पहले तो विदेशी लोगों द्वारा चली, किन्तु अब तो अपने आदमी भी तुर्की के कमल पाशा के अनुकरण के बहुत अभिलाषी हैं। अभी हाल ही में पंजाब के कमिश्नर मि० लतीफ ने रोमन लिपि को भारत वर्ष की राष्ट्र-लिपि बना दिये जाने के लिए समाचार पत्रों में लेख लिखे और कुछ समय पहले, सर्वदलीय सम्मेलन की लखनऊ में एक बैठक में जबकि देश की लिपि पर विचार हुआ, तब देश में कुछ मुख्य कार्यकर्ता बड़े आग्रह के साथ इस बात के लिए तैयार थे कि रोमन लिपि राष्ट्र लिपि मान ली जाए। नागरी लिपि सर्वथा दोष-शून्य नहीं है। और हिन्दी के टाइप में तो सुविधा और शुद्धता की दृष्टि से बहुत से सुधार वांछनीय हैं, परन्तु केवल इन त्रुटियों के कारण देश और राष्ट्र पर गौरव करने वाले किसी व्यक्ति के मन की रोमन लिपि ऐसे दोषपूर्ण और परदेशी वस्तु पर लोट-पोट नहीं हो जना चाहिए। रोमन लिपि का सबसे बड़ा आकर्षण यह कहा जाता है कि उसके द्वारा हम संसार के ओर भी संकट हो जायेंगे और उसकी बहुत सी मान्य सुविधाओं से लाभ उठाने वाले बन जायेंगे। किन्तु स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटा देने वाले इस मोंह के कारण हम अपनी इस आशा की और विश्वासों को छोड़ दें कि 32 करोड़ आदमियों की लिपि से संसार एक दिन परिचय प्राप्त करने और उसे विशेष स्थान देने के लिए लालायित होगा।

और भी बहुत सी दिशाओं में हमें अपनी शक्ति लगानी पड़ेगी। हमारी संस्थाओं में और उनके कार्य के ढंग में जो त्रुटियां हो, उनको भी दूर करना आवश्यक है। इस महायज्ञ में सबकी और सब प्रकार की शक्तियों का संयोजित होना आवश्यक है। कुछ कर सकने योग्य कोई भी भारतीय ऐसा न बचे, जो अपनी शक्ति भर भारतवर्ष की 'राष्ट्रभाषा' की भीतरी और बाहरी बुद्धि के काम में हाथ बटाने के लिए आगे न बढ़े। मनुष्य के भाग्य का नक्षत्र उसे अपने जीवन के लक्ष्य की ओर प्ररित किया करता है। मनुष्य के समूह, जातियों और राष्ट्रों के रूप धारण करके दैवी बल की प्रेरणा से अपने हिस्से के विश्व-चित्र की पूर्ति करते हैं। भाषा और उसके साहित्य के जन्म और विकास की रेखाएं भी किसी विशेष ध्येय से शुन्य नहीं हुआ करती। हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का भविष्य भी बहुत बढ़ा है। उसके गर्भ में निहित भवितव्यताएं इस देश और उसकी भाषा द्वारा संसार भर के रंगमंच पर एक विशेष अभिनय कराने वाली है। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि संसार की कोई भी भाषा मनुष्य, जाति को इतना ऊंचा उठाने, मनुष्य का यथार्थ में मनुष्य बनाने और संसार की सुसभ्य और सद्भावनाओं से युक्त बनाने में उतनी सफल नहीं हुई जितनी कि आगे चलकर हिन्दी भाषा होने वाली है। हिन्दी को अपने पूर्व सचित पुण्य का बल है। संसार के बहुत बड़े विशाल खण्ड में सर्वधा अंधकार था, लोग अज्ञान और अधर्म में डूबे हुए थे, विश्व-बंधुत्व और

शेष पृष्ठ 32 पर

राष्ट्रभाषा का प्रश्न

—पं० जवाहर लाल नेहरू

मैं यह लेख प्रधानमंत्री की हैसियत से नही, बल्कि एक लेखक और एक ऐसे शख्स के तौर पर लिख रहा हूं, जिसे भाषा के सवाल में गहरी दिलचस्पी है। इस प्रश्न में मेरी दिलचस्पी उसके राजनैतिक और बदकिस्मती से साम्प्रदायिक पहलुओं में है।

मैं किसी भाषा का पण्डित तो नहीं हूं, फिर भी मुझे भाषा के सौन्दर्य से, उसके शब्दों से संगति से और शब्दों में भरे हुए जादू और ताकत से प्रेम रहा है। मेरा विश्वास है कि लगभग दूसरी हर चीज के बनिस्बत भाषा किसी राष्ट्र के चरित्र की ज्यादा बड़ी कसौटी है। अगर भाषा शक्तिशाली और जोर-दार होती है तो उसको इस्तेमाल करने वाले लोग भी वैसे ही होते हैं, अगर वह छिछली, लच्छेदार और पेचीदा है तो उसे बोलने वाली प्रजा में भी वही लक्षण देखने को मिलेंगी।

बेशक, ज्यादा सच्चे ढंग से यह कहना चाहिए कि परजा के लक्षण उसकी भाषा में देखने को मिलते हैं, क्योंकि भाषा को बनाने वाले लोग ही होते हैं। लेकिन इस बात में भी कुछ सच्चाई है कि भाषा लोगों को बनाती है। जो भाषा ठीक-ठाक या यथार्थ होती है, वह लोगों को ठीक-ठीक विचार करने वाले बनाती है। शब्दों या वाक्यों के अर्थ में यथार्थता और निश्चितता न होने से विचारों की गड़बड़ पैदा होती है और उसके परिणामस्वरूप काम भी वैसा ही होता है।

किसी भाषा को ऐसी तंग कोठरी में बंद कर दिया जाए जिसमें कोई दरवाजे और खिड़कियां न हों, और प्रगतिशील-परिवर्तन आने की गुंजाइश न रहे तो उसमें निश्चितता और छटा भले ही हो सकती है। परन्तु बदलते हुए वातावरण और जनसाधारण के साथ उसका सम्पर्क टूट जाने की संभावना रहती है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि उसमें ओज नहीं रहता और एक तरह का बनावटीपन आ जाता है। यह किसी भी समय अच्छी बात न होगी , परन्तु मौजूदा प्राणवान और तेजी से बदलने वाले युग में, जिसमें हमारे आसपास की लगभग सभी चीजें बदल रही हैं, तो बंद कमरे में भाषा मर ही जायेगी।

पहले के जमानों की ललित भाषाओं में कई अच्छी बातें थीं, परन्तु वे ऐसे लोकतंत्री युग के बिलकुल अनुकूल नही है, इसमें हमारा उद्देश्य आम जनता को शिक्षित बनाना है। इसलिए भाषा को दो काम पूरे करने ही चाहिए: उसका आधार उसकी प्राचीन धातुएं हों और साथ ही वह आम जनता की, न कि कुछ चुने हुए साहित्यकारों की, बढ़ती हुई जरूरतों के साथ बदलती और बढ़ती हो और असल में उसकी की भाषा हो। विज्ञान, शिल्प विज्ञान (टैक्नालाजी) और विश्व-व्यापी समागम के इस युग में यह और भी जरूरी है। जहां तक संभव हो, उस भाषा के विज्ञान और शिल्प-विज्ञान संबंधी शब्द दूसरी भाषाओं के जैसे ही होने चाहिए। इसलिए उसे एक संग्राहक भाषा होना चाहिए, जो अपने साधारण ढांचे मेल खाने वाले हर बाहरी शब्द को अपनाती है। कभी-कभी वह शब्द उस भाषा की प्रतिभा के अनुकूल बनाने के लिए कुछ बदला भी जा सकता है।

संस्कृत, लैटिन वगैरह उच्च कोटि की यह पंडिताऊ भाषाओं का मानव समाज के विकास में बहुत बड़ा हाथ रहा है। साथ ही उन्होंने लोक भाषाओं के विकास को कुछ रोका भी है। जब तक विद्वान लोग उच्च कोटि की भाषाओं में सोचते और लिखते रहे, तब तक लोक भाषा का सच्चा विकास नहीं हुआ। यूरोप में लैटिन 16वीं सदी के आसपास तक यूरोप की भाषाओं के विकास में बाधक रही। भारत में संस्कृत का इतना जबरदस्त प्रभाव था कि प्राकृत और बाद में जो प्रान्तीय भाषाएं बनीं, वे कुछ कुण्ठित हो गई। बाद में हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े भागों में फारसी भी आलिमों की भाषा बन गई और वह भारत के कुछ भागों में लोक भाषाओं के विकास में बाधक बनी हुई।

हिन्दुस्तान में हम अपनी प्रान्तीय भाषाओं का विकास करने के लिए बंधे हुए हैं और यह ठीक ही है कि हमारी महान प्रांतीय भाषाओं का विकास हो। साथ ही हमें एक अखिल भारतीय भाषा भी चाहिएं । यह भाषा अंग्रेजी या कोई विदेशी जबान नहीं हो सकती, हालांकि मैं मानता हूं कि उसकी जगत-व्यापी स्थिति और हिन्दुस्तान में उसके वर्तमान व्यापक ज्ञान के कारण अंग्रेजी का हमारी भावी प्रवृत्तियों में महत्वपूर्ण हाथ रहेगी। अखिल भारतीय भाषा कोई हो सकती है तो वह सिर्फ हिन्दी या हिन्दुस्तानी कुछ भी कह लीजिए—ही हो सकती है।

ये कुछ बुनियादी बातें हैं, जिन्हें इस अत्यन्त महत्व के सवाल पर विचार करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि इसका राजनैतिक दृष्टि से, या क्षाणिक आवेग, या पूर्वाग्रहों के आधार पर जल्दी में किया हुआ फैसला हानिकारक साबित हो सकता है। हमें भविष्य की इमारत खड़ी करनी है और गलत बुनियाद न सिर्फ भाषा के क्षेत्र में बल्कि संस्कृति और मानव-प्रगति के व्यापक क्षेत्र में भी हमारे विकास को कुण्ठित कर सकती है। इस लिए इस वक्त धीरे-धीरे चलना और हर तरह की कट्टरता से बचना कहीं ज्यादा अच्छा है। भाषा एक बहुत नाजुक साधन है, जिसके ऊंचे पहलुओं का विकास सूक्ष्म बुद्धिवाले लोग करते हैं, लेकिन उसे बल मिलता है आम जनता के इस्तेमाल से वह फूल की तरह बढ़ती है। इसलिए बहुत ज्यादा बाहरी दबाव उसकी प्रगति को रोक देता है या तोड़-मरोड़ कर उसे गलत दिशा में ले जाता है।

यह कोई बड़े महत्व की बात नहीं कि हम इस भाषा को हिन्दी कहें या हिन्दुस्तानी, क्योंकि हकीकत यह है कि हर शब्द के पीछे एक इतिहास होता है और वह किसी-न-किसी निश्चत चीज का द्योतक होता है, जिससे उसका अर्थ सीमित हो जाता है। जिस बात के बारे में हमारे दिमाग साफ रहने चाहिए, वह है भाषा का भीतरी सार और यह कि वह भाषा संसार को किस दृष्टि से देखती है-यानी वह सीमित करने वाली, आत्म-निर्भय, अलग-अलग रहने वाली और संकीर्ण है या उससे उल्टी है? मेरे ख्याल से हमारा लक्ष्य जानबूझ कर ऐसी जबान होनी चाहिए, जो उनसे विपरीत गुणों वाली हो ओर जिसमें विकास की बड़ी शक्ति हो। शायद आज और

किसी भाषा से अंग्रेजी में यह संग्राहकर्ता, लचीलापन और विकास का गुण ज्यादा है। इसीलिए भाषा की हैसियत से उसका इतना बड़ा महत्व है। मैं चाहता हूं कि हमारी भाषा भी संसार के सामने इसी रूप में आए।

जिस ढंग से भाषा के सवाल पर आजकल हिन्दुस्तान में वाद-विवाद होता है, उस पर मुझे बहुत दुःख है। इन दलीलों के पीछे पाण्डित्य बहुत थोड़ा है और संस्कृति की समझ तो और भी कम है। उनमें भविष्य की कोई दृष्टि या कल्पना नहीं है। भाषा को एक प्रकार सी विस्तृत पत्रकारी ही अधिक माना जाता है और राष्ट्रवाद का विपर्यास यह मांग करता है कि जहां तक हो सके, उसे संकीर्ण और सीमित बनाया जाये। उसके विस्तार की किसी भी कोशिश को इस फिक्स के राष्ट्रवाद के खिलाफ गुनाह करार देकर उसकी निन्दा की जाती है। अक्सर भाषा का सौन्दर्य इसमें मान लिया जाता है कि वह अत्यन्त आलंकारिक हो और उसमें लम्बे और पेचीदा शब्द प्रयोग हो। उस भाषा में शक्ति या गौरव बहुत कम दिखाई देता है और छाप यही पड़ती है कि उसमें ऊपरीपन और छिछलापन बहुत ज्यादा है।

जैसे काव्य कोरा तुकबन्दियों और अनुप्रासों का समूह नहीं होता, वैसे ही भाषा भी खाली पेचीदा और कठिन शब्दोंका प्रदर्शन नही है। अंग्रेजी के सुपरिचित और साधारण शब्दों का अनुवाद करने की हाल में जो कोशिशें हुई है वे निहायत ऊटपटांग हैं। भाषा को गढ़ने में अगर यही वृत्ति रही तो निश्चय ही विचारों को प्रकट करने के एक सुन्दर साधन की हत्या हुए बिना न रहेगी।

अगर मुझे से पूछा जाय कि भारत के पास सबसे बड़ा खजाना कौन सा हैं और उसकी सबसे बढ़िया विरासत क्या है तो मैं निःसंकोच उत्तर दूंगा कि वह संस्कृत भाषा, साहित्य और उसका भंडार है। यह एक शानदार विरासत है जब तक वह कायम रहेगी और हमारी जनता के जीवन को प्रभावित करती रहेगी, जब तक भारत की मूल प्रतिभा बनी रहेगी। यह एक भूतकालीन निधि होने के अलावा एक सजीव परम्परा भी है, यो ऐसी प्राचीन भाषा के लिए इतनी मात्रा में होना आश्चर्य की बात है। मैं संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन देना चाहूंगा और चाहूंगा कि हमारे पंडित इस भाषा के दबे हुए साहित्य की, जिसे लगभग भुला दिया गया है, खोज करें और उसे प्रकाश में लाएं। यह आश्चर्य की बात है कि जहां हम राष्ट्रवाद की पराकाष्ठा पर पहुंचकर भाषा को इतनी ज्यादा बातें करते हैं, वहां उसकी भक्ति खाली जबानी है, या राजनैतिक उद्देश्यों के खातिर हम उसका दुरुपयोग करते हैं। जिस तरह एक भाषा की सेवा की जानी चाहिए, उस तरह उसकी सेवा बहुत कम की जाती है।

संस्कृत में देखिए या आधुनिक भारतीय भाषाओं में देखिए रचनात्मक कार्य बहुत ही कम होता है। हम अक्सर "न खाएं न खाने दें" की नीति बरतते हैं। खुद कुछ नहीं करते और साथ ही दूसरा कोई भाषा के विकास की कोशिश करे तो उसे पसन्द भी नहीं करते। अन्त में तो किसी भाषा का विकास उसकी अपनी योग्यता से होगा, न कि कानूनों और प्रस्तावों से। इसलिए किसी भाषा की सच्ची सेवा उसका मूल्य, उसकी व्यावहारिकता और उसके भीतरी गुण बढ़ाना है।

संस्कृत कितनी ही महान् हो और हम उसके अध्ययन को कितना ही प्रोत्साहन देना चाहें, जैसा हमें देना चाहिए, तो भी वह जीवित भाषा नहीं हो सकती। लेकिन जैसे वह अब तक रही है, उसी तरह आगे भी हमारी अधिकांएश भाषाओं का आधार और भीतरी सार रहनी चाहिए। यह अनिवार्य है, लेकिन उसे जबर्दस्ती जनता पर लादना न तो अनिवार्य है और न वांछनीय और इसका नतीजा बुरा हो सकता है।

पिछली कुछ सदियों में हमारी कई प्रान्तीय भाषाओं और खास तौर पर हिन्दुस्तानी के विकास में फारसी का महत्वपूर्ण भाग रहा है और उसने किसी हद तक हमारे
विचार करने के तरीकों पर भी असर डाला है। यह हमारी एक कमाई है और इससे उतनी मात्रा में हमारी पूंजी बढ़ी है। हमें यह याद रखना चाहिए कि कोई भाषा संस्कृत के इतनी नजदीक नहीं है, जितनी फारसी है और वैदिक संस्कृत व प्राचीन पहलवी जितनी एक दूसरी के नजदीक है, उतनी ही वैदिक संस्कृत और उच्च कोटि की साहित्यिक संस्कृत भी नहीं है।

इसलिए दोनों का एक-दूसरी के क्षेत्र में कुछ हद तक प्रवेश करना आसान है और इससे हमारी भाषा या जाति की प्रतिभा को कोई आघात नहीं पहुंच सकता।

कुछ भी हो, इतिहास की कुछ सदियों ने और उस बीच की जनता की जिन्दगी ने आज हम जैसे हैं, वैसा हमें बना दिया है और मुझे यह बेहूदा और निश्चित रूप से बेवकूफी भरी बात मालूम होती है कि इतिहास के इस किये-कराये पर पानी फेरने की कोशिश की जाए। संस्कृति के ख्याल से इस किये-कराये को मिटाने और पीछे जाने के ऐसे प्रयत्न का अर्थ होगा अपने हाथ आई हुई सांस्कृतिक सम्पत्ति से अपने को वंचित करना। इसका मतलब अपने आप को कंगाल बनाना होगा। हमारा लक्ष्य तो अपनी दौलत बढ़ाने और उस सांस्कृतिक पूंजी को बढ़ाने वाली हर चीज को अंगीकार करने का होना चाहिए। इसलिए जिसे हमने पहले ही हज़म कर लिया है, उसे बाहर निकालने को कोशिश करना हर तरह गलत है।

अगर ये बातें ध्यान में रखीं जाएं तो परिणाम यह निकलता है कि हम जिसे भाषा को अखिल भारतीय भाषा बनाना चाहते हैं, उसे लचीली और संग्राहक जरूर होना चाहिए तथा उसने युगों से जो सांस्कृतिक लक्षण प्राप्त कर लिए हैं, उन्हें कायम रखना चाहिए। यह भाषा असल में जनता की भाषा होनी चाहिए न कि विद्वानों के एक छोटे से गुट की। वह गौरवपूर्ण और शक्तिशाली होनी चाहिए। उसे कृत्रिमता, छिछलेपन और आलंकारिकपन की जोर से दबाना चाहिए। उसका आधार तो लाजमी तौर पर संस्कृत ही होगी और उसकी बहुत कुछ सामग्री भी उस से ली जायेगी, लेकिन उसमें असंख्य शब्द, पद और विचार दूसरे जरियों से, खास तौर पर फ़ारसी, अंग्रेजी तथा दूसरी विदेशी भाषाओं से भी लिए गए होंगे। रही बात पारिभाषिक शब्दों की सो सबसे पहले तो हमें ऐसे हर शब्द को ले लेना चाहिए, जो आम लोगों के व्यवहार में चालू हो चुका है। नये शब्द गढ़ने में भी हमें लोगों के आम इस्तेमाल के शब्दों और लोगों की समझ के साथ यथासंभव मेल साधना होगा और पारिभाषिक शब्दों के बारे में हमें जहां तक संभव हो, दुनिया की जो एक भाषा आज बन रही है, उससे अलग नहीं होना चाहिए।

यह अच्छा होगा कि हम बुनियादी शब्दों की एक ऐसी संख्या, कोई 3000, जमा कर लें, जो आम लोगों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले, सुपरिचित और साधारण शब्द समझे जा सकें। एक ही विचार के लिए अकसर दो पर्यायवाची शब्द भी हो सकते हैं, बशर्ते कि दोनों आम तौर पर काम के लिए जाते हों। यह वह बुनियादी शब्दकोष होना चाहिए, जिसे अखिल भारतीय भाषा के ज्ञान की इच्छा रखने वाले हर शख्स को जानना चाहिए।

ऊपर बताये ढंग पर पारिभाषिक शब्दों की एक और सूची तैयार होनी चाहिए। यहां मैं यह जरूर कहूंगा कि आज पारिभाषिक शब्दों के लिए जो शब्द इस्तेमाल हो रहे हैं उनमें से बहुत से इतने असाधारण रूप में बनावटी और सचमुच बेमानी हैं कि मुझे उनसे डर लगता है इसका कारण यह है कि उनके पीछे कोई पृष्ठ भूमि या इतिहास नहीं है।

अगर ये दोनों सूचियां तैयार कर ली जाएं तो बाकी का काम भाषा के स्वाभाविक विकास पर छोड़ देना चाहिए। फिर कोई शुद्ध साहित्यिक हिन्दी कही जाने वाली या शुद्ध साहित्यिक उर्दू कही जाने वाली शैली में लिखे या दोनों के बीच की शैली में लिखे, उस पर कोई पाबन्दी न होनी चाहिए। जब शिक्षा का विस्तार होगा और पढ़ने वाली जनता की तादाद बढ़ेगी तो खुद उसी का लेखकों और वक्ताओं पर जबरदस्त असर पड़ेगा। मुझे कोई शक नहीं कि धीरे-धीरे एक बढ़िया और जोरदार भाषा बन जाएगी और वह ऊपर के किसी दवाब के बिना बढ़ेगी।

यह आश्चर्य की बात है कि हम भाषा की चर्चा तो इतनी करते हैं, परन्तु हमारे पास अच्छा शब्दकोष एक भी नहीं है। दुनिया की और किसी भी बड़ी भाषा को देखिए उसमें कितने शब्दकोष, विश्वकोष और उसी तरह के दूसरे ग्रन्थ हैं। भाषा की हमारी कसौटी कुछ ऐसी हो गई है कि अदालतों के कमरों में या स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों में बरती जाने वाली ही भाषा है। हमारे शब्दकोश पाठशालाओं के लड़कों के काम के होते हैं। इसलिए जल्दी-से-जल्दी करने का एक काम यह है कि संस्कृत और हमारी आधुनिक भाषाओं के विद्वतापूर्ण और व्यापक शब्दकोश तैयार करने में सारी शक्ति लगायी जाए।

जैसा मैं ऊपर कह चुका हूं, भाषा के नाम का इतना महत्व नहीं है, जितना उसकी भीतरी सामग्री का। अखिल भारतीय भाषा का भीतरी सामग्री के बारे में मैंने ऊपर जो जिक्र किया है, उसे देखते हुए और जो शब्द आज इस्तेमाल हो रहे हैं, उन्हें उसी तरह काम में लेते हुए हिन्दुस्तानी शब्द ही मेरी पसन्द की सामग्री वाली भाषा के अधिक से अधिक नजदीक है।

रही बात लिपि की, सो स्पष्ट है कि नागरी ही प्रमुख लिपि होगी। लेकिन यहां भी चूंकि मेरे विचार से एकांगी बनना सांस्कृतिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से गलत है, इसलिए मेरा ख्याल है कि उर्दू लिपि को मान्यता दी जानी चाहिए, और जहां मांग हो, वहां उसे सिखाया जाना चाहिए। हम सभी लोगों से ये दोनों लिपियां सीखने को नहीं कर कह सकते। यह बहुत भारी वजन हो जाएगा। लेकिन उर्दू लिपि को खास तौर पर दस्तावेज और दूसरे कागजात पेश करने और जहां काफी संख्या चाहती हो, वहां स्कूलों में पढ़ाने के लिए मंजूर करना चाहिए।

यह बात हमारी साधारण भाषा संबंधी नीति से मेल खाती है। यह नीति कांग्रेस और विधान सभा दोनों में यों घोषित हो चुकी है कि हर बच्चे को प्रारम्भिक शिक्षा उसकी मातृभाषा में दी जानी चाहिए, बशर्ते कि किसी खास जगह पर इसे व्यावहारिक बनाने के लिए काफी तादाद में छात्र हों। इस प्रकार बम्बई या कलकत्ता या दिल्ली में तमिलभाषी बच्चों को काफी तादाद हो तो उन्हें तमिल में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पाने का मौका मिलना चाहिए। अगर हिन्दुस्तान के किसी हिस्से में ऐसे बच्चों की काफी संख्या है, जिनकी घर की जबान उर्दू है तो उन्हें प्रान्त की भाषा के अलावा उर्दू लिपि सिखाना चाहिए। यह सिद्धांत मान लिया गया है और इस पर जितना जल्दी अमल हो सके, उतना अच्छा है। आजकल बहुत सी कठिनाइयां पैदा होती हैं, खास तौर पर उन इलाकों में जहां दो प्रान्त मिलते हैं। इस सरहद के दोनों तरफ दो भाषाएं बोलने वाला प्रदेश होता है। दूसरी किसी जगह के बनिस्पत यहां यह ज्यादा जरूरी है कि प्रारंभिक शिक्षा बच्चों को मातृभाषा में दी जाए।

मेरे ख्याल से हमारे लिए किसी व्यापक पैमाने पर रोमन लिपि को अपनाना संभव नहीं है, लेकिन यह याद रखना चाहिए कि फौज में रोमन लिपि बड़ी सफलतापूर्वक इस्तेमाल की गई है। फौज में रोमन लिपि सिखाना बड़ा आसान पाया गया है और वह एक प्रकार की एकता पैदा करने वाली शक्ति साबित हुई है। इसलिए रोमन लिपि की संभावनाओं की खोज करना और जहां संभव वांछनीय हो, वहां उसे इस्तेमाल करना अच्छा होगा।

इस लेख के शुरू में मैंने कहा है कि मैं एक लेखक की हैसियत से यह लिख रहा हूं। यहां दो शब्द लेखकों के लिए, खास तौर पर हिन्दी और उर्दू के लेखकों के लिए, कह दूं। मुझे यह देखकर बड़ा दुखः हुआ है कि हमारे बढ़िया से बढ़िया और होनहार लेखकों को प्रकाशकों के हाथों कैसी-कैसी मुसीबतें उठानी पड़ी हैं और किस तरह इन लोगों ने उनका शोषण किया है। जहां पत्रकार खुशहाल हैं, वहां सच्ची प्रतिभावाले लेखक के लिए तरक्की का बहुत कम मौका होता है।

मुझे ऐसी मिसालें मालूम हैं कि प्रकाशकों ने हिन्दी की किताबों का कानूनी अधिकार इसलिए कौड़ियों में खरीद लिया है कि गरीब लेखक भूखों मर रहा था और उसके सामने दूसरा कोई उपाय नहीं था। उन प्रकाशकों ने इन पुस्तकों से काफी रुपया कमा लिया तो भी लेखक भूखों ही मरता रहा। मेरे ख्याल से यह बहुत बड़ी बदनामी और सार्वजनिक कलंक की बात है और मैं ऐसी पुस्तकों के प्रकाशकों से अपील करूंगा कि वे लेखकों से ऐसा बेजा फायदा न उठायें।

प्रकाशक तभी फलें-फूलेंगे, जब लेखक खुशहाल होंगे। प्रकाशकों के दृष्टिकोण से भी लेखक को भूखों मरने देना या उसे कोई योग्य काम करने से रोकना मूर्खताभरी नीति है। लेकिन राष्ट्रीय हित के ख्याल से यह सवाल और भी अहम है और यह देखना राष्ट्र का काम है कि हमारे प्रतिभाशाली लेखकों को अच्छा काम करने का मौका मिले।

("राजनीति से दूर" पुस्तक से साभार)

राष्ट्रभाषा और लिपि

—राहुल सांकृत्यायन

हमारा देश अब वह नहीं रहा, जो सदियों से चला आ रहा था। जिस वक्त आज का हिन्दी भाषा भाषी भारत परतंत्र हुआ, उस वक्त हमारा हिन्दी का वह रूप गुजरात, कन्नौज पटना में बोला और लिखा जाता था, जो सातवीं सदी में आरम्भ हुआ था और जिसके अमर लेखक सरह, स्वयम्भू पुष्पदन्त एवं हरिब्रहम आदि थे। भाषा हमारी ही जैसी थीं, किन्तु वह तद्भव का रूप था। उस समय के बाद हमारी भाषा दासों की भाषा समझी गई। फारसी ने दरबारों और कचहरियों में अपना स्थान जमाया। धीरे-धीरे हिन्दी उस दयनीय दशा पर पहुंची, जबकि उन्नीसवीं सदी के आरंभ में लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर' लिखा। फिर उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारतेन्दु और उनके साथियों ने हिन्दी को अपना स्थान दिलाने के लिये भगीरथ प्रयत्न किया। स्वर्गीय गोविन्दनारायण मिश्र बद्रीनाथ चौधरी 'प्रेमधन', रामावतार शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक आदि कितने तपस्वी और मुनि जो स्वप्न देखते चले गए, वह आज पूरा हुआ। आज फिर अपने प्राचीनतम रूप अपभ्रंश हिन्दी की भांति हमारी हिन्दी स्वतंत्र भारत की सम्माननीय भाषा का पद प्राप्त कर रही है। सात सदियों का अन्तर है। कितने दिनों के अन्तर्धान के बाद हिन्दी सरस्वती पुनः बड़े बेग से अपने स्थान पर प्रकट हुई है और आज उसका दायित्व और कार्य-क्षेत्र बारहवीं सदी से कहीं अधिक है। यद्यपि दरबार में उस वक्त भी उसका सम्मान था, कितने कागज पत्र भी लिखे जाते थे, तो भी अभी सब से ऊंचा स्थान मातृभाषा को नहीं, बल्कि संस्कृत को प्राप्त था। संस्कृत का कवि हो 'ताम्बूलद्वमासनंच लभते' और ताम्र शासनों में भी संस्कृत का प्रयोग होता था। आज हमारे हिन्दी भाषा-भाषी प्रांतों में हिन्दी के सर्वे सर्वा होने में कोई बाधा नहीं डाल सकता। उसे हिन्दी प्रांतों में हिन्दी के न्यायालयों, पार्लियामेंटों और सरकारी शासन पत्रों की ही भाषा नहीं बनना है, बल्कि आज के विकसित विज्ञान की हर एक शाखा के अध्ययन का माध्यम भी बनना है। यह बहुत भारी काम है, लेकिन मुझे विश्वास है कि हमारी हिन्दी उसे सहर्ष वहन करेगी।

आज फिर भारत एक संघ में बद्ध हुआ है। हमारे भारत संघ की कोई एक भाषा भी होनी आवश्यक है। संघ भाषा के बारे में कुछ थोड़े से लोग अपने व्यक्तिगत विचार और कठिनाइयों को लेकर बाधा डालना चाहते हैं। हम पूछेंगे कि जब संघ के काम के लिए भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं को लेना संभव नहीं, तब किसी एक भाषा को हमें स्वीकार करना ही होगा।

आश्चर्य करने की बात नहीं, यदि अब भी कुछ दिमाग यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते और अब भी अंग्रेजी भाषा को राष्ट्र भाषा बनाये रखने का आग्रह करते हैं। यह भी दासता के अभिशाप का अवशेष है। उन्होंने अंग्रेजी छोड़ किसी भारतीय भाषा पर अधिकार नहीं पाया, सदा साहबी ठाठ में रहे और कभी ख्याल भी नहीं किया कि देश की जनता भी किसी भाषा से संबंध रखती है और उसका साहित्य जहां तक शुद्ध साहित्य का संबंध है, विश्व की किसी भाषा से पीछे नहीं है।

कोई भी अविकृत मस्तिक आदमी आज अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने की कोशिश नहीं करेगा। यहां यह भी कह देना चाहिए कि हमारे रेडियो अब भी अंग्रेजी के अधिक प्रचार का साधन बन रहे हैं। उन्हें फ्रेंच और रूसी रेडियों के प्रोग्राम को देखना चाहिए कि वहां कितने प्रतिशत मिनट प्रोग्राम अंग्रेजी में चलते हैं।

सवाल है— हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं और दोनों लिपियों का भी, क्यों न सारे संघ की राष्ट्र भाषा और राष्ट्र लिपि मान लिया जाए? पूछना है— अपनी मातृभाषा और उसके साहित्य के पढ़ने के साथ-साथ क्या दूसरी भाषा का बोझ ज्यादा लादना व्यवहार और बुद्धिमानी की बात है? संघ की राष्ट्र भाषा एक होनी चाहिए। स्वीज़रलैंड की तीन भाषाओं का दृष्टांत हमारे यहां लागू हो सकता था, यदि हमारा देश एक तहसील या ताल्लुके के बराबर होता। हमारे यहां जो उदाहरण लागू हो सकता है, वह है सोवियत संघ का, जहां 66 भाषाएं बोली व लिखी जाती हैं। द्रविड़ भाषाओं में तो अब भी 60-60 प्रतिशत तक संस्कृत शब्द मिलते हैं—वही संस्कृत शब्द जो उत्तरी भाषाओं में है, किन्तु सोवियत की मंगोल व तुर्की संबंध की पचासों भाषाओं का रूसी भाषा से कोई संबंध नहीं। तो भी वहां के लोगों ने संघ की एक भाषा मानते वक्त रूसी को वहीं स्थान दिया, क्योंकि वह दो तिहाई जनता की अपनी भाषा थी और देश में भी बहुत दूर तक प्रचलित थी। हिन्दी का भी वही स्थान है। इसलिए एक भाषा रखते वक्त हमें हिंदी को ही लेना होगा। हिंदी भाषा भाषी बुहत भारी प्रदेश तक फैले हुए हैं। इतना ही नहीं, बल्कि आसामी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी ऐसी भाषाएं है जो हिन्दी जानने वालों के लिए समझने में बहुत आसान हो जाती है उनका एक दूसरे का बहुत निकट का संबंध है। मैंने उड़िया नहीं पढ़ी थी, और न उसे सुनने का वैसा मौका मिला था; लेकिन गत वर्ष कटक में मैं एक नाटक देखने गया। मैं डरता था कि शायद समझने में दिक्कत होगी, लेकिन पहले दिन के ही संवाद को मैं 80 प्रति सैकड़ा समझ गया और उड़िया भाषा ने अपने सौन्दर्य से मुझे बुहत आकृष्ट किया। मैंने यात्रा दर्शने और राजनीति के संबंध में गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला भाषा भाषियों के सामने कितनी ही बार व्याख्यान दिये हैं और भारी संख्या में उनके सावधानतापूर्वक सुनने से सिद्ध था कि वे हिन्दी समझ लेते हैं। हां यहां इस बात का जरुर ध्यान रखना पड़ता था कि हिंदी में जब तक आने वाले अरबी फारसी शब्दों को जगह तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जाये। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि अरबी फारसी से लदी उर्दू भाषा को भारत के दूसरे प्रान्तों पर लादा नहीं जा सकता।

और लिपि? उर्दू लिपि, जो कि वस्तुतः अरबी लिपि है, इतनी अपूर्ण लिपि है कि उसे खुद बहुत से इस्लामी देशों से देशनिकाला दिया जा चुका है। उसको लादने का ख्याल हमारे दिल में आना नहीं चाहिए।

हिन्दी के राष्ट्र भाषा होने के लिए जब कहा जाता है, तो कहीं-कहीं से आवाज निकलती है—"हिन्दी वाले सारे भारत पर हिन्दी का साम्राज्य

स्थापित करना चाहते हैं? यह उनका झूठा प्रचार है और वे हिन्दी से भिन्न भाषा भाषियों के मन में यह भय पैदा करना चाहते हैं कि हिन्दी के संघ भाषा बनने पर उनकी भाषा का साहित्य और अस्तित्व मिट जायेगा। यह विचार सर्वथा निर्मूल है। अपने क्षेत्र में वहां की भाषा ही सर्वे सर्वा होगी। बंगाल में प्रारंभिक स्कूलों व यूनिवर्सिटी तक, गांव की पंचायतों से प्रान्त की पार्लमेंट और हाईकोर्ट तक, सभी जगह बंगला का अक्षुण्णा राज्य होगा। इसी तरह उड़ीसा, आन्ध्र, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और आसाम में भी वहां की भाषाओं का साहित्यक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में निर्बाध राज्य रहेगा। हिन्दी, का काम तो वहां ही पड़ेगा जहां एक स्थान प्रान्त का दूसरे प्रांत से संबंध होगा। इसको कौन नहीं स्वीकार करेगा कि बंगाली, उड़िया मराठी, गुजराती, तेलुगु और कर्नाटकी जब एक जगह अधिकाधिक मिलेंगे तो उनके आपसी व्यवहार के लिए कोई एक भाषा होनी चाहिए।

इतिहास हमें बतलाता है कि ऐसी भाषा, भारत में जब-जब राजनैतिक एकता या अनेकता भी रही, तब तब मानी गई। अशोक के शिला-लेखों की भाषा-मैसूर, गिरनार, जोगढ़ (उड़ीसा) और कालसी (देहरादून) इसका प्रमाण है। फिर संस्कृत ने माध्यम का स्थाब लिया, यद्यपि इसमें संदेह है कि वह कचहरियों और दरबारों की बहु प्रचलित भाषा न थीं। अपभ्रंशकाल (7-13 वीं सदी) में हम आसाम से मुलतान, गुजरात महाराष्ट्र से उड़ीसा तक अपभ्रंश भाषा को कविता करते पाते हैं। उनमें कितनी ही दरबारी कवि हैं। इस अपभ्रंश भाषा में इन सारे प्रदेशों की भाषा का बीज मौजूद है, परन्तु उनकी शिष्ट भाषा अवध और ब्रज के बीच भूमि पांचाल की भाषा थी, जिसका मुख्य नगर कन्नौज मौखरिया के समय से गहड़वारों के समय (6-12वीं सदी) तक उत्तरी भारत का सब से बड़ा राजनैतिक और सांस्कृतिक केन्द्र रहा। इस तरह अपभ्रंश उस समय सारे भारत में वही काम कर रही थी, जो गैर सरकारी तौर से आज तक और सरकारी तौर से आगे हिन्दी को सारे भारत में करना है।

हिन्दी को हिन्दी संघ के ऊपर राष्ट्रभाषा के तौर पर लादने का सवाल नहीं है। यह तो एक व्यवहार की बात है मुसलमानी शासनकाल में भी कितनी ही हमारी अन्तः प्रान्तीय साधु संस्थाएं रहीं और वे आज तक चली आ रही है। उन्हीं को देखिए, किस भाषा को उन्होंने सुव्यवहार्य समझ कर अपने भाषण और लिखापढ़ी के लिए स्वीकार किया? सन्यासियों या वैरागियों के अखाड़े और स्थान जाकर देखिए, वह समुद्र की तरह है, जहां सचमुच ही सैकड़ों नदियां जाकर मिलती हैं और नाम रूप विहाय समुद्र बन जाती है। नि अखाड़ों की बड़ी-बड़ी जमात चलती हैं और कुम्भ के मेलों के वक्त तो उनकी संख्या लाखों तक पहुंच जाती है। वहां जाकर पता लगाइये कि मालाबारी, तेलुगु, नेपाली, बंगाली, पंजाबी और सिंधी साधु सन्यासी किस भाषा में आपस में बातचीत करते हैं? हिन्दी में और सिर्फ हिन्दी में। इसका, गांधी जी के दक्षिण हिन्दी भाषा प्रचार से कोई संबंध नहीं है। हमारी आज की हिन्दी संस्थाओं से सदियों पहले से यह काम हो रहा है। अखाड़ों में रखी अब भी आपकी दो-दो सौ वर्ष की और कुछ पुरानी भी बहियां और चिट्ठियां इस बात का सबूत देगी। इन्हीं अखाड़ों के एक प्रतिनिधि अतिकेचनगिरि ने 1866 संवत् (1809 ई.) में सोवियत के बाकू नगर के पास ज्वाला जी के मन्दिर पर शिलालेख खुदवा कर लगाया—"116011 ओं श्री गणेशय नमः ।श्लोक।। स्वस्ति श्री नरपति विक्रमादित्य राज साके। श्री ज्वाला जी निमत दरवाजा वणायाः अतिकेचनगिरि सन्यासी राम-दहावासी कोरेश्वर महादेव का ।।.....असौज वदी 8 संवत् 1866।।"

अस्तु, इससे यह तो साफ है कि जब जब व्यवहार की बात आई, तब तब हिन्दी ही सारे भारत की अन्तः प्रान्तीय भाषा स्वीकार की गई। यदि इस पुराने तजरुबे को नहीं मानते हैं। तो चाहें तो फिर तजरुबे कर लें। हिन्दी भाषा भाषियों को अलग रख कर पंजाबी, असामी, बंगाली, उड़िया, आंध्र, तमिल, केरल, कर्नाटक मराठी, गुजराती लोगों को ही व्यवहार के बारे में फैसला करने के लिए छोड़ दें। मैं समझता हू कि यदि वे सारे भारत की एकता के पक्षपाती है, तो उनका तजरुबा भी हिन्दी के पक्ष का समर्थन करेगा।

राष्ट्र भाषा हिन्दी स्वीकार करने पर भी कोई कोई भाई रोमन लिपि को स्वीकार करने के लिये कह रहे हैं। क्या वह अधिक वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक का मतलब है—लिपि का उच्चारण के अधिक अनुरुप होना—लेकिन रोमन लिपि के 26 अक्षर हमारे सारे उच्चारणों को प्रकट नहीं कर सकते। नागरी अक्षरों में हम सब से ज्यादा शुद्ध रूप से किसी भी भाषा को लिख सकते हैं और बिना चिन्ह दिये । चिन्ह देने पर रोमन में जितने पैबन्द लगाये जाते हैं, उससे कम ही चिन्हों को लगा कर नागरी द्वारा हम दुनिया की हर भाषा के शब्दों को उच्चारणानुसार लिख सकते हैं। इसलिए जहां तक उच्चारण का संबंध है, हमारी नागरी दुनिया की सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि है।

रहा सवाल प्रेस और टाइपराइटर का, तो उसमें कुछ मामूली सुधार की आवश्यकता है अवश्य, और सुधार संयुक्त अक्षरों के टाइपों के अटाने, मात्राओं को 'अ' के ऊपर लगाने तथा दूसरे अक्षरों पर लटकती मात्राओं के शरीर को अपने शरीर तक समेट कर किया जा सकता है, इससे हिन्दी टाइप का संख्या 485 की जगह 104 हो जाएगी। अंग्रेजी में 147 टाइपों का फाट होता है। अंग्रेजी की तरह छोटे बड़े अक्षरों का अनावश्यक बोझ हमारी लिपि पर न होने से टाइपराइटर में ओर सुविधा है और अंग्रेजी टाइपराइटर के बोर्ड पर सारे टाइप लग जाते हैं।

इस प्रकार सारे संघ की राष्ट्र भाषा और राष्ट्र लिपि हिन्दी ही होनी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि उर्दू पढ़ने वालों के लिए सुविधा ही न दी जाए। हर एक को अपनी भाषा और अपनी लिपि पढ़ने का अधिकार

होना चाहिए। उर्दू भाषा भाषी अपनी शिक्षा उर्दू भाषा द्वारा लेना चाहते हैं, उन्हें इसके लिए पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। वे स्कुलों में ही नहीं, चाहे तो अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में उर्दू को माध्यम रख सकते हैं। लेकिन जो समय सामने आ रहा है उसे देखते हुए मैं उन्हें परामर्श दूंगा कि लिपि के आग्रह को छोड़कर उर्दू के लिए भी वे नागरी लिपि को अपनाएं। आखिर पश्चिमी एशिया के ताजिक और तुर्की भाषाओं को अरबी लिपि से संबंध विच्छेद कर लेने पर हानि नहीं, बल्कि भारी लाभ हुआ है। सोवियत संघ की ये भाषाएं ऊसी लिपि में लिखी जाती है, जो 32 अक्षर की होने से रोमन से कहीं अधिक वैज्ञानिक है।

कोई-कोई उर्दू वाले कहने लगे हैं कि क्यों न रोमन लिपि को अपनाया जाए? यदि हिन्दी (नागरी) लिपि अरबी लिपि की तरह दोषपूर्ण होती तो हमें रोमन लिपि अपनाने में कोई उज़र न होता। लेकिन रोमन पक्षपाती उर्दू वाले भाइयों को नागरी जैसी लिपि को अपनाने में आनाकानी क्यों? सिर्फ इसलिए कि अगर अरबी लिपि जाती है तो साथसाथ हिन्दी लिपि का भी बेड़ा गर्क हो।

उनका भारतीयता के प्रति यह विद्वेश सदियों से चला आया है सही, किन्तु नवीन भारत में कोई भी धर्म भारतीयता को पूर्णतया स्वीकार किये बिना फल-फूल नहीं सकता। ईसाइयों, पारसियों और बौद्धों को भारतीयता में एतराज नहीं, फिर इस्लाम ही को क्यों इस्लाम की आत्मरक्षा के लिए भी आवश्यक है कि वह उसी तरह हिन्दुस्तान की सभ्यता, साहित्य, इतिहास, वेश-भूषा, मनोभाव के साथ समझौता करे, जैसे उसने तुर्की, ईरान और सोवियत मध्य एशिया के प्रजातंत्रों में किया। धर्म को समाज के हर क्षेत्र में घुसेड़ना आज के संसार में बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। अभी हमारे राष्ट्रीय मुसलमान भाई भी नहीं समझ पाये हैं कि उनकी संतानों को नवभारत में कहां तक जाना है। नवीन भारत ऐसे मुसलमानों को चाहेगा, जो अपने धर्म के पक्के हों, किन्तु साथ ही उनकी भाषा-वेश-भूषा और खान पान में दूसरे भारतीयों से कोई अन्तर न हो, भारत के गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति आदर रखने में वे दूसरे से पीछे न हों। भारतीय संघ के मुसलमानों की भी आज की तीसरी पीढ़ी में हिन्दी के अच्छे-अच्छे कवि और लेखक उसी परिमाण में होंगे, जिस परिमाण में वे उर्दू में हैं। वह समय भी नजदीक आयेगा जब कि हिन्दी साहित्य सम्मलेन का सभापति कोई हिन्दी का धुरंधर साहित्यकार मुसलमान होगा। आखिर पाकिस्तान के आधे से अधिक हिस्से में अरबी लिपि और अरबी मिश्रित भाषा न होने से पूर्वी बंगाल में इस्लाम को खतरा नहीं है, फिर हिन्दी से उन्हें क्यों खतरा मालूम होता है?

सारे संघ की राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त हिन्दी का अपना विशाल क्षेत्र है। हरियाणा, राजपुताना, मेवाड़, मालवा, मध्य प्रदेश, युक्तप्रान्त और बिहार हिन्दी की अपनी भूमि है। यही यह भूमि है जिसने हिन्दी के आदिमकवियों सरह, स्वयम्भू आदि को जन्म दिया। यही भूमि है जहां अश्वघोष, कालिदास, भवभूति और बाण पैदा हुए। यही यह भूमि है, जहां (मेरठ, अम्बाला कमिश्नरियों) पंचाल (आगरा, रुहेलखंड कमिश्नरियों) की भूमि में वशिष्ट, विश्वमित्र, भारद्वाज ने ऋणवेद के मंत्र रचे और प्रवाहण उद्दालक और याज्ञावल्क ने अपनी दार्शनिक उड़ाने की। इस भूमि के सारे भाग की हिन्दी मातृभाषा नहीं है, किन्तु वह है मातृभाषा जैसी हो। इस विशाल प्रदेश के हर एक भाग में शिक्षित, अशिक्षित; नागरिक और ग्रामीण सभी हिन्दी को समझते हैं। इसलिए यहां हिन्दी को राजभाषा के तौर पर, शिक्षा के माध्यम के तौर पर स्वीकार किया जाना बिल्कुल स्वाभाविक है।

हिन्दी भारतीय संघ की राष्ट्र भाषा होगी और उसके आधे से अधिक लोगों की अपनी भाषा होने के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी। चीनी भाषा के बाद वही दूसरी भाषा है, जो इतनी बड़ी जनसंख्या की भाषा है। हिन्दी के ऊपर इसके लिए बड़ा दायित्व आ जाता है। हिन्दी को एक विशाल जनसमूह के राजकाज और बातचजीत को ही चलाना नहीं है, बल्कि उसी के शिक्षा का माध्यम बनाना है। फिर आजकल शिक्षा सिर्फ कविता, कहानी और साहित्यिक निबन्धों तक ही सीमित नहीं है। विश्व के प्रत्येक उन्नत भाषा का साहित्य अधिकधतर साइन्स के ग्रन्थों पर अवलम्बित है। अभी तक जो साइन्स की पढ़ाई अंग्रेजी ने अपने सिर पर ले रखी थी, किन्तु अब अंग्रेजी के साथ अंग्रेजों का राज्य जा चुका है। सरह, स्वयम्भू से पन्त, निराला, महादेवी तक का हिन्दी काव्य साहित्य बहुत सुन्दर और विशाल है। नाटक छोड़कर सभी अंगों में विश्व के किसी भी प्राचीन और नवीन साहित्य से उसकी तुलना की जा सकती है। कथा साहित्य में प्रेमचन्द ने जो परम्परा छोड़ी है वह काफी आगे बढ़ी है। किन्तु अब हिन्दी में सारा ज्ञान-विज्ञान लाना होगा। कुछ लोग इसे बहुत शायद शदियों का काम समझते हैं, परन्तु मेरी समझ में यह उनकी भूल है। आज जिस चीज़ की मांग हो, उसे साहित्य जगत में सृजन करने वालों की कमी नहीं होती।

हमारे स्वतंत्र देश के सामने बहुत और भारी-भारी काम है। हमारी चिरदासता ने हमें दुनियां के और देशों से बहुत पीछे रखा है। विदेशी शासक इसी में अपना हित समझते थे। अब सदियों की पिछड़ी यात्रा को हमें वर्षों में पूरा करना है इसमें साहित्य की सहायता अब से अधिक आवश्यक है हमें ऐसा साहित्य तैयार करना है, जो दुनियां की दौड़ में आग बढ़ने में सहायक हो, न कि हमें पीछे खींचे। निराशावाद के लिये मैं कहीं भी गुंजाइश नहीं देखता। हमारे पास बुद्धि-बल है। हमारी भारत मही सचमुच बसुन्धरा है। हमारे बहत्तर करोड़ हाथ हैं। हमें विश्व की सब से बड़ी तीन शक्तियों में अपना स्थान लेना है। इसलिए अभारत के हरेक पुत्र और पुत्री के विश्राम लेने का मौका नहीं है। सब को एक साथ लेकर आगे कदम बढ़ाना है? देश के उद्योगीकरण और कृषि को विज्ञान-सम्मत बनाने में हमारे साहित्य को बहुत बड़ा भाग लेना है। आगे पच्चीस साल देश का सब से अधिक कर्मठ जीवन होना चाहिए। हम भारत माता के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करें।

(विचार और विमर्श से साभार)

राष्ट्रभाषा हिन्दी

—डा० अमरनाथ झा

हिन्दी जगत् में जनपदीय भाषाओं के संबंध में बहुधा चर्चा हुआ करती है। भारत वर्ष एक बहुत बड़ा देश है और इसमें अनेक भाषाएं सदा से प्रचलित है। इतनी भाषाओं का रहना और इन सबका हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानना महत्व की बात है। कई भाषाएं तो संस्कृत से अपनी तुलना करती हैं। कई में उच्च कोटि का साहित्य है। सैंकड़ों वर्ष से इनमें साहित्य की रचना होती आई है। हिंदी साहित्य-सम्मलेन की नीति प्रांतीय भाषाओं के विरुद्ध नहीं है। परन्तु विवाद यों खड़ा हुआ है कि हिंदी की कुछ संनिकट भाषाएं हैं जिनसे स्वातंत्र्य आशंका है। पूछा जाता है कि क्या बुंदेलखंड, अवधी, राजस्थानी, ब्रजभाषा हिंदी से भिन्न हैं और क्या इनके प्रोत्साहन से हिंदी की क्षति नहीं होगी? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी मातृभाषा का अध्ययन करे और इसी में उसकी प्रारंभिक शिक्षा हो। मातृभाषा प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम हो, इस विचार से सभी शिक्षक सहमत होंगे। आजकल की शिक्षा प्रणाली में इस सुधार की सबसे बड़ी आवश्यकता है। प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने पर किस भाषा द्वारा शिक्षण हो, यह प्रश्न दूसरा है। मेरी सम्मति यह है कि हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी—राष्ट्रभाषा के रूप में—शिक्षा का माध्यम हो। प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा द्वारा पा लेने पर विद्यार्थी को राष्ट्रभाषा सीखने अथवा राष्ट्रभाषा द्वारा सीखने में कठिनता नहीं होगी। इस पद्धति से मातृभाषाओं की रक्षा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा का भी हित है। किसी प्रांत के निवासी के मन में यह आशंका उत्पन्न न होगी कि उसकी मातृभाषा का लोप होने वाला है। और इनमें से कई भाषाएं तो ऐसी हैं जिनमें अच्छा साहित्य भी है। हिन्दी का जो रूप अब प्रचलित है वह कुछ थोड़े भाग को छोड़कर कहीं के निवासियों की मातृभाषा नहीं है, परन्तु साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्र में इतना व्यवहार में हैं , सत्तर वर्ष से इसका इतना प्रचार हो गया है और भारत वर्ष की भाषाओं में इसकी इतनी प्रतिष्ठा हो गई है कि इसको सहज ही राष्ट्रभाषा का पद मिल गया है। राष्ट्र भाषा में ही दूसरी और उच्च श्रेणी की शिक्षा होनी चाहिए, परन्तु साथ ही अन्य भाषाओं में भी साहित्य-रचना होती रहे वह वांछनीय है। उदाहरण रूप में, ब्रज-साहित्य इतना सुन्दर है और ब्रजभाषा इतनी मुधर है कि इस साहित्य का भविष्य अस्तित्व ही न रहे इसको कौन साहित्य-प्रेमी अंगीकार करेगा? हिन्दी साहित्य-सम्मलेन का कर्त्तव्य है कि इस साहित्य और इसी भांति और साहित्य को भी उन्नति में सचेष्ट रहे।

राष्ट्रभाषा हिंदी की स्वरूप वही होगा जिसमें समस्त भारतवर्ष के निवासी सुगमता से अपने विचारों को व्यक्त कर सकेंगे। इस देश की मुख्य भाषाओं में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है और संस्कृतमयी हिंदी को ही सब प्रांतों के रहने वाले अपनाएंगे। रही समस्या उर्दू की। यह समस्या तो केवल संयुक्त प्रांत और पंजाब की समस्या है और यहां भी शहरों तक ही सीमित है। देहातों में तो सबकी बोली एक ही है। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि जहां तक संभव हो प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति हिन्दी और उर्दू का साहित्य अच्छा है, उर्दू भाषा अच्छी है उर्दू का ज्ञान होना उपकारक सिद्ध होगा। उर्दू एक बहुसंख्यक समाज की भाषा है। हिन्दी और उर्दू के ज्ञान दोनों भाषाओं की वृद्धि हो सकती है। परन्तु यद्यपि प्रारंभिक काल में उर्दू इस देश की यथार्थ भाषा थी और उर्दू के आदि कवियों ने इस देश की संस्कृति को सुरक्षित करने का प्रयास किया था, तथापि खेद के साथ कहना पड़ता है कि कालक्रम से उर्दू केवल फारसी का एक अंग हो गई और उर्दू साहित्य में भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति की कहीं झलक नहीं आती है। फिर भी उर्दू को भी उन्नति करने का अधिकार है और इसकी गति को रोकना अनुचित है। हम इसकी समृद्धि चाहते हैं, हम चाहते हैं कि यह भी फूले फले। उर्दू से हमें द्वेष नहीं है। किसी साहित्य रसिक को किसी भाषा अथवा साहित्य से द्वेष नहीं रह सकता।

रही बात "हिन्दुस्तानी" की। यह कौन भाषा है, कहां की है, किसकी है? इसका साहित्य कहां है? इस भाषा में कौन लिखता है? अर्थशास्त्र, राजनीति, विज्ञान, दर्शन इत्यादि विषयों पर ग्रंथ किस भाषा में लिखे जाते हैं? हिन्दुस्तानी के गढ़ने का प्रयोजन क्या है? प्रचलित भाषाओं को विकृत करना कौन सी बुद्धमता है? क्या हिन्दुस्तानी में भावुकता आ सकती है? क्या इसमें गूढ़ विषयों को व्यक्त करने की क्षमता है? हिन्दुस्तानी के जो थोड़े से उदाहरण हम देख चुके हैं उसकी तो भद्दी उर्दू कहने में हमको संकोच नहीं है। न उर्दू के साथ वाक्य में हिंदी के एक-दो शब्द रख देना भाषाशैली के साथ परिहास करना है। हिन्दुस्तानी आंदोलन से हिन्दी-संसार को असंतुष्ट है ही, उर्दू-जगत भी प्रसन्न नहीं है। उचित यही है कि हिंदी और उर्दू दोनों की गति अविरुद्ध रहे।

हिंदी साहित्य-सम्मेलन का कर्त्तव्य स्पष्ट है—हिंदी भाषा का प्रचार और साहित्य की अभिवृद्धि करना। अन्य भाषाओं के प्रति उसको स्नेह है, सम्मान है। किसी से उसका विरोध नहीं है, किसी की उन्नति के मार्ग में बाधा नहीं डालता है। हिंदी का प्रचार अब तक अच्छा हुआ है, परन्तु अधिक और यत्न अपेक्षित है। समाचारपत्रों और मासिक-पत्रों को सहायता और मिलनी चाहिए। इनकी ग्राहक संख्या पर्याप्त नहीं है। हिन्दी पढ़ने वालों को चाहिए कि हिंदी-पत्रों के ग्राहक बने। साथ ही पत्रों के संचालकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने पत्रों को इस

योग्य बनावें की किसी और भाषा के पत्रों के पढ़ने की आवश्यकता न रहे। हिंदी के बहुत कम दैनिक पत्र ऐसे हैं जिनमें समस्त संसार के समाचार उसी दिन छपते हैं जिस दिन अंग्रेजी पत्रों में उनका प्रकाशन होता है। समाचारपत्रों की भाषा में भी संशोधन होना चाहिए। सरल से सरल भाषा का इनमें प्रयोग होना चाहिए, जिसे सर्वसाधारण समझ सके, जिससे जनता प्रभावित हो सके। अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का अविकल अनुवाद बहुधा

हास्यास्पद होता है। उदाहरणार्थ, इस वाक्य को लिखिए—"दिल्ली के ग्वालों ने असेम्बली-भवन के सामने प्रदर्शन किया।" अथवा कामायनी—एक अध्ययन।" "उस दिन राष्ट्रपति ने बताया"—इन शब्दों से एक लेख आरम्भ किया गया है, किस दिन? इस प्रकार का अनुवाद अनावश्यक है। फिर, पत्रों में पढ़ने की सामग्री और होनी चाहिए। रूचि भिन्न है और अनेक रुचियों की तुष्टि पर ध्यान देना उचित है। संपादकों को यह भी चाहिए कि अश्लील विज्ञापनों को प्रकाशित न करें। और जहां तक संभव हो संवाददाता ऐसे नियुक्त करे जो विश्वसनीय हों और यथाशक्ति पक्षपात-रहित हों। हिंदी प्रचार का एक प्रधान अंग यह भी है कि प्रत्येक विष्य प्रत्येक श्रेणी के विद्यार्थियों के उपयुक्त ग्रंथ लिखे जायें। पुस्तकों को प्रणताओं को उचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए। अब समय आ गया है कि मौलिक पुस्तकों की रचना हो, अनुवादों से काम नहीं चल सकता। ग्रंथों में प्रकाशित हो जाने पर उच्च कोटि की शिक्षा भी हिंदी द्वारा दी जा सकेगी। इसका ध्यान रहे कि उर्दू में भी इस प्रांत में शिक्षा दी जाएगी और एक ही विषय का अध्यापन दो भाषाओं में, भिन्न-भिन्न कक्षाओं में करना पड़ेगा। संभव है कुछ विद्यार्थियों के लिये कुछ दिनों तक अंग्रेजी का भी सहारा लेना पड़े। इन सबसे व्यय बढ़ जाने की संभावना है। परन्तु देशीय भाषा में शिक्षा से इतना लाभ होगा कि यह व्यय खलना नहीं चाहिए। विश्वविद्यालयों और अन्य साहित्यिक संस्थाओं को आपस में मिलकर पारिभाषिक शब्दावली प्रकाशित करनी चाहिए और ऐसे विषयों पर ग्रंथ लिखवाने चाहिए जिनका उपयोग शिक्षा-विभाग कर सके।

बहुधा देखा जाता है कि हम यदि अंग्रेज से मिलते हैं तो अंग्रेजी में उससे बातें करते हैं, रावलपिंडी के निवासी से मिलते हैं तो उर्दू में बातचीत करते हैं, परन्तु बंगाल महाराष्ट्र अथवा गुजरात प्रांत के रहने वालों से, बंगाली, मराठी अथवा गुजराती में बात नहीं करते हैं। अंग्रेज हमें गुडमार्निंग' कहता है, उर्दू वाले 'सलाम वालेकुम' अथवा 'आदाबअर्ज' कहते हैं, परन्तु हम इन्हे 'नमस्कार' या 'नमस्ते' कहते हिचकते हैं। हम "पंडित साहब" कहे जाते हैं, पर हमें "मौलवी जी" कहते संकोच होता है। हमें अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग करते हुए आनन्द और गर्व होना चाहिए। जहां तक संभव हो, आपस की बातचीत हमें शुद्ध हिन्दी में करनी चाहिए। जिस प्रकार की खिचड़ी बोली का हमें अभ्यास पड़ गया है उसे छोड़ना चाहिए। अभी कुछ दिनों से फ्रांस की एक महिला प्रयाग में हिन्दी के अध्ययन के लिये आई हुई हैं। वह लड़कियों के छात्रावास में भारतीय लड़कियों के साथ रहती हैं। हमारी लड़कियां जब एक दूसरे से बात करती हैं तो बहुत से अनावश्यक अंग्रेजी व्यवहार में लाती है। इससे इस फ्रेंच महिला को आश्चर्य होता है उसका प्रभाव इतना अच्छा पड़ा है कि अब लड़कियां शुद्ध भाषा बोलने का यत्न करने लगी हैं।

साहित्य के विषय में मैं केवल इतना निवेदन करूंगा कि लेखक पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियंत्रण अनुचित और हानिकारक है। उच्च कोटि की कला मानव के हृदय का बाह्यरूप है। और किसी के हद पर किसका अधिकार है? कला मनुष्य की भावना से उत्पन्न होती है। भावना को वश में कौन ला सकता है? कविता में चित्त का उत्साह, उमंग, वेदना, आनन्द, विषाद संनिहित रहता है, स्वप्नों की झलक मिलती है, भावों की विक्षणता है, विचारों की विशालता है—इनको किसी 'वाद' में जकड़ देना भयावह है। क्षुद्र नदी की धारा तो रोकी जा सकती है, सागर पर आधिपत्य कैसा।

कुछ वर्ष पहिले मैंने "सुहृद संघ" के अधिवेशन में ग्राम्यगीतों के संबंध में यह कहा था—'इन सरल पदों में देश को यथार्थ ददशा वर्णित है, यहां की संस्कृति इनमें संरक्षित है। सभ्यता तो बाह्य आडंबर है, कल तुर्कों की थी, आज अंग्रेजी की है। भारतीयता हमारे गांव के रहने वालों में है, जो शहरों के क्षणभंगुर आभूषणों से अपने स्वाभाविक रूप को छिपा नहीं चुके है, जिनमें युगों से वेदना सहन करने की शक्ति है;जो सुख-दुख में, हर्ष-विषाद में, जगत्स्रष्टा को भूले नहीं है, जो वर्षा के आगमन से प्रसन्न होते हैं, जो खेतों में, जाड़े-गर्मी में, प्रकृतिदेवी के निकट अपना समय बिताते हैं। इन गानों में हम मनुष्य के जीवन के प्रत्येक दृश्य को देखते हैं। कन्या के ससुराल चले जाने या माता के करूण स्वर सुनते हैं, पुत्र के जन्म पर माता-पिता के आनन्द की ध्वनि पाते हैं, खेतों से बह जाने पर हताश किसान के क्रन्दन, ब्याह के अवसर पर बधाई के गान, गृहिणी के विरह की व्यथा, संतान की असामयिक मृत्यु पर मूक वेदना—अर्थात् मानवीय जीवन की नैसर्गिक कविता का रसास्वादन करते हैं। गजलों और सिनेमा के गानों का इतना प्रभाव बढ़ रहा है कि बहुत शीघ्र ग्राम्यगीतों के लोप होने जाने की आशंका है। इस साहित्यिक धन को नष्ट न होने देना चाहिए।' इन प्रान्तों में, ब्रज, अवध, बुंदेलखंड में, हमारे इस साहित्य का बहुत बड़ा भंडार अब भी है और आशा है कि इसका महत्व सम्मेलन स्वीकार करेगा।

इधर कुछ दिनों से हमें यह आदेश मिलने लगा है कि प्रत्येक विद्यार्थी को दो लिपियां सीखना आवश्यक होना चाहिए—हिंदी लिपी और उर्दू लिपि। हिंदी लिपी और उर्दू लिपि कोई लिपि नहीं है। नागरी लिपि और फारसी लिपी है। देश की और प्रधान लिपियां ये हैं —बंगला, गुजराती, गरुमुखी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ मलयालम। इनमें देवनागरी की ही प्रधानता है। फिर यदि नागरी के साथ कोई और लिपि भी सीख सकें तो अच्छा अवश्य है। परन्तु हमारी लिपि वैज्ञानिक दृष्टि से इतनी शुद्ध और व्यावहारिक दृष्टि से इतनी सरल है कि इसका त्याग हमारे लिये अनावश्यक, अहितकर और असंभव है। प्रत्येक प्रांत में नागरी और फरसी दोनों लिपियों को अनिवार्य बनाना बच्चे पर बहुत बड़ा बोझ डालना है। कुछ प्रान्तों का मत है कि रोमन लिपि का ही प्रचार होना चाहिए। मैं इससे सहमत नहीं हूं। रोमन में इनती त्रुटियां हैं कि हम अपनी भाषा को इस लिपि में लिखकर अपने शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकेंगे। देवनागरी की विशष्टता यह है कि जैसी यह लिखी जाती है वैसा ही इसका उच्चारण होता है। यह विशेषता न रोमन में है और न फारसी में।

उच्च कोटि के साहित्य की रचना कठिन और परिश्रमसाध्य है। हम यदि चाहते हैं कि हमारे साहित्य का स्थान विश्वसाहित्य में ऊंचा हो तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसके लिये यथासाध्य परिश्रम करें। आचार्य क्षेमेंद्र ने कवि के लिये इस प्रकार की शिक्षापद्धति बताई है—छंदोंबद्धपद्य की रचना का अभ्यास, काव्यग्रंथों का अनुशीलन, समस्या-पूर्ति, कवियों का सहवास, सज्जनमैत्री का अभिनय देखना, संगीत का ज्ञान, लोकाचार का ज्ञान, आख्यायिका और इतिहास का अनुशीलन, सुन्दर चित्रों का निरीक्षण, वीरों के युद्ध का निरीक्षण, जनता के वार्तालाप को ध्यान से सुनना, शमशानों

शेष पृष्ठ 25 पर

भारत की संविधान-सभा में प्रथम दिन ही हिन्दी भाषा का प्रवेश

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी

भारत का संविधान-सभा के बनने के कई महीनों बाद सर्व-सम्मति से हिन्दी को भारत की राजभाषा घोषित किया गया था। किन्तु यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि संविधान-सभा ने आरम्भ होने के पहले दिन ही अपने नियम बनाने और कार्यवाही को हिन्दी में करने का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था। इस आश्चर्यजनक, महत्वपूर्ण और अप्रत्याशित उपलब्धि का श्रेय मेरे परम आदरणीय मित्र स्वर्गीय श्री रघुनाथ विनायक धुलेकर जी को था। वे महाराष्ट्रीय सज्जन थे। उनका परिवार डेढ़-दो शती पहले महाराष्ट्र से आकर झांसी में बस गया था। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० और एल०-एल० बी० किया था। वे वकील थे और जीवन के आरम्भ ही से लोकमान्य तिलक और बाद में महात्मा गांधी के अनुयायी हो गये। कई बार जेल गये। जब संविधान-सभा बनी तो वे उत्तर प्रदेश से उसके एक सदस्य चुने गये। बड़े विद्वान, धार्मिक, कर्मठ और कुशल राजनीतिज्ञ भी थे। बाद में वे उत्तर प्रदेश विधान-परिषद् के सभापति भी चुने गये थे और उस पद पर कई वर्ष रहे। उन्होंने राजनीति के अतिरिक्त आयुर्वेद, धर्म, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में बड़ा काम किया। अंग्रेजी और हिन्दी में दर्शन आदि पर अनेक पुस्तकें लिखीं। हिन्दी में पहला 'शब्दकोश' निकाला। उन सबकी चर्चा यहां अनवाश्यक है। यहां तो उनके राष्ट्र-प्रेम और हिन्दी-निष्ठा का एक उदाहरण दिया जा रहा है।

संविधान-सभा तो बन गयी थी। उस समय उसमें मुस्लिम लीग के सदस्य भी थे जो कुछ दिनों तो उसके अधिवेशनों में आते थे, किन्तु बाद में उन्होंने आना छोड़ दिया था। प्रथम दिन, जिस दिन की घटना का वर्णन हम कर रहे हैं, उस दिन वे लोग मौजूद थे।

संविधान-सभा बन गयी थी, उसके संचालन के नियम नहीं बने थे और न उसका कोई अध्यक्ष ही चुना गया था। गवर्नर-जनरल ने पटना के प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री सच्चिदानन्द सिन्हा को उनकी वरिष्ठता और श्रेष्ठता के कारण नियमानुसार इसका अस्थायी अध्यक्ष नियुक्त कर दिया था। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अधिकृत नियम बन जाने तक कार्य-संचालन के लिए यह प्रस्ताव रखा था कि जब तक संविधान-सभा अपने संचालन की नियमावली स्वयं नहीं बना लेती तब तक सेन्ट्रल एसेम्बली के नियमों के अनुसार यथा-सम्भव कार्य किया जाय। तदनुसार कार्य-प्रणाली की नियमावली बनाने के लिए श्री कृपलानी ने सेण्ट्रल एसेम्बली के नियमों के अनुसार एक लम्बा प्रस्ताव भेजा जिसके अनुसार संविधान-सभा को यह नियम-निर्माण समिति (प्रासीड्योर कमेटी) गठित करना था जो संविधान सभा की कार्य-प्रणाली के नियम और उसके अधिकारों का नियमन करने के प्रारूप बना कर संविधान-संभा में उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करती।

श्री कृपालानी का यह नियम निर्माण समिति के गठन का प्रस्ताव संविधान-सभा के सभी सदस्यों को अधिवेशन से कुछ सप्ताह पूर्व भेज दिया गया था कि वे चाहें तो उसमें संशोधन करने का प्रस्ताव लिखकर संविधान-सभा के सचिव के पास एक निश्चित तिथि तक भेज दें। यह संशोधन भी सब सदस्यों को सूचनार्थ भेज दिये गये थे। इस प्रकार निश्चित तिथि तक जो संशोधन लिखित रूप से संविधान-सभा के सचिव के पास न पहुंचे थे उन पर विचार नहीं हो सकता था।

श्री धुलेकर ने इस प्रस्ताव पर यह संशोधन भेजा कि 'यह कार्य-निमावली गठन समिति अपने नियम हिन्दुस्तानी में बनाये। वे नियम अंग्रेजी में अनुवाद किये जा सकते हैं। जब कोई सदस्य किसी नियम पर बहस करे तो वह मूल हिन्दुस्तानी का उपयोग करे और उस पर जो निर्णय किया जाये वह भी हिन्दुस्तानी में हो।' मेरे पास दुर्भाग्य से इस संशोधन की मूलप्रति नहीं है किन्तु संविधान-सभा की कार्यवाही में श्री धुलेकर ने अपने संशोधन के स्पष्टीकरण में जो कहा है उसी को मैंने उद्धृत किया है। यह नीचे के विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

जब श्री कृपालानी ने मूल प्रस्ताव सदन में रख दिया और श्री पुरूषोत्तमदास टण्डन ने उसका समर्थन कर दिया तब उस पर आये हुए संशोधनों पर विचार आरम्भ हुआ। कार्यक्रम में श्री धुलेकर जी का संशोधन भी सम्मिलित था और वह नियमानुसार पहले ही सदस्यों के पास भेज दिया गया था। जब धुलेकर जी के संशोधन की बारी आयी तब जो कुछ हुआ वह संविधान-सभा को मंगलवार 10 दिसम्बर 1946 की कार्यवाही के प्रासंगिक अंश का हिन्दी अनुवाद नीचे उद्धृत किया जाता है। उस समय सेण्ट्रल ऐसेम्बली की तरह संविधान सभा का सारा काम अंग्रेजी में हो रहा था। अतएवं वहां हिन्दी के आशुलिपिक ज्यों का त्यों न लिख सके। उन्होंने उसका केवल सारांश अंग्रेजी में दिया जो कार्यवाही में छपा है। जो कुछ श्री धुलेकर जी ने कहा था वह सब तो नहीं छपा किन्तु जो कुछ अंग्रेजी में छपा है उसकी मूल हिन्दी मैंने धुलेकर जी से पूछी थी और जहां तक हो सका है वहां तक मैंने उन्हीं की शब्दावली रखी है। श्री कृपालानी का मूल प्रस्ताव अंग्रेजी में था इसलिए संशोधन अंग्रेजी में ही जुड़ सकता था। अतएव धुलेकर जी ने अपना संशोधन अंग्रेजी में भेजा था और जब उनसे उसे प्रस्तुत करने को कहा गया तक उन्होंने हिन्दी में यह कहकर कि 'अध्यक्ष महोदय मेरा संशोधन इस प्रकार है—' अपना संशोधन अंग्रेजी में पढ़ा। आरंभिक हिन्दी शब्दों पर अध्यक्ष ने ध्यान नहीं दिया किन्तु जब उन्होंने अपना भाषण हिन्दी में आरम्भ किया तब उन्होंने धुलेकर जी को टोका। आगे जो कुछ हुआ, कार्यवाही से हिन्दी अनुवाद में उद्धृत किया जा रहा है।

धुलेकर-अध्यक्ष महोदय, मेरा संशोधन इस प्रकार है—(यह कहकर उन्होंने संशोधन अंग्रेजी में पढ़ा और हिन्दी में बोलना आरम्भ किया) मेरे संशोधन का आशय इस प्रकार है—

अध्यक्ष (डा॰ सचिचदानन्द सिन्हा)—मैं सदस्य से नम्रतापूर्वक जानना चाहूंगा कि क्या वे अंग्रेजी नहीं जानते?

धुलेकर —मैं अंग्रेजी जानता हूं किन्तु हिन्दी में बोलूंगा।

अध्यक्ष—बहुत से सदस्य, जैसे श्री राजगोपालाचारी हिन्दुस्तानी नहीं जानते।

धुलेकर—जो हिन्दुस्तानी नहीं जानते, उन्हें भारत में रहने का अधिकार नहीं है। जो इस सदन में भारत का संविधान बनाने को उपस्थिति है और हिन्दुस्तानी नहीं जानते, वह यहां से चले जायें।

अध्यक्ष—कृपया बताएं, आप कहना क्या चाहते हैं?

धुलेकर—मैं यह संशोधन रखना चाहता हूं कि नियमावली बनाने वाली समिति सभी नियम हिन्दुस्तानी में बनाए जिनका अनुवाद अंग्रेजी में किया जाये।

अध्यक्ष—आपको अनुमति नहीं दी जाती कि आप सदन में दो भाषाओं के संबंध में बोलें और दो भाषाओं की बात कहें। आप बिल्कुल नियम के विरूद्ध बोल रहे हैं आप आचार्य कृपालानी के प्रस्ताव पर संशोधन रखने आये हैं।

धुलेकर—मेरा संशोधन है कि नियमावली बनानेवाली समिति सब नियम हिन्दुस्तानी में बनाए। बाद में उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया जाये। जब कोई नियम पढ़े तो यह हिन्दुस्तानी में पढ़े और उस पर हिंदी में ही बहस करके उसका निर्णय हिंदुस्तानी में ही मांगे अंग्रेजी में न मांगे।

धलेकर—मैं इस सदन के सदस्य की हैसियत से आचार्य कृपालानी के प्रस्ताव पर संशोधन रख रहा हूं। मुझे इस बात का अधिकार है। मैं प्रस्ताव करता हूं कि हम भारतवासी जो स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं और स्वतंत्रता प्राप्त करने जा रहे हैं हम अपनी ही भाषा में सोचें और काम करें। हम इतने दिनों में अमरीका, जापान, जर्मनी स्विट्जरलैंड और हाउस आफ कांमस की बात कर रहे हैं। इससे मेरे सिर में दर्द होने लगा। मुझे इस बात की हैरानी है कि भारतवासी अपनी भाषा में क्यों नहीं बोलते। एक भारतवासी की हैसियत से मैं चाहता हूं कि हमारी सारी कार्यवाही हिन्दुस्तानी में हो। हमें संसार के इतिहास से मतलब नहीं। हमारा इतिहास लाखों वर्ष पुराना है।

अध्यक्ष—आर्डर, आर्डर!

धुलेकर—मैं आपसे निवेदन करता हूं कि आप मुझे अपना संशोधन रखने की अनुमति दें।

अध्यक्ष—मैं आपको आगे बोलने की अनुमति नहीं देता। और आप नियम विरुद्ध कार्य कर रहे हैं।

(इसके बाद 'सिट डाउन' आदि की आवाजें आने लगीं और सदन में कुछ देर काफी कोलाहल होने लगा.....)

आ॰ कृपालानी—मैं निवेदन करता हूं कि जो प्रस्ताव आया है उसे सदन की समस्या हल करने के लिए मैं स्वीकार किये लेता हूं।

श्री धुलेकर के संशोधन ने सदन में काफी उत्तेजना उत्पन्न कर दी थी। आचायर कृपालानी के उस संशोधन को स्वीकार करने से उस समय की गड़बड़ी समाप्त हो गयी किन्तु उनके स्वीकार करने से संशोधन संविधान सभा द्वारा स्वीकार नहीं हुआ। वह स्वीकार तभी हो सकता था जब सदन उसके पक्ष में अपना मत देकर उसे स्वीकार कर लेता। यह कैसे हुआ? इसके लिए कुछ अन्तर्कथाओं का जानना आवश्यक है, जो श्री धुलेकर जी के शब्दों में ही दी जा रही हैं। ये बातें न तो उस दिन की संविधान सभा की कार्यावाही में लिखी गयीं और न नियमतः लिखी जा सकती थीं। मैंने धुलेकर जी से एक पत्र में उन्हीं के हाथों से यह सब लिखवाकर मंगवा लिया था। वह पत्र मेरे पास सुरक्षित है। धुलेकर जी लिखते हैं—

"किन्तु जब मैंने संशोधन पढ़ने के बाद हिन्दी में कहा, अध्यक्ष महोदय, मेरे संशोधन का आशय...

उसी समय उन्होंने 'आर्डर' कहना आंरभ किया।

मैं हिन्दी बोलता था और वे अंग्रेजी। चारों ओर से सिट डाउन, सिट डाउन, आर्डर, आर्डर के शब्द सुनाई दिये। किन्तु किसी सदस्य ने खड़े होकर अध्यक्ष को संबोधित नहीं किया। मैं कहता ही गया—'मैं अंग्रेजी न बोलूंगा। मेरी मातृभाषा हिन्दी है, मैं सदस्य हूं। मेरा अधिकार है।' एक अवसर का मुझे स्पष्ट स्मरण है कि जब मैंने कहा, 'मैं 1/500 हूं। मैं संविधान परिषद का घटक हूं। मुझे कोई नहीं रोक सकता। मैं न बैठूंगा। आपकी आज्ञा न मानूंगा।'

इतने में पंडित जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री, जो सबसे आगे की लाइन में अन्य मिनिस्टरों के साथ बैठे थे (लगभग पच्चीस कदम रोस्टरम पर से) दौड़े और मेरे सामने आकर गुस्से में कहने लगे—"क्या यह झांसी की सभा है जो भाइयो-भाइयो करने लगे!"

उनके सामने लाउस्पीकर न था। इसलिए यह बात कोई सुन न पाया; केवल उनका मुझपर झपटना देखा! मेरे सामने लाउस्पीकर था। मैंने कहा, "आप कौन हो! जाइये अपनी जगह। प्रेसीडेण्ट से कहिए जो कहना है। जाइए अपनी जगह बैठिए।" सारा हाल गूंज गया। सन्नाटा छा गया। तब पंडित जवाहरलाल नेहरू चुप होकर अपनी सीट पर जा बैठे। मैं बोलता ही गया और चेयरमैन "आर्डर-आर्डर" कहते ही गये। मैं बिलकुल न रूका...यह घटना रिपोर्ट में नहीं लिखी गई। किन्तु उस समय के अखबारों ने, भारत के समस्त हिन्दी व अंग्रेजी के अखबारों ने पूरी रिपोर्ट की। हिन्दुस्तान टाइम्स ने लिखा बड़े हैडिंग में : "धलेकर शैपर्डेड बाई जवाहरलाल टू हिज सीट" अर्थात् पंडित जवाहरलाल धुलेकर को हांककर उनकी जगह तक ले गये। वस्तुतः यह बात झूठी थी किन्तु हाल में इतनी गड़बड़ी थी कि लोगों ने घटना को मनगढ़ंत रूप दिया। एक बात सही थी कि समस्त हिन्दी पत्रों ने दूसरे दिन मेरी बड़ी प्रशंसा की। जगह-जगह से बधाई के पत्र आये मेरे पास और कई स्थानों में बधाई प्रस्ताव भी पास हुए।

मैं अपनी बात कहकर अपनी सीट (यू॰पी॰ ग्रुप) पर आकर बैठ गया।

इसके पांच मिनट बाद पं॰ जवाहरलाल नेहरू अपनी फ्रण्ट सीट से उठकर मेरी सीट के पीछे वाली सीट पर आकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद

बोले—"धुलेकर... मैं तना बैठा रहा क्योंकि में अपने को अपमानित समझता था और कुछ क्रोध में था। मेरे चारों ओर विश्वंभर दयाल त्रिपाठी (उन्नाव वाले), पं० वेंकेटेशनारायण तिवारी, पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि बैठे थे। ये पहले से ही भयभीत थे। अब पंडित जी के आने से समझे की मेरी (धुलेकर की) डांट-फटकार होगी। मैं जब कुछ न बोला तब पंडित जी ने कहा—

पंडित जी—कुछ सुनोगे भी?

धुलेकर जी—कहिए!

पंडित जी—यहां दक्षिण के लोग बैठे हैं।

धुलेकर—जी, फिर?

पंडित जी—मुस्लिम लीग वाले बैठे हैं।

धुलेकर—मैं वापिस तो लेने का नहीं।

पंडित जी—कौन कहता है कि वापिस लो, किसी की सुनोगे।

धुलेकर—कहिए।

इस तनातनी के वातावरण में चारों ओर के सदस्य कुछ आपस में बातें करने लगे। इन सबका ध्यान बंटा हुआ देखकर पंडित जी ने मेरे कान में कहा, "पास हो जायेगा। अब तुम इण्टरबीन न करना।" उनका इशारा मैं समझ गया।

फिर वे अन्य लोगों से इधर-उधर की बातें करके चले गये।"

अब जो कौतुक हुआ, वह उच्चतम राजनीति का प्रदर्शन था। पंडित जवाहरलाल नेहरु विशालहृदय पुरुष ही न थे, बड़े दूरदर्शी राजनीतिज्ञ (स्टेट्समैन) भी थे। वे नहीं चाहते थे कि उस अवसर पर भाषा का प्रश्न उठाया जाता। श्री धुलेकर ने उसे तो क्या, टण्डन जी, सेठ गोविन्ददास जी, नवीन जी, कमलापति त्रिपाठी, पं० वेंकटेशनारायण तिवारी, पं० विश्वभरनाथ जी त्रिपाठी आदि किसी से सलाह किये बिना यह संशोधन भेज दिया था जिसने सदन में विस्फोट का काम किया। यह स्वाभाविक था कि इस नाजुक समस्या के अचानक सामने आ जाने से वे (पंडितजी) झुंझला जाते। उन्होंने उसे रोकने का प्रयत्न किया किन्तु धुलेकरजी जिस मिट्टी के बने थे वह 'न दैन्य न पलायन' वाली थी। पंडित जी इसे समझ गये। दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होने का कारण वे भी जानते थे कि स्वतंत्र देश की अपनी भाषा होनी चाहिए। यह सिद्धान्त की बात थी और वे सिद्धान्ततः इसे मानते और उचित समझते थे। यह व्यवहार में कितनी और कब तक आ सकती है, यह दूसरी बात थी। अतएव जहां तक सिद्धान्त का प्रश्न था , उनका विरोध पंडित जी की संचेत्य राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीयता सिद्धान्त के रूप में कभी नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त अपनी उत्तेजना में धुलेकर जी कुछ ऐसी बातें भी कह गये थे जो पंडित जी के समान स्वाभिमानी और संचेत्य राष्ट्रीयता वाले व्यक्ति को छू गयी हो। उनमें से एक ऐसी बात जो संविधान सभा की रिपोर्ट में आयी है, अर्थात् मुझे यह देखकर हैरानी है कि भारतवासी अपनी भाषा में क्यों नहीं बोलता? संयोग से यह नाजुक समस्या श्री धुलेकर ने उनके सामने खड़ी कर ही दी और वह यदि न मानी जाती तो एक बड़े सिद्धान्त को आधात पहुंचता। श्री धुलेकर को चाहिए था कि इस समस्या को रखने के पहले वे पंडित जी से यदि सलाह न भी करते तो उन्हें सूचित तो कर ही देते तथा सदन में प्रचार कर अधिकांश सहानुभुति रखने वाले सदस्यों को अपने पक्ष में कर लेते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अपने भाषण में कभी वे "हिन्दी' का नाम लेते, कभी हिन्दुस्तानी का। अतएव भय यह था कि मुस्लिम लीग तथा कुछ अन्य भाषाभाषी भी इसका विरोध करते। हिन्दी से सहानुभूति रखने वालों के सामने यह प्रश्न सहसा ही आ गया था और वे अपने दल से भी समर्थन लेना तो दूर सलाह भी नहीं कर सकते हैं, इसलिए उनका मत भी अनिश्चित था। संभव यही था कि यह संशोधन स्वीकार न किया जाता। किन्तु धुलेकर जी साहसी ही नहीं, दुःसाहसी भी थे और वे इस अंग्रेजी कहावत में विश्वास करते थे कि 'नथिंग वेंचर, नथिंग हैव।" वे एक बड़ा दांव लगा बैठे थे और संयोग की बात, वे सफल हो गये।

ऐसा मालूम होता है कि सदन में झगड़ा समाप्त करने के लिए पंडित जी नें आचार्य कृपलानी को संशोधन को स्वीकार करने की सलाह दी और फिर उसे सदन द्वारा स्वीकार करने की ऐसी तरकीब निकाली कि उस पर अलग मत न लेकर प्रस्ताव और सब संशोधनों को एक साथ पारित कर दिया गया। यह पंडित जी की राय से ही हो सकता था। यह सदन की छपी हुई कार्यवाही से स्पष्ट है जो इस प्रकार है:—

अध्यक्ष——मैं यही कह रहा था। अब संशोधनों पर विचार समाप्त हो गया। अब मैं उन पर मत लेने जा रहा हूं। किन्तु मैं इस लम्बे प्रस्ताव को दोबारा नहीं पढ़ रहा। यदि आचार्य कृपलानी चाहें तो वे इसे फिर पढ़ सकते हैं। हमने इस पर पूर्ण विचार कर लिया है। और मैं इसे सब इन संशोधनों के साथ सदन द्वारा स्वीकृत घोषित कर रहा हूं।'

धुलेकर जी ने अपने पत्र में मुझे लिखा, पंडित जी की उदारता को मैं कभी भूल नहीं सकता। उन्होंने जब देखा उपस्थिति बिलकुल कम है (क्योंकि ज्यादातर सदस्य उकताकर बाहर चाय पीने व गप्पे मारने चले जाते हैं। मेरे साथी भी यू०पी० के चले गये थे सदन में लगभग 50-60 सदस्य होंगे) चेयरमैन को इशारा कर दिया कि सब संशोधन अलग—अलग न पढ़कर सब पर वोटिंग करा लीजिए। तुरन्त सब पर इकट्ठा वोटिंग हुआ। सदस्यों ने 'यस' कह दिया। इकट्ठे पास हो गये इस प्रकार मेरा भी पास हो गया।

मैं पंडित जी का ऋणी हूं और भारत भी उनका ऋणी रहेगा। उनके कारण संविधान सभा के पहले ही दिन धुलेकर जी के साहसिक प्रयास और पंडित जी की दूरदर्शिता, उदारता, विशालहृदयता तथा राजनयिक पटुता के कारण संविधान सभा के पहले दिन ही उसमें हिन्दी को स्थान मिला जो वास्तव में आगे चलकर उसे भारत की राजभाषा बनाये जाने की सबल भूमिका प्रमाणित हुआ। समझ में नहीं आता कि नेहरु की सराहें कि सराहे धुलेकर की!'

इस प्रकरण से पंडित जवाहरलाल जी के उच्च चरित्र का एक पक्ष और उजागर होता है। यद्यपि श्री धुलेकर जी ने सदन में उनकी एक प्रकार से अवमानना ही की थी, तथापि इस कारण वे उनसे नाराज या विरक्त नहीं हुए। उन्हें उत्तर प्रदेश की विधान-सभा के लिए बराबर टिकट देते रहे और उन्होंने उनके विधान-परिषद की अध्यक्षता प्राप्त करने से कोई अप्रसन्नता प्रकट नहीं की। यह उदारता और विशाल-हृदयता आज की राजनीति में नहीं परिलक्षित होती।

यह महत्वपूर्ण घटना आज हिन्दी वाले भूल गये हैं। मैंने उन्हें इसका स्मरण दिलाने के लिए ही इसे नहीं लिखा, प्रत्युत श्री धुलेकर जी के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि के अभिलेख के रूप भे भी लिखा है। गौरव की बात है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय का एक स्नातक, तो स्वयं महाराष्ट्रीय था, हिन्दी को भारत की राजभाषा बनाने की आधारशिला रखने के लिए इतना महान साहस करता और अपने राजनीतिक भविष्य को खतरे में डालता। मित्रवर धुलेकर जी की स्मृति को शत-शत प्रणाम!

'मानस के सांचे में, से साभार

हिन्दी सीखने का मेरा प्रेरणास्रोत

☐ सन्त राम बी०ए०

(श्री सन्तराम बी०ए० हिन्दी के वयोवृद्ध क्रान्तिकारी लेखक और समाज-सुधारक हैं, जिन्होंने 14 फरवरी, 1987 को अपने यशस्वी जीवन के सौ वर्ष पूरे किए। उन्होंने विभिन्न विषयों पर लगभग शताधिक पुस्तकें और शोध लेख लिखे हैं। उनकी कई पुस्तकें केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा पुरस्कृत हुई हैं। केन्द्रीय सरकार ने हिन्दी के इस परम तपस्वी मौन साधक तथा क्रान्तिकारी साहित्यिक के रूप में 'महात्मा गांधी पुरस्कार' से भोपाल में सम्मानित किया। राज्य सरकार ने 'पंजाब के श्रेष्ठ हिन्दी विद्वान' के रूप में उन्हें चण्डीगढ में सम्मानित किया।

प्रस्तुत लेख में श्री सन्तराम जी के विचार उनकी जीवनी "मेरे जीवन के अनुभव" से उद्धृत है। —संपादक)

मेरा जन्म, मेरी शिक्षा-दीक्षा पंजाब में हुई। जिन दिनों मैं स्कूल में पढ़ता था उन दिनों पंजाब में हिन्दी किसी भी स्कूल में नहीं पढ़ाई जाती थी। बड़े-बड़े नगरों के हाई स्कूलों में कहीं-कहीं संस्कृत की शिक्षा का प्रबन्ध था परन्तु बहुत ही थोड़े छात्र संस्कृत लेते थे। मैं तो संस्कृत और नागरी लिपि की हंसी उड़ाया करता था।

कालेज के तीसरे वर्ष तक मुझे नागरी अक्षरों का ज्ञान तक नहीं था। उस समय मेरे विचार में सबसे अधर भाषा फारकी, सबसे सुन्दर देश फारस और सबसे बड़े कवि सादी, उमर ख्याम और फिर दौसी आदि के मैं स्वप्न देखा करता था कि दजला और फरात नदी के तट पर बैठ कर खजूर खाऊंगा और विवाह करके वहीं बस जाऊंगा। परन्तु लाहौर में आर्य समाज के सत्संग से विचारों में भारी परिवर्तन हो गया। संस्कृत भाषा की मधुरता और भारत की सुन्दरता के आगे फारस और ईरान हवा हो गए।

उन दिनों आर्य-समाज का प्रमुख पत्र "सद्धर्म प्रचारक" "उर्दू में निकला करता था। मैं उस पत्र को बड़े चाव से पढ़ा करता था। इसके सम्पादक महात्मा मुंशी राम बाद को स्वामी श्रद्धा नन्द जी थे। कुछ दिन बाद उन्होंने घोषणा कर दी कि अमुक दिनांक से पत्र हिन्दी में निकलेगा, इस लिए पाठक जो हिन्दी न जानते हों वे सीखना आरम्भ कर दें। उसी पत्र को पढ़ने के लिए मैंने नागरी अक्षर सीखना आरम्भ कर दिया। कठिनाई तो पड़ी क्योंकि नियमित रूप से पढ़ाने वाला कोई न मिलता था। परन्तु कठिनाई हिंदी के अनुराग को न दबा सखी। "सद्धम प्रचारक" के एक स्तम्भ को पढ़ने में मुझे एक घंटा लग जाता था। हमारे प्रिंसीपल और अंग्रेजी के प्राध्यापक श्री एस० राबनसन ने छात्रों को अच्छी अंग्रेजी लिखना सीखने की एक विधि बताई थी। उनका परामर्श था कि कोई एक अच्छा से लेख चुन लो और उस लेखक की कोई अच्छी सी पुस्तक लेकर उसमें से प्रतिदिन नियमित रूप से कम से कम दस पन्द्रह पंक्तियों का अनुवाद अपनी भाषा में करते जाओं। प्रत्येक दिन जितना अनुवाद करो उसके नीचे उस दिन का अंक देते जाओ। एक सप्ताह अनुवाद करने के उपरान्त फिर अपने उस अनुवाद का मूल पुस्तक को देखे बिना, पुनः अंग्रेजी में अनुवाद करो और उस अंग्रेजी अनुवाद का मूल पुस्तक की अंग्रेजी के साथ मिलान करके, उसकी अशुद्धियां ठीक करो। इस अभ्यास से तुम्हारी शैली मूल लेखक जैसी हो जाएगी। मेरे दूसरे सहपाठी तो उर्दू में अनुवाद करते थे, परन्तु मैं हिन्दी का बहुत अल्प ज्ञान रहते भी, टूटी-फूटी हिन्दी में ही अंग्रेजी अनुवाद करता था। हिन्दी के प्रचण्ड अनुराग में मैं पत्र व्यवहार भी हिन्दी में ही करने लगा। "आर्य भाषा हिन्दी का सीखना प्रत्येक आर्य हिन्दू का परम कर्त्तव्य है:— स्वामी दयानन्द के इस उपदेश का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसी प्रभाव से मेरी रूचि उर्दू से हट कर हिन्दी की ओर हुई।

सन 1912 में मैंने "हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों की उन्नति के उपाय" पर एक लेख लिखा। इस पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने मुझे चांदी का राधा कृष्ण दास स्मारक पदक" प्रदान किया। इसके बाद सन 1916 में उसी सभा ने स्कूलों की स्वास्थ्य रक्षा विषय पर निबन्ध के लिए सीने का उला स्मारक पदक मुझे प्रदान किया।

मैंने पहले पहल "कन्या महा विद्यालय जालन्धर से निकलने वाली पत्रिका "पांचाल पेडिता" लाहौर से निकलने वाले "चान्द" और कांगड़ी के "सद्धर्म प्रचारक" में लेख लिखना आरम्भ किया। कुछ दिन बाद मैंने प्रयाग की प्रसिद्ध पत्रिका "सरस्वती" में छपने के लिए एक लेख भेजा। मेरी धारणा थी कि मैं बी०ए० पास हूं मेरा लेख पत्रिका में अवश्य स्थान पायेगा। परन्तु बात उल्टी हुई। पत्रिका के सम्पादक आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने मेरा लेख लौटा दिया। उन्होंने साथ पत्र भी लिखा कि इस लेख की भाषा संशोधन करने के लिए मुझे तीन दिन चाहिए।

लेख के लौट आने और द्विवेदी जी की टिप्पणी से मेरे हृदय पर आघात तो पुहंचा, परन्तु दर्प दलन से रुष्ट होने के स्थान में मैंने बड़े विनीत भाव से द्विवेदी जी को लिखा—"महाराज, पंजाब के किसी स्कूल कालेज में हिन्दी नहीं पढ़ाई जाती, इसीलिए मैंने गुरूमुख से कभी हिन्दी नहीं सीखी। आपकी बड़ी कृपा होगी कि यदि आप मुझे बताएंगे कि मैं किस व्याकरण और किस कोप की सहायता से हिन्दी लिखना सीख सकता हूं। इस पर उन्होंने कृपा कर मुझे लिखा कि किसी विशेप कोप और व्याकरण की आवश्यकता नहीं। केवल निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है:—

1. वाक्य यथा संभव छोटे और सरल हों।

2. अप्रचलित शब्दों का उपयोग न किया जाए।

3. ऐसी भाषा लिखी जाए जिसे 12-14 वर्ष का बालक भी समझ सके।

4. लेख का ज्ञानवर्धक होना आवश्यक है। उनका यह भी उपदेश था कि भाव अनोखा होना चाहिए, भाषा कैसी हो। इसके साथ ही उन्होंने कलकत्ता के "भारत मित्र" और छिन्दबाड़ा के श्री प्यारे लाल मिश्र की

पुस्तक "विदेशी पत्रों का इतिहास" पढ़ने की भी सिफारिश की।

मैंने द्विवेदी जी को धन्यवाद किया और उनको लेख भेजना आरम्भ कर दिया। द्विवेदी जी मेरे लेख को संशोधित करके छाप देते। लेख छपने पर मैं उसे दो तीन बार ध्यान से पढ़ता और उसमें किए संशोधनों को नोट कर लेता इससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। भविष्य में मैं ऐसी भूलें करने से बचने का उपाय करता रहा।

इसके बाद मैंने सन 1914 में लाहौर से "उषा" नामक मासिक पत्रिका निकाली। फिर 1920 में जालन्धर कन्या महाविद्यालय की पत्रिका "भारती" का सम्पादन किया। तदनन्तर "जात-पात तोड़क मंडल" लाहौर की दो मासिक पत्रिकाएं "क्रान्ति (उर्दू) और "युगान्तर" (हिंदी) का सम्पादन किया। अब "विश्व ज्योति" साधु आश्रम होशियारपुर (पंजाब) का सम्पादन कर रहा हूं।

मैंने जो कुछ लिखा है या अब लिखता हूं, इसमें मेरी भावना यह कभी नहीं रही की इससे मुझे उच्च कोटि का मौलिक साहित्यकार होने की ख्याति मिले। मैं एक तो जनता के हितार्थ अपने विचारों के प्रचार के लिए लिखता हूं कि जिन भाषाओं को मैंने बड़े परिश्रम से सीखा है उसमें जो कुछ उपादेय है वह सब में हिन्दी में अपने देश बन्धुओं के लिए उपलब्ध कर दूं। लाभ उठाने के लिए, मेरे देश-बन्धुओं को वे भाषाएं पढ़ने का प्रयोजन न रहे। इसीलिए मैंने अपना अधिकांश समय अनुवाद-कार्य पर लगाया है।

हमारे देश में अभी अनुवाद-कार्य को कोई महत्व नहीं दिया जाता। और अनुवादक के प्रति लोगों में आदर-दृष्टि नहीं। परन्तु अनुवादकर्ता सभ्यता की एक बहुमूल्य सेवा करता है। वह अतीत और वर्तमान के बीच, अथवा एक विदेशी राष्ट्र और अपने लोगों के बीच एक पुल तैयार करने में सहायता देता है। अनुवाद द्वारा एक राष्ट्र के साहित्य, तत्व-ज्ञान और पदार्थ विज्ञान से दूसरे सभी राष्ट्र लाभ उठा सकते हैं। वे संस्कृति के दूत हैं। इसलिए आवश्यकता है कि हिन्दी जगत अनुवाद कार्य की महत्ता को समझे।

सन 1941 के अखिल भारतीय हिन्दी, साहित्य सम्मेलन का 30वां वार्षिक अधिवेशन अबोहर, जिला फिरोजपुर में हुआ था। इसकी साहित्यिक परिषद का स्वागताध्यक्ष मुझे बनाया गया था। वहां 29 दिसम्बर 1941 को जो अभिभाषण दिया था उसमें मैंने साफ कहा था "साहित्यिक का जो अर्थ आज लिया जाता है उस अर्थ में मैं साहित्यिक नहीं हूं। मेरा कार्य-श्रेत्र अधिकतर सामाजिक सुधार है। मैंने स्कूल कालेज में उर्दू फारसी पढ़ी थी। पीछे से जब राष्ट्रीय भावना जागृत हुई तो हिन्दी सीखी। इस विषय में मुझे महर्षि दयानन्द से प्रेरणा मिली है। मेरी धारणा है कि हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। यह समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र मे बांध सकती है। यह हमें भारत भूमि से प्यार करना सिखाती है। यह गंगा और यमुना पर, हिमालय और मलयाचल पर, राम और कृष्ण पर, वसिष्ठ और बाल्मीकि पर हमारा प्रेम और भक्ति बढ़ाती है। यह किसी विदेशी लिपि में नहीं वरन्, भारत की अपनी ही लिपि में लिखी जाती है। यह भारतीय संस्कृति, भारतीय विचार परम्परा और भारतीय तत्वज्ञान की भाषा है। जैसे कोई अंग्रेज चाहे वह वेल्श में रहता हो और चाहे न्यूजीलैंड में, ऐसा नहीं हो सकता जिसे अपनी अंग्रेजी भाषा पर प्रेम एवं गर्व नहीं हो। वैसे ही जिस भारतवासी को हिन्दी भाषा पर प्रेम नहीं वह भारतीय कहलाने का अधिकारी नहीं। ऐसे ही विचार थे जिनकी प्रेरणा से मैंने उर्दू, फारसी का मोह छोड़ कर हिन्दी को अपनाया था। मैं चाहता हूं कि हमारे हिन्दी के विद्वान केवल उपन्यास, कहानी और कविता ही न लिखा करें, राष्ट्रभाषा हिन्दी की जीवनोपयोगी दूसरे नाना विषयों में पुस्तकों की भी बड़ी आवश्यकता है।

पंजाब में हिन्दी और हिन्दी-साहित्याकारों के विषय में अबोहर सम्मेलन में मैंने जो कुछ कहा था आज भी मेरी वही सम्मति है। मैंने कहा था—

"हिन्दी भाषी अथवा हिन्दी प्रधान प्रान्तों में 'सम्मेलन' के सामने हिन्दी-साहित्य की उन्नति का प्रश्न हो सकता है। परन्तु पंजाब जैसे प्रान्त में जहां हिन्दी को जान के लाले पड़े हुए हैं, वहां न्यायालय में तो उसे कभी स्थान मिला ही नहीं, स्कूल और कालेजों में से भी उसे निकाला जा रहा है, वहां हमारे सामने सबसे पहले हिन्दी के पांव जमाने का प्रश्न है। हिन्दी के पांव जम जाने पर, कालान्तर में, वहां साहित्य का सर्जन अपने आप होने लगेगा। इसलिए पंजाब में इस समय उच्च कोटि का साहित्य उत्पन्न करने की बात करना बड़ा ही हास्यस्पद है।"

"भारत को उतना बाहर से शत्रुओं का भय नहीं जितना कि अपनी भीतरी फूट का है। इसलिए हिन्दी-साहित्य सेवियों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे ऐसा साहित्य तैयार करें जो भारत की रक्षा में सहायक हो। मेरे विचार में, जो साहित्य राष्ट्र को उन्नत और स्वाधीन बनाने का काम नहीं करता वह साहित्य-संज्ञा का अधिकारी नहीं।"

कोई भी हिन्दी-प्रेमी पंजाबी बोली को नष्ट करके उसका स्थान हिन्दी को दिलाने को नहीं कहता। पंजाबी बोल-चाल की बोली है और किसी अंश तक इसमें साहित्य भी रचा जाता रहेगा। परन्तु राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिए हिन्दी सीखना प्रत्येक पंजाबी बालक के लिए आवश्यक है। जिस साहित्यक-हिन्दी का प्रचार राष्ट्रभाषा के रूप में हम चाहते हैं यह सभी प्राप्तों के लिए एक ही है।

"मैं सदा से संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पक्षपाती रहा हूं। मेरी धारणा है कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही सारे देश में राष्ट्र भाषा हो सकती है। कारण यह कि किसी समय संस्कृत सारे भारत की बोलचाल की नहीं, तो कम से कम साहित्यिक भाषा अवश्य रही है। आज भी काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक हमारे सारे संस्कार संस्कृत में होते हैं। भारत की सभी भाषाओं में संस्कृत की प्रचुरता ही है। मैं विदेशी भाषाओं के शब्द लेने के विरुद्ध नहीं। पर हमें दूसरी भाषा के वही शब्द लेने चाहिएं जिसके पर्यायवाची शब्द हमारी अपनी भाषा में न हो।"

"उन दिनों उर्दू और हिन्दी के संगम से एक बड़ी भाषा "हिन्दुस्तानी" बना कर हिन्दू-मूस्लिम एकता की स्थापना की जा रही थी। मैंने भी सभा के संचालकों से अपने विचार प्रकट करने को थोड़ा सा समय मांगा। मैं चाहता था पहले कुछ लोग बोल लें, तब मैं बोलूं, ताकि उनके तर्क का खंडन कर सकूं। परन्तु हिन्दी का समर्थक एक भी वक्ता न था। इसलिए मुझे पहले ही बोलने के लिए कहा गया। मैंने और बातों के अतिरिक्त कहा कि "हिन्दुस्तानी जानने वाला न तो तुलसी-रामायण भली भांति समझ पाएगा और न हाजी, जौक की कविता ही। आइए सोलस ट्रायङ्गल को हिन्दी में रामद्विभुज त्रिकोण और उर्दू में मुसल्लम मुसरबीडल साकेन कहते हैं, हिन्दुस्तानी में इसे क्या कहेंगे? इसी प्रकार थर्मामीटर को तापमापक यंत्र और उर्दू में मिक्यासुल हरारत कहते हैं। हिन्दी और उर्दू के संगम से

उसका क्या नाम होगा? हिन्दुस्तानी के बहाने तो हिन्दी और उर्दू दोनों को मिट्टी में मिलाया जा रहा है और अनायास मेरे मुख से यह उर्दू पद्य निकल पड़ाः—

"आखें कहें कि दिल ही ने मुझकों किया खराब
और दिल कहे कि आंखों ने मुझकों डुबा दिया।
बिगड़ा किसी का कुछ न मगर हाय मुफ्त में,
दोनों की ज़िद ने खाक में हमको मिला दिया।"

19-20 जुलाई 1958 को भोपाल में होने वाले राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन के आठवें अधिवेशन में मुझे इन शब्दों के साथ—"हिन्दी के परम तपस्वी मौन साधक तथा क्रान्तिकारी साहित्यिक पं० सन्त राम बी०ए० के करकमलों में-उनके द्वारा की गई राष्ट्रभाषा की अविस्मरणीय सेवाओं के उपलक्ष्य में सम्मान स्वरूप 1501/- रुपए तथा यह ताम्रपत्र सादर समर्पित है"—महात्मा गांधी पुरस्कार दिया गया। पुरस्कार लेने के बाद मुझे भी कुछ समय मिला। मैंने पुरस्कार के लिए धन्यवाद देते हुए कहा मैं पंजाब से आया हूं। मैंने पंजाब का अन्न, जल खाया है। इसलिए पंजाब का भी मुझ पर कुछ ऋण है। इस समय भारत के राष्ट्रपति (डा० राजेन्द्र प्रसाद जी उद्घाटनकर्ता) और शिक्षा मंत्री (डा० कैलाश नाथ काटजू) दोनों यहां बैठे हैं इन दोनों से प्रार्थना है कि पंजाब में गुरुमुखी को बलात बच्चों पर ठूंसा न जाए।

मैंने कहा कि क्षेत्रीय भाषाओं का उन्माद राष्ट्र की ले डूबेगा। यदि पंजाबी मेरी मातृ भाषा है तो इसका अर्थ है कि पंजाब मेरी मां है। यदि बंगला बंगालियों की, गुजराती गुजरातियों की और मराठी मराठों की मातृ भाषा है तो बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र को उनकी मां मानना आवश्यक है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न होगा कि यह भारत माता किसकी माता है? क्या वह निपूति है? बोली के आधार पर अलग-अलग होने की यह कुरीति हमें ले डूबेगी। भारत की एकता नष्ट हो जाएगी।

अगर किश्ती डूबी तो डूबेंगे सारे।
न तुम ही बचोगे, न साथी तुम्हारे।।

इसी प्रकार 20 मार्च 1961 में पंजाब सरकार ने मुझे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ विद्वान के रूप में चण्डीगढ़ में सम्मानित किया। इस समारोह के अध्यक्ष भारत सरकार के शिक्षा मंत्री डा० कालू लाल श्रीमाली थे। पुरस्कार लेने और धन्यवाद करने के बादे मैंने कहा कि मैंने बी०ए० तक उर्दू, फारसी परन्तु लाहौर में आर्य समाज के सम्पर्क से मेरे विचार बदल गए। मैंने देखा ऋषि दयानन्द जी का जन्म काठियाबाड़ में हुआ। उस प्रदेश की बोली गुजराती है। वे धारावाह संस्कृत बोलते थे। परन्तु उन्होंने अपना सारा प्रचार हिन्दी में किया। यहां तक कि अपना अमूल्य ग्रन्थ " सत्यार्थ प्रकाश" भी उन्होंने गुजराती या संस्कृत में नहीं, वरन् राष्ट्र भाषा हिन्दी में ही लिखा। वे इतनी महान विभूति थे। वे "सत्यार्थ प्रकाश" गुजराती भाषा में लिखते तो मेरे जैसे लाखों उनके श्रद्धालु विवश होकर गुजराती सीखते।

ऋषि दयानन्द के बाद हम महात्मा गांधी की ओर देखते है। उनका जन्म भी किसी हिन्दी प्रान्त का नहीं। काठियावाड़ (गुजरात) का ही था। अंग्रेजी पर उनका मातृभाषा के समान ही अधिकार था। पर वे सदा हिन्दी ही बोलते और प्रचार करते।

गांधी जी के बाद जब मेरी दृष्टि अपने पंजाब के गुरु नानक, गुरु तेग बहादुर और गुरु गोविन्द सिंह पर पड़ी, तो क्या देखा कि पंजाब में जन्म लेकर भी उन्होंने हिन्दी द्वारा ही प्रचार किया। गुरु नानक का प्रसिद्ध भजनः—

"साधो मन का मान त्यागी,
काम, क्रोध, संगत दुर्जन की अहर्निश ताते भागो।"

और गुरु गोविन्द सिंह का—

नमस्तम् नमस्तम्, नमस्तम् भवानी
सदा राखियों मोहे कृपा कर पाणी।

मैंने यह भी कहा कि मैं राष्ट्र की एकता चाहता हूं भारत में हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है। भारत के किसी एक छोर से दूसरे छोर तक चले जाइए, आपको अवश्य एक बहुत बड़े हिन्दी प्रदेश में से होकर जाना पड़ेगा। इस भाषा को बोलने और समझने वाले जितने लोग हैं उतने भारती की किसी दूसरी आंचलिक बोली के नहीं।

राष्ट्रीय एकता के लिए मैंने राष्ट्रभाषा हिन्दी को ही नहीं अपनाया वरन् प्रान्तीयता और जात-पात की संकुचित और कुत्सित भावना को दूर करने के लिए अपना विवाह भी जात-पांत और प्रान्त से बाहर महाराष्ट्र में किया। जब तक हम प्रान्तीयता और जात पांत नहीं छोड़ेगे हमारा राष्ट्र कभी सुदृढ़ नहीं बन सकता।

हमने अपने संविधान में हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया है। इसलिए हमें देखना है कि सरकारी कामकाज में हिन्दी का अधिक से अधिक उपयोग हो।

राजीव गांधी,
पूर्व प्रधान मंत्री

भाषा की सरलता की समस्या

—डा० नगेन्द्र*

जब से संविधान में हिन्दी को भारत की राजभाषा के रूप में स्वीकृत किया गया है उसकी सरलता की समस्या अनेक प्रकार से अनेक क्षेत्रों से हमारे सामने आ रही है। बात तर्कसंगत है, राज जनता का है और राजभाषा के गौरव की अधिकारिणी वही हो सकती है जो जनता की भाषा हो। हिन्दी के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यही था और जनता की भाषा का निश्चय इसी के बल पर उसे राजभाषा होने का गौरव मिला। जनता की भाषा निश्चय ही सरल होनी चाहिए क्योंकि जनता का निर्माण जिस विराट जनसमूह से होता है वह न विदग्ध होता है और न पंडित।

हिन्दी से जो सरलता की मांग की जाती है वह अकारण नहीं है—सरलता उसका दायित्व है और इससे उसका सहज गुण बन जाना चाहिये।

किन्तु सरलता का क्या अर्थ है; वे कौन से तत्व हैं जिससे सरलता का निर्माण होता है, यह निर्णय करना सरल नहीं है। सरल शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के "सिम्पुल" शब्द के पर्याय रूप में होता है और चूंकि हिन्दी की सरलता के लिए अधिकतर वे ही लोग व्यग्र हैं जो अंग्रेजी में सोचने-समझने के अभ्यस्त हैं इसलिए सरलता का स्वरूप-विश्लेषण करने के लिए अंग्रेजी के "सिम्पुल" शब्द का आंचल पकड़े रहना जरूरी होगा आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार "सिम्पुल" शब्द के चार अर्थ हैं: (1) अमिश्र—जिसकी रचना केवल एक ही तत्व से हुई हो, (2) अखंड—जो उलझा हुआ या जटिल या अलंकृत न हो—उदाहरणार्थ अमुक लेखक की शैली सरल और निराभरण है, (3) निरपेक्ष, (4) सीधा-सादा, अकृत्रिम, सहज, निश्छल। संस्कृत में सरल शब्द का शब्दार्थ है ऋजु, सीधा, अवक्र शुद्ध, वास्तविक, निश्चय आदि।

उपर्युक्त अर्थों में से कुछ ही ऐसे हैं जो भाषा के प्रसंग में सार्थक होते हैं जैसे सीधा-सादा, सहज, अकृत्रिम, उलझाव और जटिलता से मुक्त, अवक्र और निराभरण। इनके अनुसार सरल भाषा वह है—(1) जो स्वाभाविक हो, (2) जिसकी वाक्य-रचना सीधी और सुलझी हुई हो—जिसमें किसी प्रकार की जटिलता और उलझन न हो अर्थात् वाक्य छोटे और सीधे हों। जिनमें किसी प्रकार का घुमाव और पेच न हो, (3) जिसमें किसी प्रकार का आडम्बर, अलंकार और वक्र प्रयोग न हो, (4) जो अभीष्ट अर्थ को—मन की बात को ठीक-ठीक और बिना छलछद्म के व्यक्त करे। निश्छलता सरल व्यक्ति के समान सरल भाषा का भी अनिवार्य गुण है। ये सभी तत्व सामान्यतः जितने सरल प्रतीत होते हैं उतने वास्तव में हैं नहीं और इन सभी की व्याख्या की आवश्यकता है।

स्वाभाविकता—स्वाभाविकता का अर्थ है अपनी प्रकृति के अनुकूल होना अतः भाषा की स्वाभाविकता से तात्पर्य है अपने मूल प्रसंग और अर्थ की अनुकूलता। यदि मूल अर्थ जटिल है अर्थात् उसमें अनेक अर्थ छायाओं का मिश्रण है तो जबरदस्ती सरल और छोटे वाक्यों का प्रयोग भाषा को प्रसंग तथा मूल अर्थ के प्रतिकूल होगा और परिणामतः उसे अस्वाभाविक बना देगा। जिस प्रकार जटिल विचार श्रृंखलाओं के अभ्यस्त किसी सूक्ष्मचेता व्यक्ति को सरलता का अभिनय करते देखकर हमारे मन में तृष्णा उत्पन्न होती है, इस प्रकार सूक्ष्म और जटिल विचार संघात की अभिव्यक्ति के लिए छोटे और सरल वाक्यों की बालक्रीड़ा की भयंकर प्रवंचना है। इस तरह की कृत्रिम और मिथ्या सरलता को मर्मी आचार्य लांजाइनस ने बालिशता कहा है। जिस प्रकार कृत्रिम अलंकार-मोह से व्यक्तित्व का ह्रास होता है उसी प्रकार सरलता के अभिनय से भी आत्मा का आकर्षण होता है: समाज के लिए मिथ्या वैभव और गरिमा का प्रदर्शन करने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति ज्यादा खतरनाक हैं जो सादगी का अभिनय करते हैं। इसी तर्क से भाषा के प्रसंग में भी कृत्रिम अलंकार सज्जा की अपेक्षा कृत्रिम सरलता अधिक अस्वाभाविक है, क्योंकि इस प्रकार की भाषा से प्रवंचना की आशंका अधिक रहती है। निष्कर्ष यह निकला कि भाषा की सरलता एक सापेक्ष गुण है जो प्रसंग और मूल अर्थ का अनुसारी है। जीवन के सरल सामान्य अनुभवों की माध्यम-भाषा की स्वाभाविकता एक प्रकार की होगी और सूक्ष्म-जटिल तथा गुम्फित अनुभूतियों की भाषा की स्वाभाविकता का रूप दूसरा होगा। राजनीति की बारीकियों को सरल और सहज हिन्दी में, छोटे-छोटे जुम्लों और बोलचाल के लफ्जों में अदा करने का आग्रह करना भाषा-विज्ञान और अभिव्यंजना शास्त्र के इस प्राथमिक नियम की अवमानना करना है।

जटिलता का अभाव—इसमें सन्देह नहीं कि जटिलता भाषा का दुर्गुण है। किन्तु जटिलता के दो रूप हैं—एक आंतरिक और दूसरा बाह्य। आंतरिक जटिलता से अभिप्राय है अर्थ की जटिलता—अर्थात् चिन्तन की जटिलता। जहां चिन्तन की गति ऋजु न होकर जटिल और वक्र है वहां भाषा जटिलता से मुक्त नहीं हो सकती और यदि उसे सरल करने का बरबस प्रयत्न किया जायेगा तो वह सही अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकेगी। यहां मूल दोष चिन्तन का है। भाषा की जटिलता तो विचार की जटिलता की छाया है और विचार की छाया वाक्य-रचना आदि से है—अनभ्यस्त लेखक या अयोग्य लेखक अशुद्ध शब्द-प्रयोग, वाक्यांशों के अनुपयुक्त नियोजन आदि के द्वारा वाक्य रचना को उलझा देते हैं जिससे अर्थ-व्यक्ति बाधित हो जाती है। यह दोष अनभ्यास और अयोग्यता से उत्पन्न होता है और उसका परिहार कठिन नहीं है।

आडम्बर और अलंकार से मुक्ति—सरल भाषा का एक गुण है आडम्बर और अलंकार से मुक्ति। यहां 'आडम्बर' शब्द के विषय में भ्रांति नहीं हो सकती, वह प्रत्येक स्थिति में दोष है और भाषा भी इसका अपवाद नहीं। जिस प्रकार हीनता-ग्रस्त व्यक्ति व्यवहार एवं रहन-सहन में आडम्बर का समावेश कर अपने अभाव को छिपाने की व्यर्थ चेष्टा करते हुए समाज में निन्दा के भागी बनते हैं उसी प्रकार अयोग्य लेखक भी भाषा को आडम्बरपूर्ण बनाकर साहित्य में निंदनीय बन जाते हैं। किन्तु अलंकार भाषा

---

*भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय

का दोष न होकर गुण, अलंकार-मोह या कृत्रिम अलंकार या अनुपयुक्त अलंकार ही भाषा का दोष हो सकता है। अलंकार जहां सहजात होता है वहां वह भाषा का अनिवार्य गुण बन जाता है—उससे सरलता बाधित नहीं होती। प्रायः अलंकार का प्रयोग अर्थ स्पष्ट करने के लिये ही किया जाता है। हमारा मन्तव्य जितना सादृश्य-मूलक अलंकार से साफ हो सकता है उतना रूढ़ शब्दार्थ से नहीं होता। अतः अलंकार को सरलता का विरोधी तत्व मानना ठीक नहीं है।

सही अभिव्यक्ति—अभीष्ट अर्थ की यथावत् अभिव्यक्ति सरल भाषा का अन्तिम और अनिवार्य लक्षण है। जिस प्रकार निश्छल हुये बिना व्यक्तित्व की सरलता असम्भव है इसी प्रकार अर्थ की निश्छल अभिव्यक्ति के बिना भाषा सरल नहीं बन सकती। अर्थ यदि अमिश्र है तो भाषा की सरलता अमिश्र वाक्य-प्रयोग आदि में निहित होगी, परन्तु यदि अर्थ में ही जटिलता है तो मिश्र वाक्य-प्रयोग और व्यंजक पर्यायों के बिना अर्थ-व्यक्ति सम्भव नहीं हो सकती। और, जहां अर्थ-व्यक्ति ही नहीं है वहां सरलता कैसी?

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत प्रसंग में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(1) भाषा अपने मूल और सहज रूप में माध्यम ही है—अर्थ (विचार और अनुभूति) से निरपेक्ष शब्द (अभिव्यक्ति) की सत्ता नहीं। अतः भाषा का कोई निरपेक्ष नहीं हो सकता।

(2) इस तर्क के अनुसार भाषा की सरलता भी एक सापेक्षिक गुण है जो प्रसंग, वक्ता, बोधक्य आदि पर आश्रित है। वक्ता का मंतव्य यदि सरल है तो भाषा की सरलता एक प्रकार की होगी, पर उसका चिन्तन यदि सूक्ष्म एवं जटिल है तो भाषा की सरलता का रूप दूसरा होगा। उस स्थिति में तथा कथित सरलता अत्यधिक दुरूह बन जायेगी। छोटे-छोटे जुम्लों और बोलचाल के लफ्जों का नुस्खा हर मर्ज में काम नहीं आ सकता।

(3) इसमें सन्देह नहीं कि शब्दावली और वाक्य-रचना का भाषा की सरलता के साथ सम्बन्ध है, किन्तु यह सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है—अर्थात् कोई विशेष प्रकार की शब्दावली तथा वाक्य-रचना भाषा को सरल बनाती है—ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता। संस्कृत के तत्सम शब्दों से भाषा कठिन बन जाती है और बोल-चाल के शब्दों से सरल—अथवा लम्बे वाक्यों का प्रयोग भाषा को दुरूह और छोटे वाक्यों का प्रयोग उसे सरल बनाता है, यह कोई अकाट्य तर्क या विधान नहीं है। कभी-कभी बोलचाल के शब्दों से मतलब एक दम दुरूह हो जाता है और छोटे-छोटे वाक्य अर्थ को खंड-खंड कर बुरी तरह उलझा देते हैं।

(4) वक्ता के अतिरिक्त श्रोता पर भी भाषा का स्वरूप आश्रित रहता है और सरलता भी इसका अपवाद नहीं है। अर्थात् भाषा की सरलता का निर्णय उस जनसमुदाय की बहुसंख्या की बोध-शक्ति के आधार पर होना चाहिए जिसके लिए उसका प्रयोग होता है या जो उसका प्रयोग करता है। सरलता का अर्थ सुबोधता है और सरल भाषा वही है जो भारत की बहुसंख्यक जनता के लिए सुबोध हो। राष्ट्र-भाषा की सुबोधता का निर्णय राष्ट्र के समग्र आयाम को दृष्टि में रखकर करना होगा।

प्रस्तुत भूमिका में इस बात के लिए खेद-प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है कि भाषा की सरलता की व्याख्या करने में मेरी अपनी भाषा, वर्ग विशेष में प्रचलित धारणा के अनुसार कदाचित् सरल नहीं रह सकी, क्योंकि जैसा कि मैंने आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है, सरलता जितनी सरल है उसका स्वरूप-विश्लेषण उतना ही कठिन है। मैंने यहां केवल सिद्धांत-विवेचन ही किया है, उदाहरण देने के लोभ का जानबूझकर संवरण किया गया है—क्योंकि मेरा उद्देश्य हिन्दी के विरुद्ध वर्ग-विशेष के आक्षेपों का उत्तर देना उतना नहीं रहा जितना कि समस्या के मूल तत्वों का उद्घाटन करना।

1 आक्सफोर्ड डिक्शनरी (पाकेट)—चतुर्थ संस्करण, पृष्ट-1168
2 संस्कृत हिन्दी डिक्शनरी—सर मोनियर विलियम्स (1956 ई०), पृष्ट-1812
3 प्यूरिलिटी—बचकानापेन

□

पृष्ठ 17 का शेषांश

और जंगलों में घूमना, तपस्वियों की सेवा, एकांतवास, स्निग्ध भोजन, रात्रिशेष में जागना, प्रतिभा और स्मरणशक्ति का उद्बोधन, जन्तुओं के स्वभाव का परिचय, पर्वत, समुद्र, नदी का ज्ञान, पराधीनता से बचना, विद्याभवनों में जाना, अपनी उन्नति की चिंता न करना, आत्मप्रशंसा न करना, किस समय और किन श्रोताओं के सामने कैसी कविता पढ़ी जाय इसका ज्ञान, नए भावों और विचारों के लिये प्रयत्न, ऐसी रचना करना जो सुगम हो। इस विशुद्ध, पद्धति की आवश्यकता साहित्य के प्रत्येक अंग में हैं। इस प्रकार से शिक्षित, ऐसे ध्येय को सामने रखने वाला साहित्यकार अपनी रचना को उच्च श्रेणी तक पहुंचा सकता है, यदि उसमें प्रतिभा है। देवताओं की भांति लेखक भी सदा युवा रहता है। उसमें तेज और उत्साह रहता है, आशा रहती है और तरंग की गति रहती है। ऐसे साहित्यकार हम में हैं और रहेंगे—हिंदी साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है—

रे मन साहंसी साहस राख सुसाहस सौं सम जेर फिगें।
त्यौं पदमाकर जा सुख में दुख त्यौं दुख में सुख फेर फिरेंगे।

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका के 'अमरनाथ झा' अंक से साभार)

भाषा, समाज और संस्कृति

—डा॰ रघुवंश*

पिछली दो शताब्दियों में मानवीय ज्ञान के क्षेत्र में मौलिक दृष्टियों के अंतर देखे जा सकते हैं। उसका एक कारण यह है कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के बीच पूरी मानवीय परिस्थिति, समझ और दृष्टि में अंतर आता गया है और मनुष्य का सारा ज्ञान-विज्ञान उसकी स्थिति की समझ से निर्दिष्ट होता है। उन्नीसवीं शती में यूरोप में उपनिवेशवाद का जोर था कि और साथ ही वहां के देश औद्योगिक विकास की ओर उन्मुख थे। एक के अंतर्गत शासित देशों का आर्थिक शोषण चल रहा था और दूसरे के अंतर्गत अपने कल-कारखानों में मजदूरों से हर प्रकार की विवशता में काम लिया जा रहा था। उनके ज्ञान-विज्ञान का दृष्टिकोण भी प्रकृति के रहस्य को जानकर उसको शासित करने का था। तब यह समझा जा रहा था ज्ञान-विज्ञान के पथ पर मनुष्य विजयी होता चला जाएगा। बीसवीं शती के प्रारंभ से यूरोप के देशों के उपनिवेश खत्म होने लेगे थे और मजदूर संगठित पार्टी के रूप में अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते जा रहे थे। तब ज्ञान-विज्ञान का अंहकार कम हुआ और विजय पा लेने की भावना में अंतर आया। यह समझा जाने लगा कि ज्यों-ज्यों हम ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति करते हैं हमको सारे विश्व की स्थिति में अपनी नगण्यता का बोध होता है, हम अज्ञान की सीमा को समझते हैं और फिर यह ज्ञान भी सापेक्ष है। एक दृष्टि (सिद्धांत) से नियमों की एक श्रृंखला या क्रम दिखाई देता है तो दूसरी दृष्टि से दूसरी श्रृंखला या क्रम सामने आ जाता है। फिर हमारा कामचलाऊ हिसाब दोनों से ठीक बैठ सकता है।

यूरोप में भाषा के अध्ययन के बारे में परिस्थिति कुछ इसी प्रकार रही है। भाषा को विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम के रूप में माना गया। सारे संसार की भाषाओं को आकृति के माध्यम पर और परिवारों के आधार पर वर्गीकरण किया गया। इन सारे अध्ययनों के केन्द्र में भारोपीय परिवार रहा जिसकी प्रमुख शाखाएं यूरोप के शक्तिशाली देशों में फैली है। इस सारे अध्ययन में भाषा को बहुत कुछ वस्तुपरक मानकर चला गया, जैसे, भाषाएं मूलतः आकृति और संरचना रूप हैं। भारत में अंग्रेजी शासकों ने धर्म के समान भाषा को भी विभाजित करके शासन करने की नीति के लिए इस्तेमाल किया है। धर्म, विश्वास और आस्था के रूप में सामाजिक व सांस्कृतिक इकाई में बाधक नहीं हो सकता, पर अंग्रेजी ने भारत में धर्म के आधार पर इन इकाइयों को स्वंतत्र मानने की सदा प्रेरणा दी, उस पर बल दिया। इस प्रकार विघटन के बीज बोने का काम किया। दूसरी ओर आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों के अलगाव पर बल देकर भारत में उत्तर और दक्षिण की समस्या उत्पन्न की।

यूरोप के भाषाविदों के आधार पर हमारे भारतीय भाषाविदों ने भी इन परिवारों की दूरी को प्रतिपादित किया है। इस प्रकार ऐसा जान पड़ता है कि भाषा परिवार के आधार पर दक्षिण भारत के द्रविड़ भाषियों की तुलना में उत्तर भारत के भाषाभाषी यूरोप के अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन और रूसी भाषाभाषियों के अधिक निकट हैं। इस बात पर निरंतर ऐसा बल दिया जाता रहा है कि उत्तर और दक्षिण के बीच अंतराल बढ़ता जाए जो व्यक्तिगत अथवा राजनीतिक लाभ उठाना चाहते रहे हैं, उन्होंने इस अलगाव के विचार का पूरा लाभ उठाया है। यह महत्वपूर्ण तथ्य सही ढंग से कभी सामने नहीं रखा गया कि भाषा का आकृतिमूलक अथवा पारिवारिक समानता या एकता परिस्थिति अथवा इतिहास के लम्बे क्रम का बोध मात्र कराती है। वह भी न निर्विवाद है और न आत्यन्तिक ही। पर भाषा का गहरा और आंतरिक संबंध समाज और संस्कृति से होता है, इस बात की चर्चा और उसका विचार बहुत कम हुआ है। जहां तक मुझे मालूम है डा॰ राम विलास शर्मा की पुस्तक "भाषा और समाज" इस दृष्टि को प्रतिफलित करने वाली हिन्दी में पहली पुस्तक है।

भारतीय भाषा चिंतन की परंपरा में प्राचीन काल से शब्द को ब्रह्म कहा गया है और शब्द-अर्थ को अभिन्न भी कहा गया है। परंतु पश्चिम के आधुनिक भाषा दार्शनिकों ने यह विचार करना शुरू किया है कि हमारा सोचना, समझना और अनुभव करना भाषा-रूप होता है। इनको भाषा के बिना रूपायित नहीं किया जा सकता, अथवा यह भी कह सकते हैं कि इनके रूप-ग्रहण की हमारी प्रक्रिया भाषिक है। सामान्यतः हम समझते आए हैं कि भाषा हमारे विचारों, भावों और हमारी इच्छाओं को अभिव्यक्त करने का माध्यम है व्यवहार में यह जरूर देखा समझा जाता है पर इस प्रश्न पर थोड़ा गहरे स्तर पर विचार करने से इसको समझना आसान है। हम अपनी विभिन्न ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से दृश्य जगत का अनुभव प्राप्त करते हैं। रंग, रूप, ध्वनि, गंध, स्पर्श हमारे अनुभव प्राप्त करने के साधन या माध्यम हैं। पर मानवीय स्तर पर ऐन्द्रिक संवेदन के आगे ज्ञान मानसिक होता है। मन इन्द्रयों से इन संवेदनों को ग्रहण करता है और नाम-रूप प्रत्ययों में संयोजित करता है। यह सारा संयोजन शब्दमय या भाषारूप होता है। अतः हमारे अनुभव-जगत का जितना कुछ हमारे मन में रूप ग्रहण करता है वह प्रत्ययों (नाम रूप) में होता है अर्थात् भाषा रूप में जिस प्रकार अनुभव का एक संवेदन स्तर हमारे मानसिक जगत से नीचे होता है उसी तरह हमारे सामान्य जीवन से भिन्न या ऊपर परा मानसिक अनुभव का भी जगत हो सकता है। पर हम जिस सामाजिक व्यावहारिक स्तर पर जीवन-यापन करते हैं उसमें हमारा अनुभव भाषा-रूप ही है।

भाषा परिवार की दृष्टि से भारत में कई पारिवारिक भाषाएं बोली जाती हैं। उत्तर और मध्य भारत की भाषाएं भारोपीय परिवार की भाषाएं हैं,

भू॰पू॰ अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

दक्षिण में द्रविड़ परिवार की भाषाएं हैं और इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय क्षेत्र में चीनी परिवार का प्रभाव माना जाता है। आदिवासी जनों के अलग-अलग कई भाषा वर्ग हैं। भाषा के इस प्रकार के वर्गीकरण-विभाजन के आधार पर अनेक समस्याएं उठाई जाती हैं। इनमें कुछ राष्ट्रीय स्तर पर चिन्ता और चर्चा का विषय होती हैं। निहित स्वार्थ के लोग और वर्ग इन्हें गलत परिप्रेक्ष्य में रखकर अनेक भ्रम उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार यह कहकर कि अंग्रेजों के शासन के पहले भारत कभी राजनीतिक इकाई नहीं रहा, इसकी राष्ट्रीय इकाई और एकता पर प्रश्न-चिन्ह लगाया जाता है, उसी प्रकार देश में अनेक भाषाओं के आधार पर इस प्रकार के प्रश्न शंकाए उठाई जाती हैं। वैसे तो देश का बहुत बड़ा भाग व भू-भाग कई बार राजनीतिक एकतंत्र के अन्तर्गत भी रहा है पर इस देश की मूल प्रकृति को समझने के लिए यह जानना अपेक्षित है कि यहां का व्यापक जन समाज राजतंत्र से निरपेक्ष रहा है। देश को इसके दुष्परिणाम भी भोगने पड़े हैं। भारतीय इतिहास में प्रायः देखा गया है कि विदेशी सेनाएं आगे बढ़ती गई पर जन-समाज की ओर से कोई प्रतिरोध नहीं हुआ। यह दायित्व केवल शासक वर्ग का मानकर चला जाता रहा।

परन्तु यहां उसके दूसरे पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित करना अपेक्षित है। भारतीय जन-समाज की इकाई को जानने या परखने का मुख्य आधार सांस्कृतिक चेतना को स्वीकार किया जाना चाहिए। उत्तर-दक्षिण व पूर्व-पश्चिम के विभिन्न प्रदेशों में बिखरे जन-समाज की एकता, एकसूत्रता को समझते समय उनकी विविधता और विशिष्टताओं के अन्तर्गत उसे देखना-खोजना होगा। अलगाव और विघटन पर बल देने वाले इन विविधताओं पर बल देकर उनकी वास्तविक आंतरिक एकता को अस्वीकार करना चाहते हैं।

सामाजिक मूल्यों और नैतिक मानदण्डों का आधार प्रायः सारे भारत में समान है। इसी प्रकार धार्मिक आस्था और विश्वास की बात है। कहा जा सकता है कि इस देश में धर्म के क्षेत्र में तो सबसे अधिक विविधता है। वस्तुतः यह जो वैविध्य दिखाई देता है उसका कारण भी यही है कि इस देश का जन-समाज धर्म को व्यापक अर्थ में लेता आया है, साम्प्रदायिक धर्म के अर्थ में नहीं। इस धर्म के अन्तर्गत व्यक्ति का सामाजिक व नैतिक दायित्व भी आता है और अपने आत्मिक विकास की संभावनाएं भी। यह विशेष प्रकार की भारतीय दृष्टि है जो अन्य देशों में नहीं मिलती इस दृष्टि के कारण ही यहां के हर प्रदेश के समाज में व्यापक स्तर पर जिस प्रकार सामाजिक मूल्यों-मानदण्डों के बारे में समानता देखी जा सकती है, उसी प्रकार आस्था और विश्वास के रूप समान प्रकार से अलग-अलग हो सकते हैं। भिन्न स्तर के विश्ववास करने वाले लोगों के तीर्थ सारे देश में फैले हैं। केदारनाथ-बदरीनाथ से लेकर कन्या-कुमारी तक, पुरी से लेकर द्वारकापुरी तक हर भारतीय की तीर्थ-यात्र चलती है। इनके बीच में हर प्रदेश में अनेक महत्वपूर्ण तीर्थ हैं, श्रद्धा करने के स्थल हैं।

और गहरे पैठिए तो भारतीय मानस की समरूपता या इकाई का अधिक सघन और स्पष्ट रूप उभरता है। दार्शनिक चिंता की धाराएं उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक प्रवाहित होती रही हैं। परम्पराओं के अनुसार वेदों के सूक्तों के रचयिता उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम सभी क्षेत्रों के माने जाते हैं। ऋग्वेद का मुख्य प्रदेश पंचनद होगा तो उपनिषेदों का पूर्वी प्रदेश तांत्रिकों का गढ़ बंगाल और असम रहा है, तो वैष्णव भक्ति आन्दोलन दक्षिण (तमिल प्रदेश) से प्रारम्भ होकर क्रमशः सारे देश में फैला है। षट्दर्शनों का प्रचलन देश भर में रहा है। शैव दर्शन काश्मीर से शुरू होकर अन्य प्रदेशों में फैला, जबकि वेदान्त को लेकर चलने वाले अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि दार्शनिक सिद्धांतों के प्रवर्तक आचार्य दक्षिण से उत्तर आए ओर उन्होंने सारे देश में अपने मतों को विस्तार दिया। इसी प्रकार शैव, शाक्त और वैष्णव संप्रदायों का प्रभाव सारे देश में रहा है, इनमें वैष्णव सम्प्रदायों का विस्तार सबसे व्यापक रहा है। उत्तर में भक्ति आन्दोलन को चलाने वाले आचार्य दाक्षिणात्य थे, चौदहवीं से सोलहवीं शती तक उनका कार्य चलता रहा। यह आन्दोलन दक्षिण की शताब्दियों से चली आ रही भक्ति परम्परा से विकसित हुआ है। अपनी विशेषताओं के साथ भक्ति के विभिन्न रूप और उनसे प्रभावित साहित्य सारे देश में फैला हुआ था।

हमारे देश में विभिन्न क्षेत्रों-प्रदेशों में अनेक भाषाओं का प्रचलन रहा है। उत्तर और दक्षिण की भाषाओं में संरचनात्मक (पारिवारिक) अन्तर भी रहा है। परन्तु निरन्तर पूरे इतिहास क्रम में दुहरे स्तर पर सांस्कृतिक धाराएं सारे भारतीय समाज को आलोड़ित-विलोड़ित करती रही हैं। सुसंस्कृत-नागरिक स्तर पर संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य व्यापक स्तर पर पूरे देश के जीवन को स्पर्श करता है, निश्चय ही संस्कृत की मान्यता इस स्तर पर सबसे अधिक और व्यापक रही है। सारे देश का ज्ञान विज्ञान इस भाषा के माध्यम से संपन्न, समृद्ध और विकसित हुआ है। वैदिक वाङ्मय सारे देश में प्रचलित और मान्य रहा है, आयुर्वेद गणित, ज्योतिष, अर्थशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों के अध्ययन का माध्यम सारे देश में संस्कृत रही है। पौराणिक साहित्य सारे देश में प्रचलित रहा है। इसके अतिरिक्त साहित्य, साहित्य शास्त्र और व्याकरण का प्रचलन भी इसी भाषा में रहा है। जो लोग राजनीतिक इकाई पर बहुत बल देते हैं, वे या तो इस गहरी आंतरिक एकता से अपरिचित हैं या जानबूझकर अनजान बने रहना चाहते हैं।

शिष्ट नागरिक समाज की इस सांस्कृतिक बौद्धिक एकता को देख पाना आसान है और इसको देखा-परखा गया है। इस धारा का एक और स्तर है। विभिन्न प्रदेशों में भाषाओं का समृद्ध साहित्य काफी पुराना भी है। इन भाषाओं के साहित्य में अभिव्यक्त जीवन का जो रूप अपने विभिन्न सांस्कृतिक पक्षों के साथ अभिव्यक्त हुआ है। इन विभिन्न साहित्यों में अभिव्यक्त मूल्यों, मान्यताओं, रीतियों, पद्धतियों, व्यवहारों और आचरणों में देश-देश के विभिन्न जनसमाजों की उस मूलभूत इकाई को जाना पहिचाना जा सकता है। परन्तु जो और गहरे उतर कर मुगल लोक भाषाओं की प्रवाहित होने वाली धाराएं हैं उनमें प्रचुर लोक-साहित्य धारावाहिक रूप में चलता रहा है। भाषा के स्तर पर यह लोक-साहित्य उसके बोले जाने वाले रूप में पाया जाता है, अतः थोड़ी-थोड़ी दूर पर बदला हुआ जान पड़ता है। इस जन-जीवन से एकरस और भिन्न होकर प्रचलित लोक-साहित्यों के आधार पर पूरे देश की सामाजिक-सांस्कृतिक का अध्ययन होता रहा है और इन सबके आधार पर कहा जा सकता है कि स्थानीय विशेषताओं के साथ यह सारा साहित्य सारे देश के लोक-मानस की इकाई का सबसे बड़ा प्रमाण प्रस्तुत करता है। इनके लोक-गीतों, लोक-कहानियों, लोक जीवन की एकतानता, समता और उसके नैरन्तर्य को भली-भांति देखा जा सकता है। स्थानीय अन्तरों के साथ लोक-नाट्य की परम्पराओं में निहित जीवन के दृष्टिकोण की इकाई को भी समझा जा सकता है।

अगर पूरे भारतीय लोक-साहित्य को लें तो उसमें हमारे पारिवारिक जीवन के संबंधों, मान्यताओं, भावनाओं, मर्यादाओं और वातावरण की, ऐसी झलक मिलती है जो हर क्षेत्र और प्रदेश के व्यक्ति की अपनी लगेगी। इसी प्रकार धार्मिक आस्था, विश्वास, मान्यता और श्रद्धा-भक्ति का व्यापक स्वरूप सर्वत्र समान जान पड़ता है। विश्लेषण-विवेचन करने पर कहानियों में व्यापक समानता मिलती है, बल्कि सैकड़ों कहानियां प्रायः एकरूप में प्रचलित हैं। यही बात कहावतों और मुहावरों के बारे में भी है। सहज ही इनके माध्यम से समझा जा सकता है कि हमारे जीवन के आधार में कितनी और कैसी समानता व्याप्त है। हमारे देश में शिष्ट और लोक समाज में अलगाव नहीं रहा है, इसलिए पश्चिमी लोक-साहित्य और लोक-समाज की परिभाषाएं यहां ठीक उनके अर्थ में लागू नहीं होती। कथा-वार्ताओं, उपाख्यानों, गाथाओं, गीतों आदि के माध्यम से शिष्ट संस्कृति और साहित्य की परम्पराओं को एक स्तर पर अभिव्यक्ति मिलती रहती है। यही कारण है कि भारतीय लोक-साहित्य में हमारा व्यापक सांस्कृतिक अनुभव और भावबोध अधिक स्पष्ट रूप में सुरक्षित रहा है।

भाषा के प्रश्न को इस भारतीय समाज में सघन और आंतरिक रूप से व्याप्त सांस्कृतिक धारा के परिप्रेक्ष्य में देखने से सही समाधान मिल सकता है। इस तथ्य को सहज ही देखा जा सकता है, जब तक कि निहित स्वार्थ से उसे विकृत न किया जाए। हमने देखा है कि व्यापक भारतीय समाज में कई स्तरों पर एक ही स्त्रोत से सांस्कृतिक धाराएं प्रवाहित होती रही हैं। अनेक विविधाओं, विशेषताओं और विभिन्नताओं के बावजूद हमारे रीति-रिवाज, खान-पान, व्रत-त्यौहार, पूजा-पाठ और संस्कार-व्यवहार में आंतरिक एकसूत्रता पाई जाती हैं। उनके प्रति दृष्टि और मानसिकता में बहुत समता है। धर्म के क्षेत्र में आस्था, विश्वास, श्रद्धा और उसके साथ सारा पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड हमारे समाज की व्यापक समान मानसिकता का प्रमाण प्रस्तुत करता है। हमारे नैतिक मानदण्ड और आचरण से संबंधित मूल्य प्रायः समान हैं। सारे देश में हमारे दार्शनिक चिंतन की धाराएं प्रवाहित होती रही हैं और साहित्य तो तीन स्तर पर—सार्वदेशिक, प्रादेशिक और क्षेत्रीय स्तर पर संस्कृत, प्रादेशिक तथा लोक भाषाओं में—जीवन को समान मूल्यों, परिकल्पनाओं तथा भावनाओं से संबोधित करता रहा है। और यह सारा क्रम एवं प्रवाह भाषा के रूप में चलता आया है।

ऐसी स्थिति में उत्तर-दक्षिण की समस्त भाषाओं में आकृति का, पारिवारिक स्त्रोत का जो भी अन्तर हो, पर उनके भावबोध, विचार-प्रत्यय और शब्द भण्डार में अपूर्व समानता है। जब अनुभव करने का स्तर समान है, विचार करने की प्रक्रिया समान है और इच्छाएं—आकांक्षाएं भी समान हैं तो भाषा की अभिव्यक्ति का सारा विधान बहुत कुछ समान होगा। यानी समान भावार्थ को व्यक्त करने वाले शब्द, पद, वाक्यांश, वाक्य, मुहावरे, कहावतें आदि इन समस्त भाषाओं में समान मिलते हैं। भाषा का परिचय और अपरिचय उसकी संरचना पर आधारित नहीं है, वरन् उसकी भाव-व्यंजना, अर्थ-प्रक्रिया और शब्दार्थ पर आधारित होता है। अतः हमारी भारतीय भाषाओं के संबंध को इसी आधार पर जांचना-परखना चाहिए। जैसा देखा गया है इस स्तर पर हमारे सम्पूर्ण भारतीय समाज की इकाई उनकी भाषाओं में व्यंजित होती है। साथ ही इस तथ्य को ध्यान में रखना जरूरी है कि सागर के अन्तराल में प्रवाहित होने वाली धाराओं के समान हमारे भारतीय समाज में पूरे और व्यापक सांस्कृतिक अनुभव को प्रवाहित करने वाली भाषाओं के तीन स्तर हैं। एक स्तर पर संस्कृत और हिन्दी सारे देश की सांस्कृतिक चेतना का वहन करती रही हैं। दूसरे स्तर पर विभिन्न प्रदेशों की भाषाएं हैं जो इस सांस्कृतिक चेतना को निजी विशेषताओं के साथ अभिव्यक्त करती हैं और फिर लोक-जीवन के स्तर पर इसी सांस्कृतिक चेतना का वहन व्यापक रूप से लोक-भाषाओं ने किया है। इस सारे परिप्रेक्ष्य में हमारी भाषा-समस्या एक दम स्पष्ट है और हिन्दी की स्थिति और उसका दायित्व भी स्पष्ट हो जाता है।

"आधुनिक भारत की संस्कृति एक विकसित शतदल कमल के समान है, जिसका एक-एक दल एक-एक प्रांतीय भाषा और उसकी साहित्य संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा ही नष्ट हो जाएगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रांतीय बोलियों जिनमें सुन्दर साहित्य-सृष्टि हुई है, अपने-अपने घर में (प्रांत में) रानी बन कर रहें, प्रांत के जन-गण की हार्दिक चिन्ता की प्रकाश भूमि-स्वरूप कविता की भाषा होकर रहे और आधुनिक भाषाओं के हार की मध्य मणि हिन्दी भारत भारती होकर बिराजती रही।

—गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर

नेहरू जी और राजभाषा हिन्दी

—डा० प्रभाकर माचवे

हिन्दी की सेवा के कार्य में हम 1935 से लगे हुए हैं स्वराज्य से पहले गांधी के युग में जैसे खादी राष्ट्रीयता की वर्दी थी; हिन्दी राष्ट्रीय एकात्मकता का एक प्रतीक थी। वह जमाना था कि महात्मा गांधी ने अपने पुत्र देवीदास गांधी को मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का कार्य करने भेजा। उनका प्रेम विवाह राजगोपालाचारी की बेटी लक्ष्मी से हुआ। तब उत्तर-दक्खिन का भेद नहीं था। सब प्रदेशों के लोग हिन्दी को अपनाने में गर्व अनुभव करते थे। काका साहब कालेलकर महाराष्ट्र-गुजरात के थे। परन्तु हिंदुस्तानी प्रचार में उन्होंने जीवन लगा दिया। नेता जी सुभाष चन्द्र बोस बंगाल के थे। पर आजाद हिंद फौज का 'मार्च' (कूच) का गाना हिन्दी में लिया— 'कदम कदम बढ़ाए जा।' कर्नाटक के गंगाधरराव देशपांडे ने वृद्धावस्था में पुत्र के साथ हिन्दी की राष्ट्रभाषा-परीक्षा दी और तमष के राष्ट्रकवि सुब्रह्मण्य भारती ने पांडिचेरी से संपादित 'इदियै' पत्रिका में हिन्दी पाठ प्रकाशित किए।

स्वराज्य आने के बाद, बापू के 1948 में देहावसान के बाद, नेहरू युग देश में आया। उन्हीं की प्रेरणा से विदेश सेवा में डा० हरिवंशराय बच्चन की नियुक्ति हुई। उन्हीं की प्रेरणा से साहित्य अकादमी ने सब भारतीय भाषाओं से हिन्दी में श्रेष्ठ पुस्तकें अनुवादित कराई। नेशनल बुक ट्रस्ट और चिल्ड्रेन बुक ट्रस्ट में हिन्दी प्रकाशन आरम्भ हुआ। डा. राजेन्द्र प्रसाद, लाल बहादुर शास्त्री आदि ने विभिन्न मंत्रालयों का कार्य हिन्दी राजभाषा में कराने को बल दिया। डा० बालकृष्ण केसरी ने सूचना प्रसारण मंत्रालय में अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों के साथ-साथ हिन्दी के एक दर्जन श्रेष्ठ लेखकों को आकाशवाणी से जोड़ा—जगदीशचन्द्र माथुर, बालकृष्ण राव के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त, भगवतीचरण वर्मा, हरीकृष्ण 'प्रेमी', उदयशंकर भट्ट, अज्ञेय, डा० नगेन्द्र, गिरिजा कुमार माथुर, श्याम परमार, भारत भूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, 'अश्क, लक्ष्मी नारायण मिश्र, 'पेटीस', रमईकोका, लोहासिंह, आरसी, भवानी प्रसाद मिश्र, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, चिरंजीत, ग०मा० मुक्तिबोध, प्रकाश चन्द्र शर्मा इत्यादि । मैं भी तब 1948 से 1954 तक आकाशवाणी इलाहाबाद, नागपुर, दिल्ली विदेश प्रसारण सेवा से जुड़ा था।

1964 में नेहरू जी नहीं रहे। शास्त्री जी का कार्यकाल अत्यल्प रहा। उसी समय मुझे संघ लोक सेवा आयोग में दो वर्षों के लिए प्रशासनिक परीक्षाएं हिन्दी में लेने की योजनायें विशेषाधिकारी (भाषा) के कार्य का उत्तरदायित्व मिला। 1966 में दक्षिण भारत में हिन्दी-विरोधी दंगे हुए। डा० राधाकृष्ण और श्री अरविन्द के आश्रम की लाइब्रेरियां लूटी गईं। चार आदमियों ने आत्महत्या की! हिन्दी के कार्य को काफी प्रति-गति मिली। श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' हिन्दी विशेष अधिकारी बनाए गए। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने पारिभाषिक शब्दावली कोश बनाए। पर राजनैतिक कारणों से भाषा का सवाल उलझता गया।

सरकार के विभिन्न कार्यालयों में हिन्दी कार्य के लिए विशेष 'सेल' (विभाग) खुले। सैंकड़ों 'हिन्दी अधिकारी' नियुक्त हुए। मुझे भी आठ दस मंत्रालयों की हिन्दी सलाहकार समितियों का सदस्य रहने का कई वर्षों तक सौभाग्य मिला है। शिक्षा, गृह, सूचना-प्रसार, रेल, विज्ञान और तकनीकी विभाग, डाकतार इत्यादि। परन्तु इन सलाह देने वालों की सलाह सुनता कौन है? सब कागजी कार्यवाही होते रहती है। राजभाषा के प्रसार प्रचार का कार्य अब भी बहुत धीमी गति से चल रहा है।

मेरे मत से इस धीमी गति के अनेक कारण हैं। वे हैं—

(1) हिन्दी भाषा भाषी प्रदेशों में, क्या जनता और क्या अधिकारियों में हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी का प्रेम और रौब बढ़ता जा रहा है।

(2) हिन्दी भाषा भाषी अन्य भारतीय भाषाएं नहीं सीखते। अन्य भाषा भाषियों को राजभाषा की महत्ता समझाने में जितनी दिल्लचस्पी लेनी चाहिए नहीं लेते।

(3) हिन्दीतर भाषा-भाषी अधिकारी कोई बड़ा और शीघ्रगामी परिवर्तन लाने में हिचकिचाते हैं।

(4) कहीं-कहीं भाषा के प्रश्न को अनावश्यक रूप से हिन्दू-मुस्लिम सिख, ईसाई आदि प्रमुख धार्मिक विश्वासों के साथ जोड़ दिया जाता है। न उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा है। न पंजाबी सिर्फ सिखों की, या अंग्रेजी ईसाईयों की। और सब हिन्दू हिन्दी नहीं बोलते या काम में लाते हैं। पर ऐसे भ्रम साम्प्रदायिक कारणों से फैलाए जाते हैं।

(5) कहीं-न-कहीं यह गहरा अन्धविश्वास जनसाधारण के मन में है कि अंग्रेजी माध्यम की शाला का विद्यार्थी हिन्दी माध्यम की शाला के विद्यार्थी से अधिक तेज, सफल और नौकरी पाने में सक्षम होता है।

(6) यह भी एक धारणा है कि विज्ञान की पढ़ाई तो अंग्रेजी में ही हो सकती है हिन्दी में नहीं। यह बात गलत है।

(7) हमारी संसद और विधान सभाओं तथा विधान परिषद के हिन्दी भाषा सदस्य हिन्दी में भाषण नहीं देते। उनके प्रति आग्रही नहीं है। वे पश्चिम से आतंकित है।

(8) राजभाषा के कार्य की प्रगति से जनसाधारण पूरी तरह अवगत या सजग नहीं। जन संचार माध्यम—फिल्म, डाक्युमेंट्री, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाएं, इसके बारे में 'नहीं' के बराबर जानकारी देती हैं। ऐसा क्यों है?

मेरा तो गहरा विश्वास है कि भारत का भविष्य जन-भाषा के विकास में ही है और वह अधिकांश लोगों की सामान्य समझ की भाषा हिन्दी ही है। जनतंत्र में जनभाषा के बिना काम कैसे बढ़ सकता है?

भारत के संविधान में सामासिक संस्कृति और भारतीय भाषाएं

डा० मोटूरि सत्यनारायण*

[संविधान निर्मातृ सभा के सदस्य एवं तेलुगु विश्व ज्ञान कोश के संपादक 95 वर्षीय डॉ० मोटूरि सत्यनारायण हिन्दी के समर्पित सेवी हैं। हिंदी को राजभाषा का दर्जा दिलाने के लिए उनके बहुमूल्य सुझाव विशेष उल्लेखनीय है। प्रस्तुत लेख में विद्वान लेखक ने सामाजिक संस्कृति और भारतीय भाषाओं के परस्पर संबंधों का विशद विवेचन किया है।

—संपादक]

औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप यूरोपीय भाषाओं में, विशेषकर अंग्रेजी में बहुत से शब्द प्रचलित हुए जैसे— स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, समानता, लोकतंत्र, संस्कृति इत्यादि। इन शब्दों ने नए अर्थ और संकल्पनाएं ग्रहण कीं जिनके आधार पर सामाजिक एकता और प्रगति के कार्यक्रम निरन्तर बनाए और कार्यान्वित किए जा रहे हैं। इन शब्दों में से "संस्कृति" शब्द सर्वाधिक व्यापक हुआ जिसमें संपूर्ण मानवीय क्रियाकलाप चाहें वे बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक, आध्यत्मिक हों या सामाजिक, सम्मिलित हो गए। प्राक् उद्योग युग में काफी लम्बे समय तक "संस्कृति" शब्द सामाजिक, आर्थिक और दार्शनिक क्रियाकलापों के अर्थ में ही लिया जाता था। विगत सौ वर्षों या उससे अधिक समय से विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सहायता से समाज में परिवर्तन आ रहा है। अध्ययन के अन्य बहुत से क्षेत्रों में "संस्कृति" शब्द का गहन प्रयोग हुआ है, न केवल सौंदर्यशास्त्र, धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में बल्कि सामाजिक व्यवहार के स्वरूपों, समाज निर्माण और विभिन्न सामाजिक रूपों से संबंधित अध्ययन के क्षेत्रों में भी "संस्कृति" किसी प्रबुद्ध व्यक्ति का लक्षण होने के अतिरिक्त समाज का, अ ार काफी हद तक संपूर्ण राष्ट्र का भी एक लक्षण है। "संस्कृति" शब्द का प्रयोग विज्ञान की अनेक शाखाओं में भी व्यापक रूप से किया जाता है। हमारे देश में "संस्कृति" शब्द का प्रयोग सामान्यतः मानवीय आचरण और सामाजिक व्यवहार के संदर्भ में अधिक प्रयोग होता है जो न केवल प्रबोधन को प्रतिविंबित करता है बल्कि विभिन्न अध्ययनों से संबंधित गहन ज्ञान को भी दर्शाता है।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि धर्म निरपेक्षता संबंधी दस्तावेज में "संस्कृति" शब्द को कोई स्थान नहीं मिलता है किन्तु भारत के संविधान जैसे दस्तोवज में "संस्कृति" शब्द का उल्लेख किया गया है, परन्तु इसका सबसे महत्वपूर्ण रूप से उल्लेख अनुच्छेद 351 में किया गया है। यह अनुच्छेद इस प्रकार से है—

351. संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी के और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों का आत्मसात करते हुए और जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां उसके शब्द भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।

अनुच्छेद 351 संविधान के भाग 17 में जो संघ की राजभाषा और भारतीय भाषाओं की स्थिति और कार्य से संबंधित है, संविधान की आठवीं अनुसूची में संघ में प्रयोग किए जाने के लिए 15 भाषाओं की सूची दी गई है। यह सर्वज्ञात तथ्य है कि इन 15 भाषाओं में से 12 भाषाएं पहले ही उन राज्यों द्वारा राज्यों के उन क्षेत्रों में विकसित किए जाने के प्रयोजन से चुनी जा चुकी हैं जिनमें उनकी प्रधानता है। देश के पश्चिमी तट पर स्थित राज्यों अर्थात् गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल और पूर्वी तट पर स्थित राज्य अर्थात तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा और बंगाल ने अपने-अपने राज्यों की प्रमुख भाषा को पहले ही अपना लिया है और असम, पंजाब और कश्मीर राज्यों में क्रमशः असमी, पंजाबी और कश्मीर/उर्दू राजभाषा की भूमिका निभा रही है। मध्य भारत में 7 राज्यों अर्थात उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा और दिल्ली ने हिन्दी को अपनाया। 15 भाषाओं में से संस्कृत, कश्मीरी और सिंधी को छोड़कर शेष 12 भाषाओं (उर्दू सहित), का आज उन सभी प्रयोजनों से विकास और प्रयोग किया जा रहा है, जिनके लिए किसी विकसित भाषा का प्रयोग किया जाता है। यह स्पष्ट है कि इन भाषाओं के विकास के इन क्षेत्रों को सामाजिक प्रगति से निकट संबंध है, अतः इसका प्रयोग उस राज्य तक सीमित रहता है जिसमें न केवल राजभाषा के रूप में अपितु शिक्षा, व्यापार, कारोबार के माध्यम, साहित्य और उद्योगों के विकास के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है, जिसके लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, यह भी ज्ञात है कि इन भाषाओं का यह विकास इनको बोलने वाले व्यक्तियों के लाभ के लिए स्वतंत्र रूप से किया जा रहा है, ताकि अंततः राज्य की प्रगति में योगदान प्रदान करने के लिए वे आत्मनिर्भर बन जाए।

एक भ्रान्त धारणा है कि जो हिन्दी आज 7 राज्यों में राजभाषा के रूप में प्रचलित है यह वही भाषा है जिसका उल्लेख अनुच्छेद 343 में किया गया है। यह धारणा अधिकांशतः इस मान्यता के कारण बनी है कि भारत संघ की राजभाषा के विकास और प्रसार के लिए किसी अन्य भारतीय

* 7-प्रथम क्रेसेंट मार्ग, गांधी नगर, मद्रास-600020

भाषा के सहयोग, सहबद्धता और योगदान की आवश्यकता नहीं है।

यह सर्वविदित है कि भाषा संस्कृति के विकास का एक अनिवार्य अंग है और यह भी एक मानी हुई बात है कि सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया साथ-साथ चलती रहती है। और समाज का विकास अधिकांशतः भाषा के माध्यम से प्रतिबिम्बित होता है। भाषा, संस्कृति, व्यापार, आस्था और व्यवसाय, धर्म और दर्शन सामाजिक नियम और सामाजिक प्रथाओं की विविधता होते हुए भी भाषा और संस्कृति के विकास की दृष्टि से भारत की एक विलक्षण स्थिति है। भारत की विविधता में एकता दर्शाने के अविरत, निरन्तर और सफल प्रयास किए जाते रहे है।

संविधान सभा ने जिसके 299 प्रतिनिधि सदस्य भारत के कोन-कोने से लिए गए थे, जहां 1652 मातृ भाषाएं हैं, देश के बहुभाषी आधार से एक—भाषी माध्यम लागू करने की एक रूपरेखा तैयार करने के लिए 3 वर्ष तक विचार विमर्श किया। भारत की 15 प्रमुख भाषाओं के विकास का एक लम्बा इतिहास और समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है। गत जनगणना के अनुसार, देश के 90% भू-भाग में और 95% जनसंख्या द्वारा ये भाषाएं बोली जाती हैं। अतः संविधान निर्माताओं ने यह सोचा कि सतत प्रयासों और कार्यक्रमों से एक ऐसी सामान्य भाषा संबंधी रूपरेखा सामने आएगी जो सभी भाषा-वर्गों को स्वीकार्य होगी। यह कार्य अपने को न केवल राजभाषा हिन्दी के विकास के साथ बल्कि देश की संस्कृति के संवर्धन के साथ भी सहबद्ध करके किया जाएगा जो अपने विकास और प्रसार में अनादिकाल से सामाजिक स्वरूप की रही है और अनन्त काल तक सामासिक स्वरुप की रहेगी।

भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान भारत ने धार्मिक ओर भाषाई मतभेदों और तरह-तरह के सम्प्रदायों और सामाजिक नियमों के बावजूद एकता की ठोस शक्ति प्राप्त कर ली थी। इसी एकता को और अधिक सुरक्षित, सुदृढ़ और स्थायी बनाने की आवश्यकता थी। देश को एक सूत्र में पिरोकर रखने के लिए एक प्रशासनिक साधन के रूप में सम्प्रेषण और कार्यचालन के लिए एक भाषाई माध्यम की आवश्यकता अत्यधिक महत्वपूर्ण है। चूंकि स्वतन्त्रता और एकता को सुरक्षित और अक्षुण्ण रखने के लिए संविधान में पर्याप्त शक्ति प्रदान की गई है। इसलिए यह सोचा गया कि इस एकता को भाषा के माध्यम से एक मजबूत नींव पर कायम रखा जा सकता है। यह भाषा माध्यम हमारे सामासिक और अपरिमित सांस्कृतिक और भाषाई वैभव से तैयार किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि 8वीं अनुसूची की प्रमुख भाषाओं में से कई भाषाएं अपने प्रसार की दृष्टि से अंग्रेजी सहित यूरोप की किसी भी महाद्वीपीय भाषा से अधिक व्यापक है। उनका इतिहास बहुत प्राचीन है और उनकी शब्द सम्पदा और साहित्य विशाल है। वस्तुतः यह अपरिहार्य समझा गया कि युगों से संचित अपनी सामासिकता के द्वारा ये भाषाएं संघ भाषा के समुचित विकास का समाधान प्रस्तुत करेंगी।

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भी अपना मत पूरी तरह से इस समस्या को संयुक्त और बहुपक्षीय प्रयास माने जाने के हक में दिया है न कि एकपक्षीय माने जाने के हक में जैसा कि कुछ लोगों का विश्वास है। इसी कारण से एक निर्देशात्मक अनुच्छेद जोड़ा गया है जिसमें भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में हिन्दी को विसकित और संबंधित करने का और साथ ही 8वीं अनूसूची में निर्दिष्ट भाषाओं के रूप, उनकी शैली और अभिव्यक्ति को आत्मसात करते हुए हिन्दी को समृद्ध बनाने का दायित्व संघ को सौंपा गया है। यह एक ऐसा अध्यादेश है जिसका अनुपालन अनुच्छेद 351 के अधीन हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए उत्तरदायी संघ सरकार को करना है।

इस संबंध में स्मरणीय है कि संविधान सभा के अध्यक्ष, डा० राजेन्द्र प्रसाद ने इस धारणा को पुष्ट करने के लिए समुचित कदम उठाए कि समस्त भारत में हिन्दी की शब्दावली के प्रयोग में यथासाध्य एकरूपता होनी चाहिए। संविधान पर सदस्यों के हस्ताक्षर होने से पूर्व उन्होंने स्वयं आयोजित किए गए सम्मेलन में आठवीं अनुसूची की सभी भाषाओं के प्रतिनिधियों द्वारा अनुमोदित भारतीय भाषाओं के मूलपाठ में प्रयुक्त तकनीकी शब्दों का अन्वय कराया। अंग्रेजी और भारतीय भाषा अर्थात् हिन्दी में तैयार किए गए संविधान पर संविधान सभा के सभी सदस्यों द्वारा बिना किसी असहमति के हस्ताक्षर किए गए। इस प्रकार भारतीय भाषा में लिखे गए मूलपाठ को, जिसे संसद द्वारा नवंबर, 1988 में अधिप्रमाणित भी किया गया, वही महत्व प्राप्त हो गया जो अंग्रेजी में लिखे मूल पाठ को मिला हुआ है। तकनीकी शब्दों में एकरूपता लाने का निःसंदेह प्रयास किया जा रहा है और ये शब्द कुछ हद तक लोकप्रिय भी हुए हैं लेकिन संघ भाषा के विकास के साथ भारतीय भाषाओं को सहबद्ध करने का, विशेष रुप से सामासिक संस्कृति के विकास के क्षेत्र में अब तक कोई प्रयास नहीं किया गया है।

कुछ समय से, सामाजिक पहचान और सत्ता के अधिग्रहण के लिए भाषा को काफी अधिक महत्व दिया जा रहा है। यह बात समस्त विश्व में देखने में आ रही है। अतः यह समय है जब कि मूलतः भाषा के सांस्कृतिक अस्तित्व को समझा जाए और सामसिक संस्कृति को समूचे राष्ट्र की संस्कृति समझा जाए और देश में विभिन्न भाषाओं के प्रयोग के बावजूद संघ की भाषा के विकास को राष्ट्रीय कार्यकलाप समझा जाए।

संप्रेषण माध्यम और कार्यमूलक होने के साथ-साथ, भाषा की सांस्कृति माध्यम की भूमिका भी महत्वपूर्ण और बहुमूल्य है। लोगों का सहयोग प्राप्त होने पर अब सामासिक सांस्कृति के माध्यम के रुप में हिन्दी के विकास का कार्यक्रम संघ सरकार द्वारा तैयार किया जाए और उसे कार्यान्वित किया जाए।

इस समय देश में सरकारी प्रयोग के लिए जिन भाषाओं का विकास किया जा रहा है, वे सभी राष्ट्रीय भाषाएं हैं। यद्यपि ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह विकास क्षेत्रीय है, फिर भी वे ऐसे घटक और अवयव हैं जिन्हें अंततः भाषाओं की एक राष्ट्रीय संपदा समझा जाए। सहभाज्य लोकतंत्र के माध्यम से इस संपदा पर दावा और अधिकार जताया जा सकता है। राष्ट्रीय संस्कृति के एकीकरणात्मक विकास के प्रक्रम में ऐसा माना जाता है कि यह संस्कृति, सामासिक संस्कृति होगी जो सभी आवश्यक घटकों अर्थात् भारतीय भाषाओं से समान रूप से संबद्ध होगी।

देश में सांस्कृतिक एकीकरण का कार्यक्रम उतना ही पुराना है जितना भारत का इतिहास। इसका भारत के भौतिक, सांस्कृतिक तथा भाषाई भूगोल के साथ बहुत गहरा संबंध है। यदि ऐसा न होता तो भारत में सही सामाजिक आचरण के लिए निर्देशक सिद्धांतो के रूप में पौराणिक साहित्य के प्रयोग में एकरूपता न आ पाती और सामाजिक विधि, सामाजिक व राजनीतिक साहित्य तथा प्रशासन, व्यापार और वाणिज्य में समग्र शब्द व्यापक मात्रा में न मिलते। यह अस्तित्व अनादिकाल से सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक कार्यकलापों से पूर्णतः जुड़ा रहा है। इस समय

भारतीय भाषाओं और साहित्य में जो प्रगति हो रही है, उसका राष्ट्रीय एकीकरण के लिए सांस्कृतिक विकास से गहरा संबंध है। सामाजिक संस्कृति की पहचान करने और उसे संघ की भाषा में अन्य भाषाओं के योगदान में पुष्ट करने को अनुच्छेद 351 में परिकल्पित कार्यक्रम के अंतर्गत सहभाज्य कार्यकलाप द्वारा प्राथमिकता दी जानी चाहिए। अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कार्यक्रम तैयार करने का यह उपयुक्त अवसर है अर्थात सांस्कृतिक राष्ट्रीयता हासिल करने का उद्देश्य जो भारत की सामासिक संस्कृति के लिए हिन्दी को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर पूरा किया जा सकता है जैसा कि संविधान निर्माताओं ने निर्देश के रूप में विहित किया था। इस प्रकार अनुच्छेद 343 में उल्लिखित हिन्दी को अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त हो जाएगा। अनुच्छेद 345 के अन्तर्गत अपनाई गई हिन्दी संबंधित राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विशेष रूप से प्रयोग की जाने वाली सरकारी भाषा होगी।

अपनी अनुकूलशीलता के कारण संप्रेषण-माध्यम के रूप में अपनाई गई संपर्क भाषा, हिन्दी को भारत संघ की राजभाषा का दर्जा प्राप्त हुआ। इस प्रकार, इसके अखिल भारतीय संप्रेषण आधार के कारण इसे देश में सभी क्षेत्रों में कार्यमूलक आधार प्राप्त हुआ। सामाजिकता के साथ-साथ सांस्कृतिक आधार तभी प्राप्त हो सकता है जब क्षेत्र के भीतर और क्षेत्र के बाहर होने वाले समवर्ती द्विभाषी आंदोलनों में गहरा संबंध और आत्मसात्करण हो। इस प्रक्रिया में हिन्दी देश की शब्द संपदा को आत्मसात कर सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में उभर कर सामने आएगी और इसमें विभिन्न स्तरों पर क्षेत्रीय मुहावरों का बाहुल्य होगा। इस प्रक्रिया से सभी तीन क्षेत्रों अर्थात् संप्रेषण, कार्य निष्पादन और सामासिक संस्कृति के क्षेत्र में अखिल भारतीय स्तर पर समान सजात शब्दों के विकास और प्रसार तथा राष्ट्रीय एकीकरण को भी बढ़ावा मिलेगा।

सभ्यता के इतिहास से पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि समाज के निर्माण में धर्म ने एकताकारी ताकत के रूप में भूमिका अदा की। औद्योगिक क्रांति के शुरू होते ही इसी प्रयोजन के लिए देशभक्ति ने धार्मिक निष्ठा की जगह ले ली। धर्म का प्रभाव व्यक्ति विशेष पर पड़ता है। तो देशभक्ति समाज को जोड़ने वाली प्रबल शक्ति है। समाज के विभिन्न वर्गों को राष्ट्रीय आकार प्रदान करने वाली यह स्वयंसिद्ध शक्ति है। इस प्रकार, देशभक्ति, राष्ट्रीयता के लिए पूर्वापेक्षा है। राष्ट्रीयता से अलग होने पर देशभक्ति धर्म के साथ जुड़ जाती है और इसमें एकता की प्रबल शक्ति आ जाती है। राष्ट्रीयता की संकल्पना को समस्त विश्व में लौकिक धर्म समझा जा रहा है। हमारे देश में राष्ट्रीयता एकाश्म नहीं है। यह बहु-स्तरीय है। □

पृष्ठ 9 का शेषांश

लोक-कल्याण का भाव भी उनके मन में उदय नहीं हुआ था, उस समय जिस प्रकार, इस देश से सुदूर देश-देशांतर में फैलकर बौद्ध भिक्षुओं ने बड़े-बड़े देशों से लेकर अनेकानेक उपत्काओं, पठारों और तत्कालीन पहुंच से बाहर गिरि-गृहाओं और समुद्र-तटों तक जिस प्रकार धर्म और अहिंसा का संदेश पहुंचाया था, उसी प्रकार अदूर भविष्य में उन पुनीत संदेश वाहकों की संबति संस्कृत और पालि की अंग्रेजी हिन्दी द्वारा भारत वर्ष और उस की संस्कृति के गौरव का संदेश एशिया महाखण्ड के प्रत्येक मंत्रणा स्थल में, एशियाई महासंघ के प्रत्येक रंग मंच पर सुनावेगी। मुझे तो वह दिन दूर नहीं दिखाई देता, जबकि हिन्दी साहित्य अपने सौष्ठव के कारण जगत साहित्य में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिन्दी भारतवर्ष में ऐसे विशाल देश की राष्ट्र भाषा की हैसियत से, न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों के समान केवल बोली भर न जायेगी, किन्तु अपने बल से संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भूरपूर प्रभाव डालेगी और उसके कारण अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ और बना करेंगे। संसार की अनेक भाषाओं के इतिहास, धर्मानियों में बहने वाले ठंडे रक्त को उष्ण कर देने वाली उन मार्मिक समस्याओं से भरे पड़े हैं, जो उनके अस्तित्व की रक्षा के लिए घठित हुई। फ्रांस की किरणों की नोक छाती पर गड़ी हुई होने पर भी हर प्रांत के जर्मनों ने अपनी मातृभाषा के न छोड़ने की दृढ़ प्रतिज्ञा की और उसका अक्षर-अक्षर पालन किया। कनाडा के फ्रांसीसियों का अपनी मातृभाषा के लिए प्रयत्न करना किसी समय अपराध था किन्तु घमण्डी मनुष्यों के बनाए हुए इस कानून का मातृभाषा के भक्तों ने सदा उल्लंघन किया। इटली आस्ट्रिया के छीने हुये प्रदेशों के लोगों के गले के नीचे जबर्दस्ती अपनी भाषा चाहती थी किन्तु वह अपनी समस्त शक्तियों से भी मातृभाषा के प्रेमियों को न दबा सकी। आस्ट्रिया ने हंगरी को पददलित करके उसकी भाषा नाश करना चाही किन्तु आस्ट्रिया निर्मित राजसभा में बैठकर हंगरी वालों को अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा में बोलने से इनकार कर दिया था। दक्षिण अफ्रीका केजनरल बोथा ने केवल इस बात को सिद्ध करने के लिए न उसका देश विजित हुआ और न ही उनकी आत्मा ही, बहुत अच्छी अंग्रेजी जानते हुए भी बादशाह जार्ज से साक्षात होने पर अपनी मातृभाषा डच में बोलना ही आवश्यक समझा और एक दुभाषिया उनके तथा बादशाह के बीच में काम करता था। यद्यपि हिन्दी के अस्तित्व पर अब इस प्रकार से खुल प्रहार नहीं होते किन्तु उन ढके मुर्दे प्रहारों की कमी भी नहीं है जो उन पर और इस प्रकार देश की सुसंस्कृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं। साहस के साथ और उस अगाध विश्वास के साथ जो हमें हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के परभोज्जवल भविष्य पर है, हमें इस प्रकार के पहारों का सामना करना चाहिए और जितने बल और क्रियाशीलता के साथ हम ऐसा करेंगे जितनी द्रुत गति के साथ हम अपनी भाषा की त्रुटियों को पूरा करेंगे और उसे 32 करोड़ व्यक्तियों की राष्ट्रभाषा के बलशाली और गौरव युक्त बनायेंगे, उतना ही शीघ्र हमारे साहित्य-सूर्य की रश्मियां दूर-दूर तक समस्त देशों में पड़ कर भारतीय संस्कृति ज्ञान और कला का सन्देश पहुंचायेंगी, उतने ही शीघ्र भाषा के दिये गये भाषण संसार की विविध रंगस्थलियों में गुंजरित होने लगेंगे और उनसे मनुष्य जाति मात्रा की गति-मति पर प्रभाव पड़ता हुआ दिखाई देगा और उतने ही शीघ्र एक दिन और उदय होगा और वह होगा तब जब इस देश के प्रतिनिधि उसी प्रकार जिस प्रकार आयरलैण्ड के प्रतिनिधियों ने इंगलैण्ड से अन्तिम संधि करने और स्वाधीनता प्राप्त करते समय अपनी विस्मृत भाषा मौलिक में सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। भारतीय स्वाधीनता के किसी स्वाधीनता पत्र पर हिन्दी भाषा में और नागरी अक्षरों में अपने हस्ताक्षर करते हुए दिखाई देंगे।

2 मार्च 1930

—दैनिक गणेश (17-6-89) कानपुर से समाचार

राजभाषा हिंदी ही क्यों?

—आचार्य क्षेमचन्द "सुमन"*

भारत मूलतः संस्कृति-प्रधान देश है। इस देश में अनेक धर्म और भाषाए होते हुए भी संस्कृति का ऐसा माध्यम है जो उसे एकता के सूत्र में पिरोए हुए है। इस एकता के सूत्र को परिपुष्ट करने की दृष्टि से हमारे सन्तों और सुधारकों ने अपने विचारों के प्रचार के लिए जिस भाषा को अपनाया वह कश्मीर से कन्याकुमारी तक और राजस्थान से सुदूर पूर्वी अंचल तक के भू-भाग में समान रूप से बोली और समझी जाती थी। इस भाषा को हम हिन्दी के नाम से जानते और समझते हैं। हिंदी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जो समस्त भारतीय जनता को एकता के सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी का कार्य करती है। चाहे किसी भी प्रदेश का कोई भी व्यक्ति देश के किसी भी भाग में चला जाये तो वह टूटी-फूटी हिंदी के माध्यम से अपने विचारों को दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाने में सफल हो सकता है।

हिंदी को यह महत्व इसलिए नहीं दिया गया कि वह सारी भारतीय भाषाओं में ऊंची है, बल्कि उसे "राजभाषा" इसलिए कहा और समझा जाता है कि हिंदी को जानने, समझने और बोलने वाले देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं। ये लोग चाहे व्याकरण की भूलें करते हों, अशुद्ध उच्चारण करते हों परन्तु बोलते हिंदी ही हैं और उसी में अपने भाव व्यक्त करते हैं और दूसरों को बात समझते हैं। वास्तव में हिंदी की यह प्रकृति ही देश की एकता की परिचायक है और इसी प्रकृति ने उसे इतना व्यापक रूप दिया है। वह केवल हिंदुओं या उत्तर भारत के कुछ मुट्ठी-भर लोगों की भाषा नहीं है, वह तो देश के कोटि-कोटि कण्ठों की पुकार और उनका हृदय-हार है।

देश में फैली हुई अनेक भाषाओं के बीच यदि भारतीय जीवन की उदारता एवं एकात्मता किसी एक भाषा में दिखाई देती है तो वह हिंदी में ही है। चाहे सब लोग हिंदी न जानते हों, लेकिन फिर भी इसके द्वारा वे अपना काम चला लेते हैं और उन्हें इसमें कोई कठिनाई नहीं होती। भारत की बहु-भाषिकता के प्रश्न को उठाकर जो लोग हिंदी को राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण स्थान पर अधिष्ठित करने में रुकावट डाल रहे हैं वे यह कैसे भूल जाते हैं कि आज विश्व की सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न देश रूस ने इस समस्या का किस प्रकार समाधान किया है? उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि सोवियत संघ में यद्यपि 66 भाषाएं बोली और लिखी जाती हैं, किन्तु फिर भी वहां की राज-भाषा "रूसी" ही है। सोवियत संघ की "मंगोल और तुर्की" भाषाओं के शब्दों का रूसी भाषा से कोई संबंध नहीं है। इसके विपरीत भारत की प्रायः सभी भाषाओं में हिंदी के 50 से 60 प्रतिशत तक शब्द एक-जैसे मिल जाते हैं। तमिल को हम अपवाद के रूप में रख सकते हैं, किंतु उसमें भी कुछ शब्द तो ऐसे मिल ही जाते हैं जिन्हें भारत की दूसरी भाषाओं के बोलने वाले सरलता से समझ लेते हैं।

* अजय निवास, दिलशाद कालोनी, शाहदरा, दिल्ली-32

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व हिंदी के ही माध्यम से यहां के अनेक सन्तों, सुधारकों, मनीषियों और नेताओं ने अपने विचारों का प्रचार एवं प्रसार किया था। अपनी दूरदर्शिता के कारण उन्होंने ऐसी ही भाषा को अपनी भाव-धारा के प्रचार का साधन बनाया था जो सारे देश में बोली और समझी जाती थी। यही कारण था कि जहां उत्तर प्रदेश के कबीर, पंजाब के नानक, सिंध के सचल, कश्मीर के लल्लद्यद, बंगाल के बाउल, असम के शंकरदेव, महाराष्ट्र के तुकाराम और ज्ञानेश्वर तथा गुजरात के अखा एवं दयाराम आदि सन्तों ने जिस सांस्कृतिक एकता को आधार बनाकर अपने काव्य की रचना की थी वहां दक्षिण के बेमना, तिरुवल्लुवर, अक्कादेवी और आलवार आदि सन्तों की कविता की मूल भाव-भूमि भी वही थी। इनके संदेश में कहीं भी भाषागत विघटन का स्वर नहीं उभरा था, बल्कि सबकी रचनाए उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पश्चिम तक समान रुप से समादृत होती थी। जिन साधु-वैरागियों के मठ और अखाड़े सारे देश में फैले हुए थे उनमें भी कहीं भाषा का झगड़ा नहीं उठता था।

इसका निष्कर्ष यही है कि उन दिनों भाषाओं की यह विविधता देश की एकता में कहीं भी बाधक नहीं समझी जाती थी। "दस बिगहा पर पानी बदले, दस कोसन पर वानी" के अनुसार "पानी" और "वानी" की अनेकविधता तो स्वाभाविक ही है। कबीर ने जिस "संस्कृत" को "कूप जल" और जिस "भाषा" को "बहता नीर" कहा है वह भाषा निश्चय ही "हिन्दी" है। इसी में उन्होंने अपना संदेश देश को दिया था और उसे वे "एकता की कड़ी" के रूप में देखते थे। भाषा वही महत्वपूर्ण होती है जो लोगों को "तोड़ने" की बजाय "जोड़ने" का सन्देश देती हो और जिसके माध्यम से प्रेम का मार्ग प्रशस्त होता हो। इसी पावन भावना से प्रेरित होकर महाकवि जायसी ने यह कहा था—

तुरकी, अरबी, हिन्दुई, भाषा जेती आहि।
जेहि मह मारग प्रेम का, सबे सराहै ताहि।।

और यह प्रेम का मार्ग केवल हिन्दी के माध्यम से ही प्रशस्त हो सकता है। आधुनिक हिन्दी के निर्माता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा के संबंध में लिखी गई ये पंक्तियां आज हमारे लिए एक अभूतपूर्व प्रेरणा का सन्देश दे रही हैं—

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को भूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।।

किसी भी भाषा का अधिकाधिक प्रचार तभी हो सकता है जब कि उसके द्वारा अधिकांश जन-समुदाय की सांस्कृतिक गरिमा को प्रस्तुत किया जाय। इस बात को दृष्टि में रखकर ही कदाचित् अंग्रेजी ने हिन्दी को अपनाया था और ईसाई मिशनरियों ने कलकत्ता के पास सिरामपुर नामक स्थान में एक हिन्दी-प्रेस की स्थापना करके उसके द्वारा प्रचुर परिमाण में

अपना धार्मिक साहित्य प्रकाशित किया था।

इधर ईसाई मिशनरी जब अपने विचारों का प्रचार हिन्दी में कर रहे थे तब केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राव और स्वामी दयानन्द—जैसे सुधारकों ने भी अपने विचारों के प्रचार के लिए हिन्दी को ही अपनाया था। यहां यह बात विशेष रुप से स्मरणीय है कि इन तीनों महानुभावों में से पहले दो बंगाली और तीसरे गुजराती थे। इस प्रसंग में गुजरात के कच्छ प्रदेश के राजा लखपति महाराज का नाम भी विशेष रूप से स्मरणीय है, जिन्होंने अठारहवीं शताब्दी में भुज में ब्रजभाषा की एक पाठशाला खोलकर हिन्दी के प्रचार की जो नीवं डाली थी वहां धीरे-धीरे वहां इतनी सफल हुई कि बाद में उस प्रदेश के नरसी महता, मालय, दयाराम और दलपतराय जैसे महाकवियों ने भी अपनी कविताओं के माध्यम से हिन्दी की महत्ता को स्वीकर किया। जब महात्मा गांधी ने भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की गति देने की दृष्टि से हिन्दी को अपनाया तब तो यह कार्य और भी आगे बढ़ा। उन्होंने राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ देश की एकता के लिए हिन्दी के महत्व को इस सीमा तक अनुभव किया कि उन्होंने सुदूर दक्षिण में मद्रास में "दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा" की स्थापना भी की। यही नहीं, वे दो बार अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी रहे। दक्षिण में हिन्दी प्रचार के कार्य को आगे बढ़ाने की दृष्टि से उन्होंने सर्वप्रथम अपने सुपुत्र श्री देवदास गांधी को हिंदी प्रचारक के रूप में मद्रास भेजा।

इधर जहां अतीतकाल में गुजरात में हिन्दी के उन्नयन का यह कार्य हो रहा था वहां बंगाल भी इस दिशा में पीछे नहीं था। केशवचन्द्र सेन और नवीनचन्द्र राय के अतिरिक्त वहां के राजा राममोहन राय, बंकिमचन्द्र चटर्जी, श्याम सुन्दर सेन, जस्टिस शारदाचरण मिश्र, भूदेव मुखर्जी, नगेन्द्रनाथ बसु, अमृतलाल चक्रवर्ती और नलिनीमोहन सान्याल आदि अनेक महानुभाव हिन्दी के प्राचार तथा प्रसार के लिए अत्यन्त सफल प्रयास कर रहे थे। राजा राममोहन राय ने जहां अपने "बंगदूत" नामक पत्र में हिन्दी के महत्व का प्रतिपादन किया था वहां बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने 'बंगदर्शन नामक पत्र में उसकी उपयोगिता का उदारतापूर्वक समर्थन किया था। इन दोनों महानुभावों की विचार-धारा का अनुसरण करके एक ओर जहां जस्टिस शारदाचरण मित्र ने "एक्लिपि विस्तार परिषद्" की स्थापना द्वारा उसकी ओर से प्रकाशित "देवनागर" पत्र में भारत की सभी प्रमुख भाषाओं की उत्कृष्टतम कृतियों को देवनागरी लिपि के माध्यम से हिन्दी के पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने की पहल की थी, वहीं अमृतलाल चक्रवर्ती ने अनेक वर्ष तक कई हिन्दी पत्रों का सम्पादन करके अपने हिन्दी-प्रेम का परिचय दिया था। वे अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के वृन्दावन अधिवेशन के अध्यक्ष भी रहे थे। यहां यह तथ्य भी विशेष रूप से ध्यातव्य है कि हिन्दी में 2 भागों में "विश्वकोश" का लेखन और प्रकाशन करके जहां नगेन्द्रनाथ बसु ने अपने अनन्य हिन्दी-प्रेम का परिचय दिया था वहां चिन्तामणि घोष और रामानन्द चट्टोपाध्याय प्रभूति महानुभावों ने लाखो रुपयों का घाटा सहकर भी "सरस्वती" और "विशाल भारत"—जैसे साहित्यिक पत्रों का अनेक वर्ष तक प्रकाशन करके हिन्दी की समृद्धि में अपनी महत्वपूर्ण देन दी थी। इस सन्दर्भ में श्री नवीनचन्द्र राय का नाम भी विशेष रूप से इसलिए अविस्मरणीय है कि उन्होंने जहां पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से हिन्दी को रत्न, भूषण तथा प्रभाकर परीक्षाओं का प्रचलन करके प्रदेश में हिन्दी का बिरवा रोपा वहां स्वायं हिन्दी में "ज्ञान प्रदापिनी" पत्रिका का वर्षों तक सम्पादन तथा प्रकाशन करने के साथ-साथ "नवीन चन्द्रोदय" नामक हिन्दी व्याकरण की रचना भी की थी। उनकी सुपुत्री श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधरी का नाम भी विशेष महत्व रखता है, जिन्होंने "सुगृहिणी' नामक महिलोपयोगी पत्रिका का कई वर्ष तक सफल सम्पादन करने के अतिरिक्त बहुत-सी हिन्दी-पुस्तकों की रचना की थी। इनके अतिरिक्त श्री नालिनी मोहन सान्याल का नाम ऐसा है जिन्होंने कलकता विश्वविद्यालय से न केवल हिन्दी में सर्वप्रथम एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की प्रत्युत निरन्तर 7 वर्ष तक उस विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापन करने के बाद 82 वर्ष की आयु में हिन्दी में पी०एच०डी० की उपाधि प्राप्त की थी। हिन्दी में "भाषा विज्ञान" विषय पर सर्वप्रथम आपने ही ग्रन्थ-रचना की थी। इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक बंगभाषी महानुभाव हैं जिन्होंने हिन्दी की सेवा एकनिष्ठ भाव से की थी। ऐसी विभूतियों में सर्वश्री तड़ितकान्त बख्शी, द्वारकानाथ मल, तारामोहन मित्र, नलिनीवाला देवी, राजेन्द्रवाला घोष, ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय, ब्रजरत्न भट्टाचार्य, गिरिजाकुमार घोष, क्षितिमोहन सेन तथा क्षितीन्द्रमोहन मित्र मुस्तफी आदि के नाम अन्यतम हैं। श्री मुस्तफी ने हिन्दी में "माया" तथा "मनोहर" कहानियां"—— जैसी लोकप्रिय कहानी, "पत्रिकाएं" प्रकाशित की थीं, जो अब भी निर्विघ्न रूप से प्रकाशित हो रही हैं।

दूर क्यों जाएं, हम महाराष्ट्र का उदाहरण ही अपने सामने रखें। छत्रपति शिवाजी की मातृभाषा मराठी थी। उनके सभी दरबारी महाराष्ट्र के थे और प्रजा भी मराठी बोलने वाली ही थी। इतना होते हुए भी उन्होंने हिन्दी के समर्थ कवि भूषण को अपने दरबार में अत्यन्त सम्मान का स्थान दिया। यदि उनके दरबार में हिन्दी को समझने और उससे प्रेरणा लेने वाले न होते तो वे ऐसा कदापि न करते। जब वे वेश बदलकर शम्भाजी के साथ दिल्ली से दक्षिण लोटे थे तब उनके विचारों के प्रचार तथा प्रसार का माध्यम हिन्दी ही थी। महाराष्ट्र में जहां ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में मराठी के आदिकवि मुकुन्दराज और सन्त ज्ञानेश्वर ने इस भाषा के महत्व को समझा था वहां कालान्तर में गोपाल नरहरि देशपाण्डे, महादेव गोविन्द रानाडे तथा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक आदि महानुभावों ने हिन्दी के राष्ट्रीय महत्व को स्वीकार किया था। यहां तक की इन सब महानुभावों की प्रेरणा पर महाराष्ट्र के केशव वामन पेठे नामक एक युवक ने सन् 1894 में "राष्ट्रभाषा किंवा सर्व हिन्दुस्तानची एकभाषा करणे" नामक पुस्तिका की रचना करके हिन्दी के महत्व की प्रस्थापना की थी। उनके इस सत्प्रयास की प्रशंसा जहां सर्वश्री राजाराम रामकृष्ण भागवत, काशीनाथ पाण्डुरंग परव और महादेव राजाराम बोडस——जैसे अनेक गण्यमान्य विद्वानों ने की थी वहां श्री माधवराव सप्रे ने लोकमान्य तिलक के राष्ट्रीय विचारों को समस्त देश में प्रसारित तथा प्रचारित करने के पावन उद्देश्य से प्रेरित होकर सन् 1907 में नागपुर से "हिन्दी केसरी" नामक पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन किया था। लगभग इन्हीं दिनों सन् 1906 में श्री वासुदेव गोविन्द आपटे ने पूना से "आनन्द" नामक जो बालोपयोगी मासिक पत्र मराठी भाषा में प्रकाशित किया था उसमें उन्होंने 16 पृष्ठ हिन्दी में भी प्रकाशित करने प्रारंभ किये थे। इन महानुभावों के अतिरिक्त जिन अन्य मराठी-भाषी सज्जनों ने अपनी प्रतिभा और योग्यता के बल पर हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में अपना अभूतपूर्व सहयोग दिया उनमें सर्वश्री सखाराम गणेश देउसकर, बाबूराव विष्णु पराडकर, रामराव चिंचोलकर, लक्ष्मण नारायण गर्दे, मनोहर पन्त गोलवलकर, आत्माराम देवकर, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, नारायण शास्त्री खिस्ते, गोविन्दराव

हर्डीकर, गोविन्द रघुनाथ थत्ते, नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, बाबा राघवदास, केशवराम फडसे, अनन्त सदाशिव अलतेकर, गोपाल दामोदर तामस्कर, कृष्ण विनायक फड़के, नारायण वासुदेव गोडबोले, हरि रामचन्द्र दिवेकर, भास्कर रामचन्द्र भालेराव, माधव विनायक किवे, कमलाबाई किवे, विश्वनाथ गंगाधर वैशम्पायन, रघुनाथ विनायक धुलेकर, भास्कर रामचन्द्र तांबे, भास्कर गोविन्द घाणेकर, गणेश रघुनाथ वैशम्पायन, रामकृष्ण रघुनाथ सरबटे पाण्डुरंग सदाशिव साने गुरूजी, गजानन माधव मुक्तिबोध, अनिलकुमार अदयालिकर अनन्तगोपाल शेवड़े, आचार्य काका कालेलकर और आचार्य विनोबा भावे प्रभृति के नाम विशेष रूप से स्मरणीय हैं। इनमें से सर्वश्री माधवराव सप्रे और बाबूराम विरशु पराड़कर ने तो क्रमशः अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के देहरादून तथा शिमला अधिवेशनों की अध्यक्षता भी की थी।

एक ओर जहां उक्त सभी महानुभाव हिन्दी को अपनाकर उसमें प्रचुर साहित्य-सर्जन कर रहे थे वहां गुजराती-भाषी साहित्यकारों ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया था। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गान्धी जी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर जिन अनेक गुजराती-भाषी महानुभावों ने हिन्दी लेखन को अपनी साधना का अगर लक्ष्य बनाया था उनमें सर्वश्री मोहन लाल विष्णुलाल पण्ड्या, मेहता लज्जाराम शर्मा, गणपत जानकीराम दवे, गोपाल लाल ठाकुर, दुर्गाशंकर कृमाशंकर मेहता, गोविन्दजी गिल्लाभाई, भवानीशंकर याज्ञिक, जीवनशंकर याज्ञिक, मयाशंकर याज्ञिक, मायाशंकर दवे, गंगाशंकर पंचौली, लज्जाशंकर झा और गोपीवल्लभ उपाध्याय के नाम विशेष रूप से ध्यातव्य हैं। इन सब महानुभावों ने जहां हिन्दी को अपनाया वहां उसके साहित्य की बहुमुखी अभिवृद्धि करने में भी अपना अनन्य योगदान दिया था। यहां तक की गुजराती भाषी होते हुए जहां बड़ौदा-नरेश महाराज सयाजीराव गायकवाड़ और कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी ने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के क्रमशः दिल्ली और उदयपुर-अधिवेशनों की अध्यक्षता की थी, वहां गांधी जी भी सम्मेलन के सन् 1918 तथा सन् 1935 में इन्दौर में सम्पन्न हुए अधिवेशनों के अध्यक्ष रहे थे। गान्धी जी ने इससे पूर्व भी अपने दक्षिण अफ्रीका के निवासकाल में सन् 1914 में वहां से हिन्दी में पत्र प्रकाशित करके उसके महत्व की प्रतिष्ठापना की थी। मुन्शी सदासुखलाल, लल्लूजी लाल, केशव राम भट्ट और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भी गुजराती-भाषी थे। हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में जहां इनका प्रमुख योगदान रहा है वहां ओझा जी ने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भरतपुर-अधिवेशन की अध्यक्षता करने के साथ-साथ "भारतीय प्राचीन लिपिमाला" नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ का निर्माण भी किया था। बड़ौदा-नरेश श्री गायकवाड़ ने तो अपने राज्य में हिन्दी के पठन-पाठन
की समुचित व्यवस्था की हुई थी। इस प्रसंग में गुजराती के महाकवि बहराम जी मालाबारी और अरदेशर फ़राम जी खबरदार के नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दोनों महानुभाव जहां हिन्दी में अत्यन्त सशक्त कविताएं लिखते थे वहा गद्य लेखन में भी वे परम प्रवीण थे। अरदेशर फ़राम जी खबरदार तो सन् 1937 में मद्रास में सम्पन्न हुए अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर आयोजित हिन्दी कवि-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष भी रहे थे। उक्त अवसर पर दिया गया उनका हिन्दी-भाषण उनके उत्कट हिन्दी-प्रेम का परिचायक है। मद्रास के इस अधिवेशन की अध्यक्षता सेठ जमनालाल बजाज ने की थी।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सन् 1918 में इन्दौर में सम्पन्न हुए उसके आठवें अधिवेशन के निर्णयानुसार महात्मा गांधी जी ने चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के सक्रिय सहयोग से मद्रास में जिस दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की थी, कालान्तर में वह उस क्षेत्र में राष्ट्रीय जागरण का सशक्त माध्यम बनी। इस सभा के द्वारा दक्षिण में जहां अनेक हिन्दी-प्रचारक और देशभक्त कार्यकर्ता तैयार हुए वहां ऐसे अनेक नाम भी अंगुलिगण्य हैं जिन्होंने राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ हिन्दी भाषा और साहित्य की बहुविध सेवा की थी। ऐसे वरेण्य महानुभावों में श्री उन्नि दामोदर के अतिरिक्त प्रो॰ ए॰ चन्द्रहासन, ए॰सी॰ कामाक्षिराव, के॰ भास्करन नायर, के॰ वासुदेवन पिल्ले, डा॰ हिरण्यम, बी पार्थसारथी, अय्यंगर इब्राहीम शरीफ, उन्नव राजगोपाल कृष्णय्या, कन्नय्या यिरूवीथि, ए॰जी॰ रामकृष्ण पणिक्कर, एस॰आर॰ रामचन्द्र शस्त्री, एस॰ महालिंगम, श्रीमती डा॰ एस॰ लक्ष्मी, श्रीमती सरस्वती तंकच्ची, कुमारी अ॰ कमला, एस॰ रेवण्णा, के॰जी॰ शिवण्णा, के॰ श्रीकण्ठैया, पूर्ण सोमसुन्दरम, आलूरि वैरागी चौधरी, आक्कूर अनन्ताचारी, उल्लाट्टिल गोविन्दन कुट्टि नायर, ए॰पी॰सी॰पी॰ वीरबाहु, ए॰वी॰ नागेश्वरराव, एन॰एस॰ ईश्वरन, एम॰आर॰ आशीर्वादम्, एम॰बी॰ माधव कुरूप, एस॰ देवराजन, एस॰ धर्मराजन, के॰ केलप्पन, कण्णदासन, कर्णवीर नागेश्वर राव, टी॰आर॰ कृष्णस्वामी अय्यर, टी॰बी॰ श्रीनिवास मूर्ति, पी॰ कृष्णन नायर, पी॰ कृष्णमूर्ति, मुत्तैया दास तथा आरिगपूडि (ए॰ रमेश चौधरी) आदि के नाम उल्लेख्य हैं। हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार डा॰ रागेय राघव भी तमिल भाषी थे और उनका मूल नाम टी॰एन॰वी॰ आर्चाय था।

जहां यह भी विशेष रूप से ध्यातव्य है कि आन्ध्र प्रदेश में जहां भारतेन्दु के समय में नादेल्ल पुरूषोतम कवि दक्खिनी हिन्दी में मौलिक अभिनेय नाटकों की रचना कर रहे थे वहां उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में केरल के राजा गर्भश्रीमान् स्वाति तिरूनाल ने ब्रजभाषा में सूरदास की शैली पर भक्ति पदों की समर्थ सर्जना की थी। तमिलनाडु को आज जब कि हिन्दी-विरोधी कहा जाता है तब हम यह कैसे भूल जाते हैं कि मद्रास में पहला हिन्दी प्रचार विद्यालय, द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के संस्थापक श्री राम स्वामी नायकर के निवास-स्थान पर ही खुला था। यहां यह तथ्य भी अवधारणीय है कि तामिल भाषा के महाकवि श्री सुब्रह्मण्य भारती ने लोकमान्य बाल गंगाधर तिकल की प्रेरणा पर जहां सन् 1908 में मद्रास में हिन्दी की कक्षाएं प्रारंभ की थी वहां अपने "इण्डिया" नामक पत्र में हिन्दी के पाठ भी प्रकाशित करने प्रारंभ किए थे। यदि यहां तमिल-भाषी पण्डित श्रीरंगाचार्य कान्दूर के नाम का उल्लेख न किया गया तो भारी कृतघ्नता होगी, जिन्होंने सन् 1904 के लगभग वृन्दावन आकर यहां से "श्रीमद्भागवत" के हिन्दी अनुवाद का 10 खण्डों में सम्पादन किया था। यहां यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस अनुवाद का प्रकाशन बंगदेश के ताड़ास राज्य के भूपति श्रीवनमाली राय की आर्थिक सहायता से हुआ था।

इस प्रकार जहां बंगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू कन्नड़ और मलयालमलभाषी अनेक महानुभाव हिन्दी-रचनाओं के द्वारा उसके साहित्य की अभिवृद्धि करने में संलग्न थे वहां असम, उड़ीसा, सिन्ध, कश्मीर और पंजाब आदि हिन्दीतर प्रदेशों के अनेक साहितयकारों ने भी अपनी रचना-प्रतिभा से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में अनन्य एवं उल्लेखनीय योगदान दिया था। उड़ीसा की कुन्तलाकुमारी सावत ने जहां अपनी

रचना-चातुरी से हिन्दी-साहित्य में एक सर्वथा विशिष्ट स्थान बनाया है वहां सर्वश्री गोपबन्धु चौधरी, गोपबन्धु दास, गोलोकबिहारी धल, लिंगराज मिश्र, राज कृष्ण बोस ओर विच्छन्दचरण पट्नायक आदि के नाम भी उनकी हिन्दी-संबंधी सेवाओं के लिए बहुत महत्व रखते हैं। इसी प्रकार सिन्धी-भाषी ऐसे अनेक महानुभाव हैं जिन्होंने हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार में उल्लेखनीय कार्य करने के साथ-साथ हिन्दी-लेखन के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। ऐसे महानुभावों में सेठ उद्धवदास ताराचन्द, सन्त टेरूराम, तोलाराम, अजिज, देवदत्त कुन्दराम, शर्मा, साधु टी०एल० वास्वामी, प्रभुदास ब्रह्मचारी, मूलचन्द वसुमल राजपाल तथा टोपणलाल सेवाराम जेतली के अतिरिक्त जयरामदास दौलतराम का नाम भी स्मरणीय हैं। कश्मीर और पंजाब प्रदेश यद्यपि भाषा की दृष्टि से हिन्दी-भाषी प्रदेशों की अपेक्षा अपना सर्वथा पृथक अस्तित्व रखते हैं किन्तु हम यह भी नहीं भुला सकते कि हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में इन दोनों प्रदेशों का सर्वथा अनुपम योगदान रहा है। जम्मू (कश्मीर) में उत्पन्न हुए पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र ने जहां सन् 1878 में कलकत्ता से "भारतमित्र" का सम्पादन-प्रकाशन किया था वहां उन्दहोंने तत्कालीन कश्मीर-नरेश महाराज रणबीर सिंह के अनुरोध पर जम्मू से "जम्बू प्रकाश" नामक पत्र का सम्पादन भी किया था। कुछ समय तक कश्मीरी पण्डित मुकुन्दराम ने लाहौर से प्रकाशित होने वाली श्री नवीनचन्द्र राय की "ज्ञान प्रदायिनी" नामक पत्रिका का सम्पादन किया था। इन के बाद आगा हश्र
कश्मीरी, हरिकृष्ण बौहर, तुलसीदत्त "शैदा" मोहनलाल नेहरू, रामेश्वरी नेहरू, उमा नेहरू, सुशीला आगा, विमल रैना, प्रद्युम्नकृष्ण कौल, लक्ष्मीधर शास्त्री, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, सुर्चनाथ तकरू, प्रेमनाथ दर, नन्दलाल चत्ता तथा नरेन्द्र खजूरिया आदि अनेक महानुभावों ने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी की समृद्धि में प्रमुख भूमिका निबाही थी।

स्वातन्त्रय-पूर्व पंजाब का तो हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में सर्वथा अप्रतिम योगदान रहा है। यदि हिन्दीतरभाषी कहकर इस प्रदेश के लेखकों की गणना की जाएगी तो वह हिन्दी के साथ बहुत बड़ा अन्याय होगा। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन के कारण वहां हिन्दी का जो प्रसार-प्रचार हुआ उसने वहां की जनता को हिन्दी लेखन की ओर प्रेरित किया था। हिन्दी के प्रमुख कथाकार चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सुदर्शन, यशपाल, मोहन राकेश तथा श्रीमती रजनी पनिक्कर इसी प्रदेश की देन है। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी इस प्रदेश के लेखकों ने अपना विशेष कीर्तिमान स्थापित किया था। हिन्दी के मूर्धन्य पत्रकार श्री बालमुकुन्द गुप्त तथा माधवप्रसाद मिश्र भी पंजाबी ही थे, क्योंकि उन दिनों हरियाणा पंजाब प्रदेश में था। महात्मा मुन्शीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) ने जहां अपने "सद्धर्भ प्रचारक" नामक पत्र के माध्यम से उस प्रदेश में हिंन्दी का बिरवा रोपा, वहां गुरूकुल कांगड़ी-जैसी राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करके हिन्दी को अनेक लेखक और पत्रकार प्रदान किये। गुरूकुल में प्रशिक्षित और दीक्षित प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति, सत्यदेव विद्यालंकार, भीमसैन विद्यालंकार, धर्मदेव विद्या मार्तण्ड, जयदेव शर्मा विद्यालंकार, जयचन्द्र विद्यालंकार, वंशीधर विद्यालंकार, और चन्द्रगुप्त वेदालंकार-जैसे अनेक लेखक व पत्रकार पंजाबी भाषी ही थे। महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय और लाला देवराज की डी०ए०वी० कालेज, नेशनल कालेज और कन्या महाविद्यालय आदि शिक्षा-संस्थाओं का भी राष्ट्रीय जागरण के साथ हिन्दी की अभिवृद्धि में प्रचुर योगदान रहा था। इन संस्थाओं में प्रशिक्षित एवं दीक्षित महानुभावों में आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री, आचार्य रामदेव, सत्यदेव परिव्राजक डा० रघुवीरा डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० लक्ष्मीचन्द खुराना, रघुनन्दन शास्त्री, गोवर्धन शास्त्री, और परमानन्द शास्त्री आदि अनेक महानुभाव ऐसे हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया है। अगर शहीद सरदार भगतसिंह ने भी हिन्दी-लेखन के प्रति रूचि लाला लाजपतराय नेशनल कालेज में जाग्रत हुई थी। भाई परमानन्द और लाला लाजपतराय ने अपने भाषणों और लेखों के माध्यम से हिन्दी के प्रति अच्छा वातावरण बनाया था। महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती (खुशहालचन्द "खुरसन्द") ने अनेक वर्ष तक लाहौर और जालन्धर से "हिन्दी मिलाप" दैनिक का सफलता पूर्वक प्रकाशन करके जहां अपनी हिन्दी-निष्ठा का परिचय दिया था वहां गोस्वामी गणेशदत्त ने "विश्वबन्धु" का प्रकाशन करके पंजाब में हिन्दी का वातावरण तैयार करने में अविस्मरणीय कार्य किया था। इस संदर्भ में पंजाब की प्रख्यात समाज-सेविका और राष्ट्रीय कार्यकर्ती श्रीमती शन्नोदेवी द्वारा प्रवर्तित "शक्ति" नामक दैनिक पत्र की सेवाएं भी सर्वथा अभिनन्दनीय कही जा सकती हैं। यहां यह भी तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि पंजाब में उत्पन्न हुए महात्मा मुन्शीराम, गोस्वामी गणेशदत्त और जयचन्द्र विद्यालंकार ने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के क्रमशः भागलपुर, जयपुर और कोटा में सम्पन्न हुए अधिवेशनों की अध्यक्षता भी की थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अतीत काल में जब सारा देश हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार के पावन यज्ञ में अपनी गहनीय आहूति देकर उसके साहित्य की समृद्धि करने में संलग्न था तब यहां के मुस्लिम बन्धु भी कैसे पीछे रहते। खड़ी-बोली हिन्दी के आदिकवि के रूप में जहां अमीर खुसरो ने हिन्दी कविता को नये मुहावरे दिये वहां सैयद इन्शा अल्लाखां की "रानी केतकी की कहानी" नामक रचना से हिन्दी कहानी की विधा में एक अभूतपूर्व निखार आया था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका कृतित्व सर्वथा महत्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य के आदि काल में जहां कबीर, रहीम, जायसी, अलाम तथा रसखान आदि अनेक कवियों ने अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था वहां आधुनिक काल में भी ऐसे अनेक महानुभावों के नाम हमारे समक्ष उभरकर आते हैं जिन्होंने जाति, धर्म और सम्प्रदाय की दीवारों को लांघकर हिन्दी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि में उल्लेखनीय योगदान दिया था। ऐसी विभूतियों मे मीर अनीस, नजीर अकबराबादी, सैयद अमीर अली "मीर", मुन्शी अजमेरी, कासिम अली साहित्यालंकार, जहूरबख्श हिन्दी कोविन्द, समीउल्लाखां, हफीजुल्लाखां, नवीबख्श "फलक", लतीफहुसैन "नटवर" पीर मोहम्मद "यूनिस", अब्दुल रशीदखां "रसीद", दाराबखां, "अभिलाषी", हब्राहीम शरीफ तथा महमूद अहमद "हुमर" आदि के नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास की गौरव-निधि हैं। यहां यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अन्तिम मुगल-सम्राट बहादुरशाह "जफर" ने भी ब्रजभाषा में बड़ी सशक्त रचनाएं की थी। कदाचित् ऐसे ही महानुभावों की हिन्दी-सेवाओं को लक्ष्य करके भारतेन्दु बाबू हरिशचन्द्र ने यह कहा था——

"इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दू वारिये।"

इस विवरण से यह स्वतः सिद्ध है कि हिन्दी की सार्वजनिक उपयोगिता और महत्ता को ध्यान में रखकर ही दूसरे प्रदेश के निवासी नेताओं और सुधारकों ने इसे अपने विचारों को प्रकट करने का माध्यम बनाया था। आज समस्त देश में हिन्दी का जो सफल लेखन, पठन और अध्ययन हो

शेष पृष्ठ 38 पर

हिन्दी के विकास में अन्य भाषाओं की भूमिका

रमाप्रसन्न नायक*

आज हिन्दी किसी विशेष अंचल की भाषा नहीं रह गई है। वह सारे देश की भाषा बन गई है। यह सच है कि भाषा और राष्ट्र एक दिन में नहीं बन जाते, लेकिन साथ ही बीसवीं शताब्दी में यह भी सिद्ध हो गया है कि विकास की दिशा सही होने पर जो रास्ता सौ साल में तय होता था वह दस साल में तय हो सकता है।

हमारे संविधान निर्माताओं ने जब हिन्दी को राजभाषा का स्थान दिया तब वे यह बताना नहीं भूले कि हिंदी का विकास कैसे हो। अनुच्छेद 351 में यह स्पष्ट रूप से लिख दिया गया कि हिंदी का विकास इस प्रकार हो कि वह भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति कर सके। इसके रूप, शैली और पदावली में भारतीय भाषाओं की छाप हो और आवश्यकता के अनुसार संस्कृत से और अन्य भाषाओं से शब्द लिए जाएं।

हम सब यह जानते हैं कि हिन्दी की पाचन शक्ति बहुत अच्छी रही है। हिन्दी में अनेक शब्द अरबी, फारसी और तुर्की से आए हैं। आज अगर कोई कहे कि अदालत, तरबूज, खरबूज रोटी और रोजगार हिन्दी के शब्द नहीं हैं, यह कोई नहीं मानेगा क्योंकि ये शब्द हिन्दी ने आत्मसात् कर लिए हैं। इसने उन्हें, पचा लिया है, अपना बना दिया है। इसी प्रकार अंग्रेजी के राशन, परमिट, स्टेशन और रेल हिन्दी की अपनी सम्पत्ति हो गए। बंगला से 'उपन्यास' आ गया है, 'निर्भर' आ गया है और 'संभ्रांत' भी। उसी प्रकार दूसरी भाषाओं से भी प्रतिदिन शब्द हिंदी में आ रहे हैं। भारत सरकार द्वारा अपनाई गई विधि शब्दावली में भी विलंगम् आड्मान, करस्थम् पन्थम् आदि शब्द दक्षिण भारत की भाषाओं से लिए गए हैं। यह काम अनजाने में नहीं जानबूझ कर किया गया है। संविधान में दिए गए निदेशों के अनुपालन में किया गया है। यों अनायास भी पहले ही सैंकड़ों हजारों शब्द हिन्दी में दूसरी भाषाओं से आए हैं।

जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उन पर आज एक विशेष जिम्मेदारी हैं। उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दी अब केवल हिन्दी भाषी प्रदेशों की भाषा नहीं रह गई है। जब दूसरी भाषा वाले हिन्दी पढ़ते लिखते हैं, तो वे जाने-अनजाने में अपनी मातृभाषा के कुछ शब्दों का प्रयोग करते हैं। हिन्दी में उन सब शब्दों का समावेश कर लेना चाहिए। हिन्दी वालों को उनसे परहेज नहीं करना चाहिए, बल्कि उन्हें इनका स्वागत करना चाहिए।

आज अंग्रेजी दुनिया की प्रमुख भाषाओं में से एक है। यदि उसके शब्द भंडार की ओर नज़र डालें, तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उसमें एंग्लोसेक्शन मूल के शब्दों से अधिक शब्द फ्रेंच, लेटिन, जर्मन आदि अन्य यूरोपीय भाषाओं के हैं। यही स्थिति मोटे तौर से यूरोप की अन्य भाषाओं की भी है। संपर्क और समागम के बढ़ने के कारण जैसे व्यक्ति एक दूसरे के देशों में अधिक पहुंचने लगे हैं वैसे ही एक भाषा के शब्द भी दूसरी भाषा में पहुंच कर उनमें स्थायी रूप से बस जाते हैं। कभी कभी यह जरूरी हो जाता है कि वे अपनी वेशभूषा बदल लेते हैं और जिस भाषा में मिलते हैं उसकी प्रकृति के अनुसार रूप धारण कर लेते हैं। यही बात हिन्दी के साथ भी होगी। जब हम कोई नई वस्तु या कोई नई संकल्पना बाहर से लाते हैं तो उसके साथ ही उसका शब्द भी आ जाता है। ऐसे शब्दों को अपनाना कठिन नहीं होना चाहिए। जैसे हमने "टैंक" नामक वस्तु दूसरों से ली, तो उसका नाम भी साथ में आ गया। ऐसा ही रेडियों और टेलीफोन के साथ हुआ। रेल और मोटरकार भी नाम के साथ ही आए हैं।

यह तो हुई रोजमर्रा की जिन्दगी में भाषा के विकास की बात। जहां तक तकनीकी शब्दावली का प्रश्न है, भारत सरकार ने यह सिद्धान्त पहले ही स्वीकार कर लिया था कि दैनंदिन व्यवहार के शब्दों के जो प्रचालित पर्याय हैं उन्हें स्वीकार जाए, जैसे "जॉब" के लिए नौकरी, कार्य, काम आदि। जहां शब्द गढ़ने की बात आई वहां आमतौर से संस्कृत से ही शब्द लिए गए हैं, किन्तु यदि किसी अन्य भाषा में कोई सटीक शब्द मिलता है तो इसे स्वीकार किया गया है जैसे ग्रीन रूम के लिए बंगला का "सात गृह" लिया गया है और ब्लाइट एरिया के लिए मराठी का "झौपड़ पट्टी"

भाषा के विकास का दूसरा पहलू है उसके साहित्य का विकास। साहित्य और संस्कृति एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। हमारे देश में अनेक धर्म हैं, अनेक भाषाएं हैं, अनेक रीति-रिवाज और तौर तरीके हैं। जिस तरह गुलदस्ते में अलग-अलग रंग के फूल होते हैं, किन्तु उन सभी की मिलकर एक छटा होती है, उसी तरह भारत की तमाम भाषाएं एक ही भारतीय संस्कृति प्रतिबिम्बित करती हैं। यही एकता हमारे राष्ट्र का प्राण है। आज हिन्दी एकता की प्रतीक है। हिन्दी पर संस्कृत भाषा की लिपि, ध्वनि, पदावली, अलंकार आदि की छाप स्पष्ट है। जयशंकर प्रसाद और महादेवी के काव्य में संस्कृत साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यह प्रभाव जितना हिन्दी पर है उतना ही बंगला, मराठी, मलयालम, गुजराती, तेलुगु आदि भाषाओं पर भी है। राम के चरित्र को सभी भाषाओं में गाया गया है, कहीं वह कम्ब रामायण है, कहीं रगनाथ रामायण। दमयंती कथा, भगवान कृष्ण की लीला और शक्ति की उपासना सारे भारत के साहित्य में दिखाई पड़ती है।

सभी भारतीय भाषाओं के सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टिकोण में इतनी एकरूपता है, इतनी समानता है कि यदि हम एक साहित्य को पढ़ने के बाद दूसरे का अध्ययन करें तो भाषा के अन्तर को छोड़कर हमें यह लगता ही नहीं कि हम किसी अनजाने प्रदेश में आ गए हैं। वही पात्र हैं, वहीं प्रतीक हैं और वही जीवन दर्शन। यदि भेद है तो केवल भाषा और लिपि में। दर्शन, धर्म, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि अन्य क्षेत्र तो ऐसे हैं जिनमें लगभग कई भाषाओं की शब्दावली एक सी है।

*भारत सरकार के पूर्व हिंदी सलाहकार एवं सचिव राजभाषा विभाग

प्राचीनकाल में देश को एक सूत्र में बांधने के लिए जो काम संस्कृत ने किया था, वही काम आज हिन्दी को करना है। शंकर, रामानुज, निम्बार्क पंडितरज जगन्नाथ, कल्हण, भवभूति, कालिदास, पाणिनि, कौटिल्य आदि न जाने कितने नाम हैं। इनमें से कोई केरल का निवासी था तो कोई पेशावर का कोई आन्ध्र का था तो कोई मध्यलदेश का किन्तु भाषा सब की एक ही थी, ध्येय सब का एक ही था और सांस्कृतिक चेतना सबकी एक ही थी।

हिन्दी के विकास में आरम्भ से ही भारतीय भाषाओं का योगदान अनूठा रहा है। मराठी के संत कवि ध्यानेश्वर, नामदेव और युकाराम ने हिन्दी पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। मराठी की संत-काव्य की परम्परा ने और गुजराती की रासों काव्य परम्परा ने हिन्दी साहित्य को हमेशा अनुप्रामाणित किया है।

जिस पैमाने पर हिन्दी भाषा का उत्तर भारत की भाषाओं से आदान प्रदान हुआ है उस पैमाने पर दक्षिण भारत की भाषा के साथ भले ही न हुआ हो, फिर भी साहित्य और रचना प्रक्रिया की दृष्टि से द्रविड़ कुल की भाषाओं से हिन्दी की स्वाभाविक समानता है। चूंकि हमारी सांस्कृतिक मान्यताएं, हमारे इतिहास पुरुष और हमारे प्रेरणा के स्रोत एक ही हैं, इसलिए रचनाओं में समरसत्ता है, अपनापन है। दक्षिण भारत की रचनाओं के हिन्दी अनुवाद को पढ़ने से एकता को भी बल मिलता है, हमारी संस्कृति के विभिन्न पहलू हमारे सामने आते हैं और हम भावात्मक रूप से अपने ही देश के अन्य भाषा-भाषी लोगों के साथ और गहरे जुड़ जाते हैं।

भारत सरकार के अधीन शिक्षा और विधि मंत्रालयों में शब्दावली निर्माण का काम अनुच्छेद 351 को ध्यान में रखते हुए ही किया गया है। इससे हिन्दी का शब्द भंडार तो बढ़ा ही है, साथ ही अन्य भाषाएं भी हिन्दी के निकट आई हैं और भारत की आधारभूत एकता को बल मिला है। साहित्य अकादमी और नेशनल बुक ट्रस्ट ने भारतीय भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं का परस्पर अनुवाद करने की योजना बनाई है। राज्यों की साहित्य अकादमियां भी भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद कर रही हैं। भारतीय ज्ञानपीठ की पुरस्कार योजना से सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यकार लाभान्वित हो रहे हैं।

यदि देश की आधारभूत एकता और उस संबंध में हिन्दी की विशेष भूमिका को ध्यान में रखते हुए हम सब मिल कर प्रयास करेंगे, तो भारतीय भाषाओं के शब्द भंडार और साहित्य से लाभ उठाते हुए हिन्दी भारत की सामासिक संस्कृति का वास्तविक प्रतीक बन जाएगी और तब हम अपना वह कर्त्तव्य पूरा कर सकेंगे जो हमारे संविधान निर्माताओं ने हमें सौंपा था।

(आकाशवाणी के सौजन्य से)

पृष्ठ 36 **का शेषांश**

रहा है उसमें भी महात्मा गांधी की प्रेरणा और उनके द्वारा संस्थापित "दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास" तथा "राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा" जैसी अनेक संस्थाओं का अत्यधिक योगदान है। शासन के क्षेत्र में तो अब सभी ओर हिन्दी का प्रचलन और व्यवहार द्रुतगति से हो रहा है। जब इतने व्यापक रूप से हिन्दी का सर्वत्र प्रचार है तब तो राजभाषा के रूप में उसकी प्रतिष्ठा सर्वथा असन्दिग्ध है। इस संदर्भ में हमें अत्यन्त सहिष्णुता और उदारता से काम लेना है। सभी प्रान्तों और भाषाओं का सहयोग लेकर ही हमें हिन्दी की अभिवृद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील होना है।सुप्रसिद्ध मनीषी आचार्य क्षितिमोहन सैन ने भाषा को किसी भी देश की एकता का प्रधान साधन मानते हुए हिन्दी के प्रति जो उद्‌गार प्रकट किये थे वे आज के वातावरण में हमारे लिए प्रचुर प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं। उन्होंने कहा था—"अंग्रेजी भाषा की महिमा इसलिए नहीं है कि वह हमारे शासकों की भाषा थी, बल्कि इसलिए है कि उसने संसार की समस्त विधाओं को आत्मसात् किया हुआ है। हिन्दी को सभी वह पद पाना है। उसे भी नाना विधाओं, कलाओं और संस्कृतियों की त्रिवेणी बनना होगा। हिन्दी मे वह क्षमता है। बिना ऐसा बने भाषा की साधना अधूरी रह जाएगी। भाषा हमारे लिए साधन है, साध्य नहीं, मार्ग है, गंतव्य नहीं, आधार है, आधेय नहीं।"

भारत एक बहुभाषी देश है। इस देश की सभी भाषाओं और लिपियों को अपने-अपने प्रदेशों में अवश्य बढ़ावा मिलना चाहिए। लेकिन जहां तक देश की एकता का सम्बन्ध है उसके लिए हिन्दी ही एक सशक्त माध्यम हो सकती है। स्वतंत्रता के लगभग 37 वर्ष बाद तो अब ऐसी स्थिति आ गई है कि हम यह निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि हिन्दी वस्तुतः सारे देश की ही भाषा है। आज हिन्दी में जो लेखन हो रहा है, उसमें सभी भाषाओं के लेखकों का योगदान है। यहां तक कि इन लेखकों की भांति ही सहज, सरल और प्रवाहमयी हिन्दी लिखने लगे हैं।

अब वह समय आ गया है कि समस्त भारतीय भाषाएं मुक्त स्वर से जहां "एक हृदय हो भारत जननी" का पावन उद्‌घोष करेगी वहां राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की यह भावना देश की एकता के लिए सत्य सिद्ध होकर रहेगी—

हिन्दी का उद्देश्य यही है,
भारत एक रहे अविभाज्य।
यों तो रूस और अमरीका
जितना है उसका जन-राज्य।।

राजभाषा हिंदी परंपरा और विकास

—डॉ॰ भोलानाथ तिवारी

भारत में राजभाषा की परंपरा की ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हमारा ध्यान संस्कृत काल की ओर जाता है। जिस समय संस्कृत का व्यापक प्रयोग हो रहा था मध्य प्रदेश की संस्कृत ही मानक और अनुकरणीय मानी जाती थी। पूरे देश के संस्कृत-प्रयोक्ता औपचारिक अवसरों पर संस्कृत के मध्यदेशीय रूप का ही प्रयोग करते थे। कहना न होगा कि यह मध्य देश मोटे रूप में वही क्षेत्र है, जो आज केन्द्रीय हिंदी प्रदेश है। उस प्राचीन काल से लेकर लगभग 12वीं सदी तक मुख्य सभी भारतीय राज्यों में संस्कृत का यही रूप राज्यभाषा था। यों बीच में कभी-कभी कुछ और भाषा-रूपों के भी व्यापक प्रयोग हुए। उदाहरण के लिए पालि काल (500 ई॰ पू॰ से 1 ई॰) में पालि का व्यापक प्रयोग हुआ, किंतु यह उल्लेखनीय है कि पालि भी मूलतः मध्यदेशीय भाषा ही थी और आधुनिक हिंदी का ही एक प्रकार से प्राचीन रूप थी। हां उस पर पूर्वी प्रभाव अवश्य था, किंतु वह प्रभाव मगध का था, और वह भी हिंदी प्रदेश ही है। अशोक ने यों तो बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और उसके राज्य में पालि का आदर भी था किंतु उसके राजकाल की भाषा प्राचीन शौरसेनी थी—अर्थात् शौरसेनी प्राकृत का प्राचीन रूप। यह शौरसेनी प्राकृत भी मध्य देशीय भाषा ही थी ब्रज-खड़ी बोली आदि का प्रचीन रूप। **प्राकृत काल (1 ई॰ से 500 ई॰) में इसी शौरसेनी का सबसे अधिक प्रयोग होता था। संस्कृत नाटकों में इसीलिए उच्चस्तरीय पुरुषों को छोड़कर अन्य पात्र शौरसेनी का ही प्रयोग करते मिलते हैं। कलिंग के जैन राजाओं तथा आंध्रवंशी राजाओं के यहां शौरसेनी ही राजभाषा थी। आगे चलकर इसी परंपरा में पश्चिम की साहित्यिक अपभ्रंश (शौरसेनी अपभ्रंश) का प्रयोग सातवाहन, प्रवरसेन, यशोवर्मन आदि परवर्ती राजाओं ने अपने यहां राजभाषा के रूप में किया। इस तरह मध्यदेशीय भाषा के प्रयोग की परंपरा आगे बढ़ी।**

12वीं सदी के बाद तुर्कों और अफ़गानों के आगमन से राजभाषा फ़ारसी बनी, किंतु आंशिक रूप से तत्कालीन केन्द्रीय भाषा पुरानी हिंदी को भी सहभाषा के रूप में स्वीकृति मिली थी, क्योंकि अधिकांश सरकारी कर्मचारी भारतीय थे, और उन सभी के लिए फ़ारसी का प्रयोग बहुत सरल नहीं था। हिसाब-किताब का तो काफ़ी काम हिंदी में चलता था (भारत की राष्ट्रीय संस्कृति—आबिद हुसैन, पृ॰ 55)। आगे चलकर अलाउद्दीन खिलजी की दक्षिणी विजयों के परिणामस्वरूप हिंदी, दक्षिण भारत में पहुंची और उसे, अरबी-फ़ारसी शब्दों के साथ आदिलशाही, कुतुबशाही, बरीदशाही, हमामशाही, निज़ामशाही राज्यों में संरक्षण मिला। 'दक्खिनी' के रूप में आज यही भाषा जानी जाती है।

मुगल शासन में भी हिंदी सहराजभाषा के रूप में थी। अकबर स्वयं हिंदी में लिखते थे। उनके दरबार में रहीम खान-खाना हिंदी के प्रसिद्ध कवि थे। जहाँगीर को भी हिंदी का अच्छा ज्ञान था। औरंगज़ेब की पुत्री जेबुन्निसां हिंदी में कविताएं करती थी। हिंदी के सहभाषा होने की बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि शेरशाह सूरी से लेकर बाद तक के सिक्कों पर प्रायः फारसी के साथ हिंदी का भी प्रयोग मिलता है। वस्तुतः अपने प्रचार-प्रसार के कारण भारतीय भाषाओं में हिंदी स्वतः राजभाषा के रूप में उभर कर धीरे-धीरे आगे आ रही थी तथा वह हिंदी प्रदेश के बाहर तरह-तरह से अखिल भारतवर्षीय भाषा के रूप में प्रचार-प्रसार पर रही थी। अधिकांश मराठी राजाओं, जैसे पेशवा, होलकर, सिंधिया की राजभाषा हिंदी थी। इधर इस प्रकार की प्रभूत सामग्री मिली है। मराठे अभिलेखों में प्राप्त कुछ प्राचीन वाक्य हैः संकुजी भोंसले कहे सो प्रमान करना "अस यहां षरीफ की किस्तबंदी करी है" या तहसील करके षजानों नरसिंहगर पहुंचावे' आदि। बहमनी राज्य की भी प्रायः स्थिति यही थी।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि, इस परंपरागत प्रचार-प्रसार का ही परिणाम हुआ कि बहुत पहले से विभिन्न प्रदेशों के लोग हिंदी में भी साहित्य रचना करते रहे हैं। इस दृष्टि से पहले पंजाब की बात लें तो गोरखनाथ, चरपटनाथ आदि कोई नाथ कवि वहाँ के थे। इनकी रचनाएँ प्राचीन हिंदी में हैं। सिक्ख गुरुओं में नानक, अंगददेव, अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, तेगबहादुर, गोविंदसिंह आदि की हिंदी रचनाएं प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः पंजाब के सौ से अधिक कवियों और लेखकों ने समय-समय पर हिंदी में ही भी लिखा है। गुजरात का तो कहना ही क्या? झावेरी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'माइल स्टोन आफ़ गुजरात लिटरेचर' में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'मध्यकालीन गुजरात में हिंदी ही अधिकांशतः विद्वानों की भाषा थी। मराठी के रामदास, ज्ञानेश्वर, एकनाथ आदि हिंदी के भी कवि थे। **शिवाजी के दरबार में हिंदी कवि भूषण राजकवि थे। केरल के राजाराम वर्मा हिंदी के बहुत अच्छे कवि थे। आंध्र के प्रसिद्ध कवि पद्देन्ना, बंगला कवि गुणाकर तथा उड़िया कवि ब्रजनाथ ने भी हिंदी में रचनाएँ की हैं।**

आधुनिक काल में राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, बंकिमचंद्र, महात्मा गाँधी आदि ने हिंदी को अखिल भारतवर्षीय स्तर पर अपनाने पर बल दिया। इस प्रसंग में एक घटना उल्लेख्य है। स्वामी दयानंद सरस्वती पहले संस्कृत में ही भाषण देते थे। एक बार उनका कलकत्ते में भाषण हुआ। उसे सुनकर केशवचंद्र सेन (बंगाली) ने ही स्वामी जी (गुजराती) को राय दी कि यदि आप चाहते हैं कि आपकी बातों का भारत की अधिकांश जनता सुन-समझ सके तो आप अपना भाषण हिंदी में दीजिए। तभी से उन्होंने न केवल अपना भाषण हिंदी में देना प्रारंभ किया बल्कि अपने ग्रंथ भी हिंदी में ही लिखे।

अंग्रेजी राज्य में राजभाषा की कहानी पूर्ववर्ती परंपरा के बहुत कुछ अनुरूप रही थी। मुगल राज्य में फ़ारसी के साथ-साथ एक सीमा तक हिंदी भी चलती थी। मुगलों के पतन के बाद फ़ारसी का महत्व घटता गया। अतः 1837 में फ़ारसी का स्थान

ले अंग्रेजी ने ले लिया, और स्थानीय भाषाओं को सह-राजभाषा बनाया गया। जैसे बंगाल में अंग्रेजी के साथ बंगला, तो महाराष्ट्र में अंग्रेजी के साथ मराठी। हिंदी प्रदेश (उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार) में अंग्रेजी के साथ हिंदुस्तानी की अरबी-फ़ारसी मिश्रित शैली उर्दू को कचहरियों की भाषा बनाया गया। वस्तुतः, जैसा कि गिलक्राइस्ट ने 1800 के आस-पास ही कहा था, हिंदी-हिंदुस्तानी उर्दू एक ही भाषा की तीन शैलियाँ हैं क्योंकि इनका व्याकरण एक है, अंतर केवल शब्दों का है, जैसे: आपका घर कहाँ है? (हिंदुस्तानी)—आपका शुभस्थान कहाँ है? (हिंदी)—आपका दौलतखाना कहाँ है? (उर्दू) ये वाक्य तीन भाषाओं के न कहे जाकर एक भाषा के कहे जाएँगे क्योंकि इनका अंतर व्याकरण का न होकर मात्र शब्दों का है।

स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान यह बात स्पष्ट हो गई थी कि भारत के लिए एक प्रतिनिधि या संपर्क भाषा की आवश्यकता है, और वह भाषा अपेक्षाकृत अधिक लोगों द्वारा बोली जाने के कारण हिंदी ही हो सकती है। 1909 में गाँधीजी, ने अपनी पुस्तक 'हिंदी स्वराज्य और होमरूल' (18वा अध्याय) में यही बात कही थी। 1917 में गुजरात शिक्षा-परिषद् के सभापति पद से भी उन्होंने यही बात दुहराई थी। और अंत में 1925 में कानपुर के काँग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस की महासमिति और कार्यकारिणी का काम हिंदी में करने का प्रस्ताव इसी दृष्टि से पारित हुआ। इन सब का परिणाम यह हुआ कि भारत के स्वतंत्र होने पर हिंदी को राजभाषा बनाया गया। संविधान के अनुच्छेद 343 में यह कहा गया है कि संघ की सरकारी भाषा देवनागरी लिपि में हिंदी होगी। साथ ही यह भी कहा गया है कि संघ के सरकारी काम-काज में नागरी अंकों के स्थान पर रोमन अंकों का प्रयोग होगा।

राजभाषा के रूप में हिंदी के प्रचार-प्रसार और समुचित विकास की आगे की कहानी इसके बाद से ही शुरु होती है। राजभाषा के समुचित विकास की समस्या पर विचार करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 344 के खंड एक के अनुसार 1955 में राजभाषा आयोग बनाया गया, जिसने यथासमय कुछ बातों की सिफारिशें कीं। इन सिफ़ारिशों की जाँच के लिए संविधान के अनुच्छेद 344 के खंड चार के अनुसार 30 सदस्यों (20 लोक सभा, 10 राज्य सभा) की एक समिति गठित की गई। इस समिति ने 1959 में अपनी रिपोर्ट दी। राष्ट्रपति ने इस रिपोर्ट पर विचार किया और 1960 में एक आदेश जारी किया जिसकी महत्वपूर्ण बातें इस प्रकार थीं:—

(1) वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के निर्माण के लिए शिक्षा मंत्रालय को एक स्थायी आयोग स्थापित करना चाहिए।

(2) शिक्षा मंत्रालय सांविधिक नियमों, विनियमों और आदेशों के अतिरिक्त सभी मैनुअलों तथा कार्यविधि साहित्य का अनुवाद हाथ में ले और भाषा में एकरूपता सुनिश्चित करने की आवश्यकता की दृष्टि से यह काम केवल एक ही अभिकरण को सौंपा जाए।

(3) एक मानक विधि शब्दकोश बनाने, हिंदी में विधि के पुनः अधिनियमन और विधि-शब्दावली के निर्माण के लिए विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले कानून के विशेषज्ञों का एक स्थायी आयोग स्थापित किया जाए।

(4) तृतीय श्रेणी से नीचे के कर्मचारियों, औद्योगिक संस्थानों के कर्मचारियों और कार्य-प्रभारित कर्मचारियों को छोड़कर उन सभी केंद्रीय सरकारी कर्मचारियों के लिए हिंदी का सेवाकालीन प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया जाए जिनकी आयु दिनांक 1-1-61 को 45 वर्ष से कम हो। गृह मंत्रालय टंककों और आशुलिपिकों को हिंदी टंकण तथा आशुलेखन प्रशिक्षण देने के लिए भी प्रबंध करे।

सरकारी कर्मचारियों में हिंदी-भाषा और साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने, सरकारी कामकाज में हिंदी भाषा के प्रयोग के रास्ते में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने तथा हिंदी के अधिकाधिक प्रयोग का प्रचार और प्रसार करने के उद्देश्य से 3 मई 1960 को केंद्रीय सचिवालय हिंदी परिषद नाम की एक संस्था गठित की गई। केंद्रीय सरकारी कार्यालय में काम करने वाला कोई भी कर्मचारी वार्षिक शुल्क देकर परिषद का सदस्य बन सकता है। परिषद एक छोटी-सी पत्रिका भी प्रकाशित करती हैं, जिसका नाम "हिंदी परिचय' हैं। परिषद की देश-विदेश में लगभग अनेक शाखाएँ हैं। समिति ने हिंदी के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के लिए काफ़ी पुस्तिकाएँ और चार्ट आदि प्रकाशित किए हैं, जिनमें कुछ के (जैसे कार्यालय सहायिका) तो कई संस्करण निकल चुके हैं। परिषद हिंदी टंकण, हिंदी आशुलिपि, हिंदी टिप्पण आदि की प्रतियोगिताएं भी आयोजित करती हैं। इस प्रकार सरकारी कर्मचारियों और सरकारी कार्यों में हिंदी भाषा के प्रचार प्रसार के लिए परिषद बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

आगे चल कर राजभाषा अधिनियम 1963 तथा राजभाषा नियम, 1976 में हिंदी के राजभाषा के रूप में प्रयोग के संबंध में कुछ और बातें भी घोषित की गई हैं तथा राजभाषा विभाग हिंदी के प्रयोग में उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए इधर कई वर्षों से काफ़ी सक्रिय रहा है जिसका पता उसकी वार्षिक रिपोर्टों से लगता है।

जहाँ तक राजभाषा हिंदी के विकास का संबंध है यह ध्यान देने की बात है कि राजभाषा या प्रशासनिक भाषा या कार्यालयीन भाषा के रूप में किसी भाषा के विकास का अर्थ होता है उस भाषा की एक ऐसी प्रयुक्ति (Register) का विकास, जो विश्व के अन्य समुन्नत देशों जैसे इंग्लैंड, अमरीका, सोवियत संघ आदि में सुविकसित कार्यालयीन भाषा (Officialese) के समान निर्वैयक्तिक पारिभाषिक शब्दों में अन्य प्रयुक्तियों से यथावश्यकता अलग, प्रयोग की आवश्यकताओं के अनुरूप, स्पष्ट, असंदिग्धार्थता से युक्त तथा लचीली हो। उसमें पारिभाषिक शब्द ऐसे होने चाहिए जिनसे आगे चलकर आवश्यकतानुसार नए पारिभाषिक शब्द बनाए जा सकें। साथ ही कार्यालयीन भाषा में पदनाम या अन्य प्रकार के संक्षेपों। (जैसे J.S.—Joint Secretary) का प्रयोग बहुत अधिक होता है। इससे बोलने तथा लिखने में समय की भी बचत होती है तथा सुविधा भी होती है। अतः समुन्नत राजभाषा के लिए यह भी अनिवार्यतः आवश्यक है कि उसमें ऐसे स्पष्ट और सरल नियम हों जिनके आधार पर सरलता से संक्षेप बनाए जा सकें। कहना ने होगा कि राजभाषा हिंदी पारिभाषिक शब्दावली आदि कुछ क्षेत्रों में तो काफी विकसित हो गई है। इसमें निर्वैयक्तिक प्रयोगों (जैसे सूचित किया जाता है, न कि मैं सूचित करता हूं) का भी अच्छा विकास हो गया है, किंतु संक्षेप के नियम जैसे कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं जिस दिशा में अभी कुछ भी नहीं हुआ है, और उस दिशा में विकास के लिए राजभाषा हिंदी को प्रयास करना है। □

राजभाषा हिन्दी के विकास की समस्या और साहित्यकार

डा० विजयेन्द्र स्नातक*

हिन्दी भाषा के विकास में साहित्यकार के कर्तव्य और दायित्व का प्रश्न हिन्दी के राजभाषा रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण विचारणीय हो गया है। भाषा-विकास का दायित्व यों तो सर्जक साहित्यकार वहन करते ही हैं किन्तु हमारे देश में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रभाषा हिन्दी की स्थिति में जो परिवर्तन आया है, वह एक नये दायित्व से संबंध रखता है। **रचनात्मक साहित्य से सम्बद्ध अनेकानेक समस्याओं में आज हिन्दी के साहित्यकार के समक्ष भाषा के व्यापक विकास की समस्या भी ज्वलंत रूप से उपस्थित हो गई है।** यह ठीक है कि विचारों का वहन या अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण भाषा का स्थान भाव और विचार की तुलना में गौण है किन्तु समसामयिक परिस्थितियों में हिन्दी भाषा की समस्या उतनी उपेक्षणीय नहीं है जितनी कि उच्चस्तरीय साहित्यिक चिन्तन में अब तक मानी जाती रही है।

हिन्दी भाषा के विकास के प्रश्न को अब हम केवल प्रचार या आन्दोलन तक ही सीमित बनाकर नहीं छोड़ सकते। उच्चतर साहित्यिक कथ्य को भव्यतर भाषा का माध्यम अभिप्रेत होता है, यह बात और कोई जाने या न जाने, किन्तु सर्जक साहित्यकार अवश्य जानता है। अब तक हिन्दी के विकास की योजनाएं प्रचार-सभाओं, सम्मेलनों या परीक्षा-संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत होती रही हैं इसलिए कृती साहित्यकारों का उसमें सक्रिय योग नहीं रहा। लेकिन आज हिन्दी की स्थिति इतनी बदल गयी है कि हम उसके विकास का दायित्व केवल प्रचार-संस्थाओं और सम्मेलनों पर सौंपकर आश्वस्त नहीं हो सकते। **हिन्दी को सक्षम, समृद्ध और गतिशील बनाने के लिए सर्जक साहित्यकार को उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर विकास में सक्रिय योग देना होगा। साहित्यकार का यह योगदान आनुशंगिक न होकर प्रमुख होगा,** तभी हम हिन्दी का सार्वभौम रूप स्थिर कर सकेंगे।

सामान्यतः किसी भी भाषा के विकास में उसके प्रयोक्ताओं का हाथ रहता है। शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्ग के व्यक्ति भाषा को विकसित करने में योग देते हैं। जो रचनाकार नहीं है और भाषा का केवल दैनन्दिन व्यवहार करते हैं वे भी भाषा को एक सीमा-मर्यादा में विकसित करते हैं। लोक साहित्य की रचना में इस वर्ग का हाथ रहता है। कभी-कभी इस वर्ग में विलक्षण प्रतिभाएं जन्म लेती हैं जिनकी वाणी को परवर्ती काल में साहित्य की संज्ञा भी मिल जाती है। कबीर इस वर्ग की श्रेष्ठतम विभूति हैं। किन्तु इस लेख में मैं शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्यकार के दायित्व पर ही विचार व्यक्त करना चाहता हूं। सर्जक साहित्यकार भाषा को सामान्य संकेत-ग्रह या अभिधेयार्थ से आगे लाक्षणिकता एवं ध्वन्यात्मकता के सूक्ष्म स्तरों तक पहुंचता है। भाषा के माध्यम से जटिल तथा दुर्बोध मनोभावों को सम्प्रेष्य और सुबोध बनाता है। उसका दायित्व भाषा-विकास के संदर्भ में बोलचाल की भाषा के दैनन्दिन प्रयोग करने वालों से कहीं गुरुतर होता है। **भाषा के संदर्भ में कृती साहित्यकार वह है जो नये शब्द, नये मुहावरे, नूतन भंगिमा और विच्छित्ति देकर अभिव्यक्ति को पुष्ट, प्रांजल और परिष्कृत बनाता है। जिस प्रकार रचना कर्म के साथ साहित्यकार का दायित्व जुड़ा होता है उसी प्रकार माध्यम (भाषा) के दायित्व से भी वह सहज रूप से सम्पृक्त है। अविकसित माध्यम से विकसित एवं गतिशील साहित्य की सृष्टि कैसे संभव हो सकती है।**

अब तक हिन्दी का सर्जक साहित्यकार हिन्दी-भाषी जनता को लक्ष्य बना कर रचना करता रहा है किन्तु अब हिन्दी के पाठक उत्पन्न हो रहे हैं। उनकी परिधि में पहुंचकर हिंदी भाषा को अपने रूप सौष्ठव में कुछ परिवर्तन लाना होगा। सुबोध और सहज अभिव्यक्ति की क्षमता उत्पन्न करनी होगी। विकास की यह दशा कृती साहित्यकार ही खोलेंगे और इसके लिए उन्हें प्रादेशिक भाषाओं से आदान भी करना होगा। केवल प्रदान का एक तरफा मार्ग (वन वे ट्रैफिक) अपर्याप्त रहेगा। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रहे कि वह दिन दूर नहीं जब अहिन्दी भाषी विद्वान हिन्दी के साहित्यकारों की पंक्ति में बैठेंगे और उनकी अभिव्यंजना शैली से हिन्दी के विकास का नया मार्ग उन्मुक्त होगा। दक्षिण तथा पूर्वांचल की भाषाओं की शब्दावली और भंगिमा से हिन्दी के कोश और शैली में सौष्ठव उत्पन्न होगा और यत्किंचित् व्याकरण में परिवर्तन भी। ऐसे समय शुद्धतावादी दृष्टि को जड़भाव से पकड़ कर चलना कुछ कठिन हो जाएगा। साहित्य सर्जकों का यह दायित्व है कि वे हिन्दी के इस संक्रान्ति काल में जब हिन्दी सार्वदेशिक भाषा का रूप ग्रहण कर रही है व्याकरण और शैली में स्थिरता के उपाय ढूंढे और स्वस्थ विकास को दृढ़ता से पकड़े रहें।

हिन्दी भाषा के विकास के संदर्भ में कुछ बाह्य प्रभावों का उल्लेख करना भी मैं आवश्यक समझता हूं। हिन्दी के नवलेखन पर अंग्रेजी का प्रभाव शनैः शनैः बढ़ रहा है। कुछ पुराने लेखक आक्रोश की वाणी में नवलेखन के साहित्य को "कार्बन कापी" कहकर भी पुकारते हैं। मैं कार्बन कापी कहने का खतरा नहीं उठाना चाहता किन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि भाषा विकास के क्रम में जीवन्त भाषाओं में आदान-प्रदान चलना स्वाभाविक है किन्तु शब्द-भण्डार, मुहावरे, लोकोक्ति तथा वाक्यविन्यास में आदान करते समय हिन्दी की नैसर्गिक प्रकृति का ध्यान रखना साहित्यकार का कर्तव्य है। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है, विकास की दिशा खोलते समय उसकी प्रकृति की रक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। यदि विदेशी भाषाओं के शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियां केवल अनूदित होकर प्रस्तुत किये जाते हैं और भाषा की मूल प्रकृति में समाहित नहीं होते तो उनसे भाषा विकास की आशा करना व्यर्थ है। इसी प्रकार अप्रस्तुत विधान और प्रतीक का प्रश्न है। प्रतीकों का रूपान्तरण तो कभी-कभी इतना जटिल और दुर्बोद्ध बन जाता है कि उसके द्वारा अभीष्ट चित्र पाठक के मन में उभरता ही नहीं। प्रतीकों की अपनी एक सांस्कृतिक और साहित्यिक पीठिका तथा परिवेश होता है। एक विशेष परिवेश में, विशेष संस्कारों और सीमाओं में उनकी सृष्टि होती है। कभी-कभी वे जातीय, देशीय या भौगोलिक आधार पर स्वीकृत किए जाते हैं। अतः उनका प्रयोग करने वाले को देखना चाहिए कि हमारी भाषा में प्रयुक्त होकर वे उन्हीं संदर्भों को उभार कर इच्छित अभिव्यक्ति में सहायक होंगे या नहीं। अर्थ बोध ही अभिव्यक्ति की पहली शर्त है। यदि कैक्टस का प्रतीकात्मक अर्थ पाठक के मन में पूरा अर्थ ध्वनित नहीं करता तो प्रयोग निष्फल जायेगा। अतः सर्जक साहित्यकार हिन्दी के विकास के साथ इस तथ्य को अपनी दृष्टि से ओझल न करें। मैं उन शब्दों, मुहावरों और प्रतीकों का समर्थन और स्वागत करता हूं जो हिन्दी की अभिव्यंजना में सहज रूप से समा गये हैं और अभिव्यक्ति में सौन्दर्य के साथ चारुत्व का विकास करने में समर्थ हैं।

नयी पीढ़ी के साहित्यकार रूपान्तरण की पद्धति को अपनाते समय एक

* भूत पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्व विद्यालय।

विशेष तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि हिन्दी में नवीन साहित्य-विधाओं के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि नये शब्द, नये प्रतीक, नये मुहावरे और नूतन बिम्ब विन्यास ग्रहण किए जायें। भाषा को सम्प्रेषणीय बनाने और नयी भंगिमा और विच्छित्ति के लिए नूतन शब्द विधान सदा होता रहा है। मेरा आग्रह है कि अर्थ-बोध की शर्त साहित्यकार के सामने रहे तो कोई भी रूपान्तरण अग्राह्य नहीं बन सकता। नये लेखक बार-बार यह कहते हैं कि पुराने शब्दभंडार से हमारा काम नहीं चलता। पुराने शब्दों के साथ इतनी रूढ़ियां लिपटी हुई हैं कि नये भावबोध के लिए उन्हें भावबोध एवं सम्प्रेषण के लिए नये शब्द गढ़ना हमारे लिए अपरिहार्य हो गया है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि जिस भावबोध को प्रेषणीय बनाने के लिए हम नूतन शब्द तथा प्रतीक का विधान कहते हैं वह भाषा को चक्करदार और क्लिष्ट बनाकर अर्थातीत तो नहीं कर देता। मैंने ऐसे अनेक रूपान्तरित वाक्यखंड नई समीक्षा में पढ़े हैं जिनमें भाव का विपर्यास होकर रह गया है, भाव अभिव्यक्त नहीं हुआ। उदाहरण देकर ऐसी विपर्यस्त रचनाओं का यहां उल्लेख नहीं करना चाहता। मैं तो केवल यही कहना चाहता हूं कि प्रस्तुत संदर्भ में हिन्दी के विकास के प्रयत्नों में इस विपर्यस्त शैली पर साहित्यकार को ध्यान देना चाहिए। अगर अपना लिखा, खुद आप ही समझे तो क्या समझे—का ध्यान साहित्यकार को रहे तो रूपान्तरण भाषा को समृद्ध करने का शक्तिशाली उपाय भी है। नव-लेखन द्वारा यह समृद्धि हिन्दी को सुलभ हुई है यह मानने में किसी को संकोच नहीं होना चाहिए।

हिन्दी का साहित्यकार अभी तक नागरिक जीवन तक ही अपने को सीमित रखकर लिखता रहा है। कथा-साहित्य को छोड़कर अन्य किसी विधा में नगर से बाहर साहित्यकार की दृष्टि नहीं गई। प्रेमचन्द ने मध्यवर्गीय ग्रामीण समाज को अपने कथा साहित्य में स्थान दिया था, फलतः उनका साहित्य व्यापक स्वीकृति का अधिकारी हुआ। साथ ही भाषा का विकास पदावली, मुहावरे, लोकोक्ति तथा प्रतीक सभी स्तरों में भिन्न रूप में संभव हुआ। हिन्दी को विकसित करने के लिए साहित्यकार को अपना क्षेत्र-विस्तार करना होगा। कथा साहित्य में इसीलिए नये शब्द और मुहावरे दृष्टिगत होते हैं कि उनका क्षेत्र गांव और कस्बे तक फैला हुआ है। काव्य, नाटक, समीक्षा, निबन्ध आदि विधाओं में नागरिक अभिजात्य वर्ग तक मर्यादित कर देना साहित्य विकास, भाषा विकास और राष्ट्र-विकास के लिए कभी काम्य नहीं हो सकता। हिन्दी के जागरूक साहित्यकार को उन प्रदेशों, जातियों, कबीलों और वर्गों को अपने साहित्य में स्थान देना चाहिए जो हिन्दी भाषी होकर भी हिन्दी-साहित्यकार के लिए अनचीन्हे और अस्पृश्य बने हुए हैं। भाषा की समृद्धि के लिए कल-कारखानों, खेत-खलिहानों, बन्दरगाहों, कोयले की खानों, और नवनिर्माणों में जुटे हुए लोगों के जीवन को अंकित करना होगा। आदिवासियों और जरायमपेशा जातियों की शब्दावली से परिचय प्राप्त करने से ही उनकी जीवन गति का वर्णन करना संभव है। हिन्दी के विकास के लिए ये समस्त प्रयोग हमारे साहित्यकार को जब स्वीकार होंगे तभी भाषा-विकास के नये आयाम उपलब्ध होंगे। नगर के अभिजात्य वर्ग से चिपटे रहने के कारण भाषा में लालित्य भले ही आया हो किन्तु व्यापकता नहीं आई। तत्सम पदावली का प्राचुर्य होता रहा तद्भव शब्दों की सहज स्वाभाविक छटा से हम वंचित होते रहे। प्रयोगवादी कवियों ने इस ओर ध्यान दिया था किन्तु उनका शब्द-संधान कृत्रिम था। उन्होंने तद्भव शब्दों की खोज उन संदर्भों और परिवेशों से नहीं की थी जो हमारे जाने-पहचाने थे। प्रयोग के लिए भदेस शब्दावली का नमूना दिखाकर वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे थे। वस्तुतः तद्भव शब्दावली का रहस्य स्वाभाविकता और सरलता में है। 'आग जल रही है' के स्थान पर 'अग्नि प्रज्वलित हो रही है', 'प्यास से गला सूख रहा है' के स्थान पर 'तृषा से कंठ शुष्क हो रहा है' कहना भाषा के सहज विकास को अवरुद्ध करना है। द्विवेदी युग में तत्सम शब्दों का प्रचलन व्यापक स्तर पर हुआ। छायावादी कवियों ने उसे और अधिक वर्चस्व प्रदान कर समृद्ध किया। इस प्रक्रिया से हिन्दी जन-साधारण से दूर एक विशिष्ट शिक्षित वर्ग तक सीमित होती गई। आज इस तत्सम प्रधान पुनरावृत्ति से हमें बचना चाहिए।

भाषा के सन्दर्भ में हिन्दी के साहित्यकार के सामने हिन्दी के परिनिष्ठित रूप को समृद्ध करने का दायित्व ही मुख्य दायित्व है। खड़ी बोली हिन्दी ही आज हिन्दी की परिनिष्ठित भाषा बन गई है। राजभाषा के रूप में इसी को संविधान में स्वीकृत किया गया है अतः भाषा के विकास के संदर्भ में इस मूल लक्ष्य से भटकना नहीं चाहिए। लक्ष्यभेद करने के लिए मछली की आंख को ही लक्ष्य बनाना होगा। पेड़, शाखा, पत्ती और मछली के समूचे शरीर को नहीं। हमारी जनपदीय बोलियां बड़ी मधुर और आकर्षक हैं। हम उन्हें दैनन्दिन बोलचाल में काम में लाते हैं किन्तु राजभाषा के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित करने का कभी आग्रह नहीं करते। जनपदीय बोलियों को पठन-पाठन, या सामूहिक रूप से सार्वजनिक लेखन में प्रयोग की छूट हम नहीं दे सकते। अवधी, भोजपुरी, बुन्देली, मैथिली, राजस्थानी और ब्रजभाषा का प्रयोग घर के वातावरण में सहज रूप में होता है। वक्ता और श्रोता का दायरा वहां सीमित है। अतः मातृभाषा के सहज संस्कार के कारण वह बोधगम्य है, सार्वजनिक प्रयोग में यह बात नहीं होती। राजस्थानी, मैथली, भोजपुरी, बुन्देली, ब्रज, अवधी आदि हमारी हिन्दी की विभाषाएं या बोलियां हैं जिनसे हिन्दी में शब्द, पदावली, मुहावरे, लोकोक्तियां और अर्थच्छवियां हिन्दी में आती हैं। हम उन्हें ग्रहण करते रहें किन्तु इन जनपदीय बोलियों के हिन्दी से पृथक्करण के लिए आन्दोलन करना बन्द कर दें। हिन्दी के विकास के लिए अब विकेन्द्रीकरण अत्यन्त घातक होगा। हिन्दी को सार्वदेशिक भाषा के रूप में ग्रहण करने वाले दक्षिण भारत और पूर्वी भारत के निवासी इन बोलियों को न तो समझ सकेंगे और न हिन्दी का यह प्रतिनिधि रूप ही होगा। आज भी हम देखते हैं कि आंचलिक भंगिमा से संयुक्त रचना एक जनपद तक ही समादृत हो पाती हैं उनका पठन-पाठन व्यापक स्तर पर नहीं होता। जनपदीय बोलियों के विकास के कारण यदि खड़ी बोली हिन्दी को हानि पहुंचाती है तो उसे छोड़ देना ही सार्वजनिक राष्ट्रहित में कल्याणकारी होगा। **अपनी बोली का मोह किसे नहीं होता किन्तु राजभाषा के रूप में यदि किसी भाषा का सार्वभौम रूप में विकास करना है तो साहित्यकारों को परिनिष्ठित भाषा की समृद्धि के ही उपाय काम में लाने चाहिए।** जन-पदीय बोलियों के मोह में फंसकर भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है। स्मरण रहे कि "एकै साधै सब सधै, सबत साधै सब जाय"

साहित्यकार की सृजनातमक प्रतिभा की सर्जन सीमा-मर्यादाओं से बाहर भी हिन्दी के विकास के लिए कार्य आवश्यक है किन्तु मैं उसका दायित्व सर्जक साहित्यकार पर नहीं डालना चाहता। साहित्येतर विषयों का हिन्दी भाषा में अभाव है। मानविकी के विषयों के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान और प्राविधिक विषयों के ग्रंथों का निर्माण हिन्दी में होना है किन्तु यह कार्य-क्षेत्र सर्जक साहित्यकार का नहीं है। इस क्षेत्र में साहित्यकार केवल एक ही कार्य कर सकता है और वह कार्य है ज्ञान-विज्ञान की नव-निर्मित पारिभाषिक शब्दावली का यथास्थान अपनी ललित रचनाओं में ग्रहण। यह ठीक है कि ललित रचनाओं में पारिभाषिक शब्दावली के लिए न्यूनावकाश होता है फिर भी ऐसे स्थल और संदर्भ आ ही जाते हैं जहां रचनाकार इस शब्दावली का प्रयोग कर सकता है। हिन्दी के विकास में यह प्रक्रिया लाभकारी सिद्ध होगी और पारिभाषिक पदावली से सामान्य पाठक का भी यत्किंचित परिचय हो सकेगा।

शेष पृष्ठ 46 पर

हिन्दी का स्वरूप

—डा० हरबंशलाल शर्मा *

'शिक्षा' और 'दीक्षा' दो शब्द हैं। इन दोनों में जरा अंतर है। शिक्षा के अनंतर दीक्षा प्राप्त की जाती है। दीक्षा को अंग्रेजी में कहते हैं: Initiation (इनीशिएसन) और यह धर्म से संबद्ध शब्द रहा है। अर्थात बाह्य आवश्यकताओं जैसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार विषयक हमारी सुख सुविधाओं को जो जुटाती है वह शिक्षा है और जो इनका संबंध हमारी आत्मा से कराती है वह दीक्षा है। इसलिए आपको यह समझ लेना चाहिए कि यदि यह समापन समारोह दीक्षांत समारोह है तो आपका कर्त्तव्य बहुत कुछ बढ़ जाता है। इस दृष्टि से मैंने कहा कि मैं अपना सौभाग्य मानता हूं कि उस साक्षात कड़ी से मेरा संपर्क हुआ जो कड़ी राजभाषा की श्रृंखला के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सकती है।

अनुवाद की समस्याएं, उनका स्वरूप, समस्याओं का समाधान तीन महीने से आप बराबर सुनते रहे हैं। उनकी पुनरावृत्ति करना पिष्टपेषण मात्र होगा। यदि मैं यह कहूं कि आप अनुवाद इस प्रकार से करें और ये समस्याएं आएंगी और ये उनके समाधान होंगे तो आप कहेंगे कि इस भाषण के सुनने से विशेष लाभ नहीं होगा।

वास्तव में भाषण के दो प्रयोजन होते हैं। एक श्रोता और वक्ता का तादत्म्य; दूसरा वक्ता के लिए कुछ नवीन बोध, चाहे वह युग बोध हो, चाहे शास्त्र बोध और चाहे यथार्थ बोध। यदि इन दो आवश्यकताओं की पूर्ति किसी भाषण से नहीं होती तो भाषण केवल झाँझ की झंकार मात्र होता है, जिसका कोई प्रयोजन नहीं होता। जहां तक पहले प्रयोजन का संबंध है अर्थात तादात्म्य का, मैं आपकी चेष्टा और मुद्रा से यह अनुभव कर रहा हूं कि वक्ता और श्रोता का, वक्ता और बोद्धव्य का, तादात्म्य विद्यमान है। अब हमें बैठकर यह विचार करना है कि इस तादात्म्यपूर्ण वातावरण में, इस सौहार्दपूर्ण वातावरण में, हमको किन विषयों पर चर्चा करनी चाहिए जो हमारे विषय से संबद्ध हों, उपयोगी हों और वास्तव में योगदान के रूप में स्वीकार किए जाएं।

इसके दो पक्ष हो सकते हैं। एक पक्ष है—अनुवाद की समस्याएं, अनुवाद का स्वरूप, उन समस्याओं का समाधान और दूसरा पक्ष यह है कि आप लोगों का राजभाषा के प्रति अनुवादक के रूप में, सरकारी कर्मचारियों, अधिकारियों के रूप में क्या योगदान हो सकता है और किस प्रकार योगदान हो सकता है। पहली बात के विषय में मैं यहां नहीं कहूँगा। क्योंकि इस पर आप बहुत सुन चुके हैं। यहां के जो अधिकरी हैं तथा जो अतिथि वक्ता आए हैं इनसे प्रतिदिन आप यही बातें तो सुनते रहते हैं।

दूसरे पक्ष पर अवश्य कहूंगा। वास्तव में हमें एक व्यापक परिवेश में, एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में, विशिष्ट परिस्थितियों में अनुवाद के दायित्व का गहन अध्ययन करना होगा। विशेषकर उस अनुवाद के दायित्व का जो कि राजभाषा का एक अंग है। राजभाषा का इतिहास पुराना पड़ चुका है और 1950 से लेकर 1980 तक, इन 30 वर्षों में हम इस चर्चा को बराबर सुनते रहे हैं; चाहे साधारण नागरिक के रूप में, चाहे अध्यापक के रूप में, चाहे कर्मचारी के रूप में, चाहे अधिकारी के रूप में। लेकिन प्रश्न अभी तक ज्यों का त्यों बना हुआ है और समस्या पर प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। पहली बात विचारणीय है कि इस प्रश्न चिह्न को दूर करने में, इस समस्या के समाधान में, आपका क्या योगदान हो सकता है? गत तीस वर्षों के इतिहास को मैं नहीं दोहराना चाहता कि 1950 से लेकर जब हमारे संविधान की स्वीकृति हुई और 1952 से लेकर जब शब्दावली का काम आरंभ हुआ, भारत सरकर ने क्या-क्या काम किए, कितने-कितने आयोग बैठाए और उन आयोगों की सिफारिशों के फलस्वरूप क्या-क्या काम हाथ में लिए गए। राजभाषा के काम का एक स्वरूप तो यह अनुवाद ब्यूरो भी है और यह अनुवाद ब्यूरो एक विशिष्ट कार्य के लिए है, विशिष्ट प्रकार के अनुवाद के लिए है। आरंभ से लेकर अब तक गृह मंत्रालय के जितने आदेश और अनुदेश निकलते रहे तथा 1963, 1967 में जो अधिनियम बने उनकी भी मैं चर्चा नहीं करना चाहता। मैं यह भी नहीं बताना चाहता कि संविधान के अनुच्छेद 343 से लेकर 351 तक में राजभाषा के संबंध में, भारतीय भाषाओं के संबंध में, किस प्रकार का प्रावधान हमारे संविधान में किया गया है, लेकिन मैं आपको यह सम्मति अवश्य दूंगा कि कम-से-कम इन दोनों पक्षों का आप थोड़ा सा अध्ययन अवश्य करें। अर्थात् संविधान के 343 वें अनुच्छेद से लेकर 351 वें अनुच्छेद तक का सम्यक् अध्ययन अवश्य कर लें। दूसरे राजभाषा के इतिहास पर भी आपका विश्लेषणात्मक अध्ययन होना चाहिए।

जब मैं राजभाषा की बात करता हूं तो राष्ट्रभाषा की बात भी करूंगा। इसलिए यहां थोड़ी सी यह बात समझ लेनी चाहिए कि यदि हिन्दी के संदर्भ में बात करते हैं तो वह संदर्भ तीन प्रकार से रूपायित होता है। **राष्ट्रभाषा का रूप, राजभाषा का रूप और संपर्क भाषा का रूप।** राष्ट्रभाषा यानी "नेशनल लैंग्वेज" या "लिंग्वाफ्रैंका" शब्दों से कुछ लोगों को विरोध हो सकता है। होना भी चाहिए। यदि हम हिन्दी को 'नेश्रल लैंग्वेज' शब्द का प्रयोग होगा तो सभी भारतीय भाषाएं 'नेशनल लैंग्वेज' कहलाएंगी। खैर, यह एक अलग बहस है। लेकिन राष्ट्र भाषा, राजभाषा और संपर्क भाषा—ये तीनों शब्द निस्संदेह बहुत जोर से उभर कर हमारे सामने आए हैं।

एक बात तो मैं यह बता दूं कि तीनों का भेद एक बड़ी भारी भ्रांति

*भूतपूर्व अध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली।

हैं और यह भ्रांति को जन्म देने वाली है। राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्कभाषा यदि यों किसी भाषा के तीन रूप हों और चौथा क्षेत्रीय भाषा का रूप भी हो तो किसी भी भाषा की जो दुर्गति हो सकती है वही दुर्गति हमें हिन्दी की देखनी होगी। तो यह केवल संकेत रूप से मैं आपसे कह रहा हूं कि राष्ट्रभाषा और संपर्क भाषा को हम एक कर दें और राजभाषा को भी उनके साथ एक कर दें, व्यवहार की दृष्टि से। परमार्श की दृष्टि से नहीं, यथार्थ की दृष्टि से भी नहीं, केवल व्यवहार की दृष्टि से। और यदि कहें कि राजभाषा और संपर्क भाषा एक है तो इससे भी काम आगे नहीं चलेगा क्योंकि संपर्क भाषा बोलचाल की भाषा होगी, प्रेषणीयता की भाषा होगी, आपस के व्यवहार की भाषा होगी, टूटी-फूटी भाषा होगी, दूसरी भाषाओं के व्यवहार की भाषा होगी, दूसरी भाषाओं के वाक्यांशों को लिए हुए भाषा होगी और उसमें क्षेत्रीयता बहुत अधिक होगी। राजभाषा की कल्पना उससे भिन्न है। उसमें विविधिता और क्षेत्रीयता को बढ़ावा दिया जाए तो यह घातक हो सकता है और कम से कम विधि के क्षेत्र में और बहुत से क्षेत्रों में तो बहुत ही घातक हो सकता है। राष्ट्रभाषा एक टैलीग्रैफिक भाषा होती है। जिसमें टिप्पणी, टिप्पण, आलेखन, प्रारूपण और ऐसी ही बहुत ही चीजों की आवश्यकता होती है। आज हम उसी राजभाषा की चर्चा करेंगे। राष्ट्रभाषा व सम्पर्कभाषा की मैं चर्चा नहीं करूंगा।

यह विषय बड़ा महत्वपूर्ण है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में बहुत सी संस्थाओं में, वर्ष में दो तीन बार मुझे जाने का, इन बातों पर चर्चा करने का अवसर मिलता है और मैं जानता हूं कि नब्ज कहां कमजोर है और कहां मजबूत है और दिल की धड़कन कहां है, दिमाग कहां है और पैर दुरूस्त हैं या नहीं, पैर सधकर चल रहे हैं यह नहीं। बहरहाल, समस्या राजभाषा की है। उस राजभाषा से संबंध हो आपके अनुवाद का प्रशिक्षण है यानी आप उस राजभाषा के क्रियान्वयन के लिए यहां प्रशिक्षण लेने आए हैं। यों मूल पक्ष यह है कि आपको जो प्रशिक्षण है यह राजभाषा के विभिन्न पक्षों के क्रियान्वयन के लिए है। सरकारी कर्मचारी और सरकारी अधिकारी वास्तव में राजभाषा के क्रियान्वयन में रीढ़ की हड्डी है यदि यह कहा जाए कि आप राजभाषा क्रियान्वयन में रीढ़ की हड्डी हैं अर्थात् राजभाषा के क्रियान्वयन में आपका विशिष्ट स्थान है, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी, तो पहला प्रश्न आपके सामने यह उपस्थित होता है कि क्या राजभाषा के क्रियावयन में आपने अपने को राजभाषा के सारे ढांचे में रीढ़ की हड्डी माना है? मैं समझता हूं कि जितने भी प्रशिक्षणार्थी यहां से जाते हैं, वे बड़े-बड़े वादे करके जाते हैं, बड़ी-बड़ी प्रतीज्ञाएं होती हैं, बड़े-बड़े प्रण होते हैं, लेकिन कुछ परिस्थितियों के कारण, कुछ अपने आलस्य से, कुछ अपनी अक्षमता से, वह बात पूरी नहीं कर पाते। तो दीक्षांत भाषण में जो पहली बात आपको कहना चाहता हूं वह यह है कि आप राजभाषा
के क्रियान्वयन में अपना एक विशिष्ट स्थान मानें। यदि आप यह मान लेते है तो हम दूसरी बात पर आते हैं।

दूसरी बात यह है कि उसका क्रियान्वयन आप किस तरह से करेंगे। आप कहेंगे कि हम जो टिप्पण तैयार करते हैं, जो नोट्स लिखते हैं, उनको हमारे अफसर समझते ही नहीं। आप यह भी कहेंगे कि टिप्पण तैयार करने में कठिनाई का अनुभव होता है। आप यह कहेंगे कि हमारा अभ्यास तो अंग्रेजी का हो गया है और अंग्रेजी का अभ्यास होने के कारण हमें हिन्दी में लिखने में बड़ी कठिनाई होती है। आप यह भी कहेंगे कि जो पारिभाषिक शब्दावली बनी है वह हमको प्राप्त नहीं होती। आप यह कहेंगे कि हमको बड़ी कठिनाई होती है। आप यह भी कहें कि जिस प्रकार का अनुवाद हम करते हैं उसमें कम्युनिकेबिल्टी या ग्रहणीयता नहीं होती। ये हैं आपकी समस्याएं। यही हैं आपकी वे प्रमुख समस्याएं जिनके कारण आप रीढ़ की हड्डी बनना चाहते हैं या नहीं बनना चाहते।

चलो, हम बैठकर इस बात पर विचार करें कि कौन सा वह मार्ग निकालें, जिस को अपनाकर साँप मर जाए और लाठी भी न टूटे। यह बड़ा मुश्किल काम है। बात यह है कि जब हम साँप को मारने लगते हैं तो लाठी के 10-20 प्रहार तो जमीन में करते ही हैं। वहीं टूट जाती है लाठी। साँप पर तो चोट पड़ती नहीं। तो प्रश्न इस समस्या का समाधान करने का है कि आप सुगमतापूर्वक काम भी करते रहें, अफसर भी आपसे नाराज न हों, हिन्दी का चौगा भी थोड़ा सा पहन लें और चाहें तो कभी बदल भी लें। इन समस्याओं के समाधान अलग-अलग हैं। लेकिन हमको दो-तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहले तो हमको यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हम जो लिखने वाले हैं और जिनके लिए लिख रहे हैं, उनमें तालमेल बिठा कर लिखें। अनुवाद का सबसे पहला और मुख्य प्रयोजन तो यही है। यदि आपका अनुवाद ऐसा है कि पाठक पढ़वाता फिरे बहुल से लोगों के पास, तो उससे कोई लाभ नहीं है। तो पहली बात यह है कि अनुवादक, अनुवादकृत या अनूदित सामग्री और जिसके लिए अनुवाद कर रहे हैं वह व्यक्ति—इन तीनों में आप किसी न किसी प्रकार संबंध स्थापित करें। इसके लिए हमें कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ेगा।

एक तो यह कि यदि आपके पास सरकार द्वारा एकीकृत शब्दावली नहीं है तो आप उसी शब्दावली का प्रयोग कर सकते हैं जिस शब्दावली का प्रयोग आज तक करते आए हैं। दूसरी बात यह कि भाषा को कम जानने वाले जो अधिकारी हैं, आप उनकी शब्दावली का, अनुवाद-शैली का, किसी तरह से उपहास नहीं करें। तीसरी बात यह ध्यान में रखें कि हिन्दी के प्रति लोगों में सहानुभति पैदा हो, घृणा पैदा न हो। अभी तो स्थिति यह है कि लोगों में प्रेम पैदा नहीं होता, घृणा पैदा होती है। घृणा के स्थान पर सहानुभति न हो तब भी कम-से-कम उदासीनता तो हो। उदासीनता बहुत अच्छी नहीं लेकिन जहां प्रेम घृणा में बदलता है उससे तो ठीक ही है, घृणा तो वास्तव में असह्य है। तो आज स्थिति यह है कि हिन्दी के प्रति प्रेम की बात तो दूर, सहानुभूति भी नहीं है, तटस्थता भी नहीं है, उदासीनता भी नहीं है। बल्कि भय है या घृणा है। इस बात को आप कैसे दूर कर सकते हैं यह एक बहुत बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है और इसको दूर करने का उपाय यही है कि आपको हिन्दी के लिए कम से कम थोड़ा सा समय लगाना पड़ेगा। इसके लिए और समय देना पड़ेगा। संभव है कि आपको कुछ शब्द कोशों से ढूंढने पड़ें। कुछ शब्द आपको अंग्रेजी के ज्यों के त्यों लिखने पड़ें।

दूसरी बात यह कि आप कभी-कभी अपने सहयोगियों के पास बैठकर उन्हें बताएं कि भई आज हिन्दी में यह कर लीजिए, कल से यह कीजिए। इस तरह उन्हें सहयोग देकर, समझा कर, प्रोत्साहन देकर हिन्दी लिखने में प्रवृत्त करें।

तीसरी बात यह कि हम हिन्दी जानने वालों का परिहास न करें। उनकी भूलें दूसरों को दिखाते न फिरें कि देखो ह्रस्व की जगह दीर्घ लिखा है, हाथी आई लिखा है। ऐसे दोष दिखाना बुरी बात है। हम हिन्दी वालों में यह दोष बहुत है और संस्कृत वालों में उससे भी ज्यादा। संस्कृत हमारी संस्कृति की, हमारी परंपराओं की, हमारे धर्म की, हमारे ईमान की, परन्तु

सर्वाधिक हमारे द्वेष और राग की भाषा है। संस्कृत के पंडितों को वही बात उतर कर हिन्दी के लोगों में आ गई है। हमें यह आदत छोड़नी होगी। पहले तो वातावरण बनाना पड़ेगा। यदि वास्तव में आप हिन्दी में काम करना चाहते हैं तो हिन्दी में काम ही नहीं राष्ट्रीय एकता चाहते हैं तो अनुकूल वातावरण बनाना पड़ेगा। यह बहुत ही आवश्यक है।

इसी प्रकार शब्दावली की बात है। शब्दावली का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है और यह बहुत उलझनमय है। मुझे यहां वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग में 5 वर्ष काम करते हो गये हैं। अतः बहुत से कारणों से जुबान बंद भी है। प्रोफेसर रहते हुए तो बहुत सी बातें खुलकर कह सकते थे अब कुछ थोड़ा सा सरकारी नौकरी का लगाव तो है ही, लेकिन फिर भी मैं एक बात आपसे कहता हूं कि जब राजभाषा का इतिहास लिखा जाता है, उसकी परंपराएं लिखी जाती हैं तो महमूद गजनवी से लेकर अंग्रेजों के समय तक हमको इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि हिन्दी के बहुत से शब्द और बहुत सी शब्दावली ज्यों की त्यों प्रयुक्त होती थी, जब कि राजभाषा फारसी थी तब भी। महमूद गजनवी के सिक्कों में, महमूद गजनवी के बहुत से कागजों में, बहुत से फरमानों में, बहुत से अभिलेखों में इस बात के प्रमाण हमको मिलते हैं कि हिन्दी का राजभाषा काल बहुत पुराना है। लेकिन उस समय शब्दों का दारिद्रय नहीं था। आज शब्दों का दारिद्रय है। क्या इस बात पर अब तक कभी आपने ध्यान दिया कि क्यों दारिद्र्य है। यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है। शायद आपको पता नहीं, कि इसका दारिद्र्य इसलिए है कि इन हिंदी के शब्दों का अनुवाद फारसी में जबर्दस्ती किया गया और जब अंग्रेजी राजभाषा बनी तो उनका अनुवाद अंग्रेजी में किया गया और जब हिंदी के राजभाषा बनने की बात हुई तो उसके अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया जा रहा है। यों मूल शब्द खो गए। कितने ही शब्द ऐसे हैं। मैं तो कहता हूँ के उर्दू के शब्दों का प्रयोग आप करें, फारसी के शब्दों का प्रयोग करें, आज गांव का आदमी कानूनी भाषा में उन उर्दू के शब्दों को, फारसी के शब्दों को ज्यादा जानता है, दुर्भाग्य से हिंदी के शब्दों को नहीं जानता। तो यह हमारा दुर्भाग्य है कि पहले हमारे शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ और अब हम उस अंग्रेजी शब्द का हिंदी पर्याय ढूँढते हैं, मूल शब्द से भिन्न। चाहिए तो यह कि हम उन मूल शब्दों को खोजें। इस विषय में पहले मैंने एक योजना बनाई भी थी। अब मैं मुनीश गुप्त जी से प्रार्थना करूँगा कि राजभाषा विभाग में यह काम होना चाहिए और इस प्रकार के शब्दों की कमी नहीं है। जैसे कृषि है, आयुर्वेद है। बहुत से पेशे हैं, उनकी अपनी शब्दावली है। लेकिन उन शब्दों को कभी हमने ग्रहण ही नहीं किया। आज रोजमर्रा के प्रयोग में न मालूम ऐसे कितने शब्द आते हैं। मेरा कहने का अभिप्राय यह है कि शब्दावली का प्रयोग करें तो केंद्रीय हिंदी निदेशालय और आयोग की शब्दावली के पक्ष में ही ज्यादा न हों। जो शब्दावली आपके सामने आ जाए उसका ही प्रयोग करें। यह आवश्यक नहीं है कि आप अनुवाद करते समय प्रत्येक शब्द को ढूंढ़ने के लिए शब्दकोश खोल करके बैठें। यह ध्यान रखेंगे तो आप एक बहुत बड़ा काम करेंगे और राजभाषा का बहुत बड़ा लाभ होगा।

एक और बात यह है कि संविधान में राजभाषा विषयक अनुच्छेद में स्पष्ट किया गया है कि राजभाषा का स्वरूप क्या होना चाहिए। वह भारत की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम हो। यह बहुत बड़ी बात है। यह बात शब्दावली पर भी लागू होती है और दूसरी जगह भी लागू होती है। और बहुत से पेशे ऐसे हैं जो क्षेत्रीय हैं जैसे समुद्रों के किनारे जहाजरानी का काम है या बहुत से व्यवसाय ऐसे हैं जो उत्तर भारत में नहीं हैं, दक्षिण भारत में हैं उनके बहुत से शब्द ऐसे हैं कि जो प्रयोग में आ गए हैं। यदि हम उनको छाँट-छाँट कर निकाल दें कि यह हिंदी का शब्द नहीं है और उसके स्थान पर संस्कृत के शब्द लाएं या अंग्रेजी का शब्द लाएं तो यह प्रवृत्ति बड़ी गलत है। इसके अतिरिक्त आप जिस भाषा का भी शब्द प्रयोग कर सकें, खुल कर प्रयोग करें।

मैं तो यही कहता हूँ कि राजभाषा या राष्ट्रभाषा बनाने वाले अहिंदी भाषी हैं, हिंदी भाषी नहीं। हिंदी भाषियों का उच्चारण, हिंदी भाषा की शब्दावली एक विशेष प्रकार की हो सकती है किंतु जब वह राष्ट्रभाषा होगी तो सारे देश की भाषा होगी। जब वह पूरे देश की भाषा होगी तो उसमें अहिंदी भाषियों की प्रयुक्तियां होंगी उनकी अभिव्यक्तियां होंगी, उनकी शब्दावली होगी।

अब अभिव्यक्तियों के संबंध में विचार कीजिए। प्रायः अभिव्यक्ति में आपको बड़ी कठिनाई आती होगी। परन्तु जैसा कि मैंने बतलाया यदि कोई टिप्पण आपको तैयार करना है; प्रारूप तैयार करना है तो उसमें महत्व वास्तव में शब्दों के काठिन्य का नहीं है। उसमें भाषा की गरिमा का उतना प्रश्न नहीं है जितना की प्रेषणीयता या कम्युनिकेबिलिटी का है। आपकी अभिव्यक्ति कितनी प्रेषणीय या कम्युनिकेबल है। यदि इसमें कम्युनिकेबिलिटी या प्रेषणीयता है तो वह ठीक है और नहीं है तो आपको इसकी चिंता करनी है। एक और बहुत आवश्यक बात यह है कि हिंदी को आपको अनुवाद की भाषा नहीं बनाना है। यदि कोई भाषा अनुवाद की भाषा होती है तो वह भाषा भाषा नहीं हो सकती और हिंदी जैसी भाषा जिसको हम 'भारतीय' कहते हैं, जिसको हिंदी कहते हैं, जिसको इतने लोग बोलते हैं, उसको दो प्रतिशत बोलने वाले लोगों की गोद के हवाले कर देना, यह कहकर कि तुम्हारी लकड़ी के सहारे हमारी भाषा खड़ी है, इससे बड़ा मैं समझता हूं कि कोई लांछन हमारी भाषा पर नहीं हो सकता।

मैं मानता हूँ कि अनुवाद तो हमको करना ही पड़ेगा लेकिन यह संक्रमणकाल कब तक चलता रहेगा। हम कब तक यही कहते रहेंगे कि संक्रमण काल है, संक्रमणकाल है। 30 वर्ष तो हो गए और ऐसे ही बीत जाएँगे। आज भी जब सभा-सोसाइटी में कोई बात होती है तो ऐसा लगता है कि जैसे हम 1947-48 में बात कर रहे हैं कि हिंदी को राष्ट्र भाषा क्यों होना चाहिए, हिंदी को राष्ट्रभाषा किस लिए होना चाहिए। उसमें शब्दावली नहीं है आदि। बड़ा आश्चर्य होता है कि हम कहां तक बढ़े हैं, विज्ञान कहां तक बढ़ गया, चाँद पर पहुँच गए, बृहस्पति पर पहुंचने की चेष्टा कर रहे हैं और ग्रहों पर पहुंच गए और हम हिंदी को घूम-फिर करके वहीं सन् 1946-47 की स्थिति में ले जाते हैं। यह ठीक नहीं है। इसलिए आपको हिंदी को अनुवाद की भाषा नहीं बनाना है। लेकिन अनुवाद के बिना काम भी नहीं चलेगा। अतः अनुवाद तो करना ही है पर अनुवाद के साथ-साथ हिंदी की प्रकृति, हिंदी की सहजता, हिंदी की मुहावरेदानी, हिंदी की रवानी जो कि उर्दू के बहुत निकट है, उसकी चुस्तगी और वरदस्तगी हिंदी में आनी चाहिए।

लेकिन आज का अनुवादक हिंदी की प्रकृति की परवाह नहीं करता। 'ऐज सून ऐज यू कैन'---क्या अनुवाद है इसका? इसका ज्यों का त्यों अनुवाद कर देते हैं---"यावत् शक्त शीघ्र", यही है न? 'जल्दी से जल्दी' कोई नहीं करेगा। 'शिकायत के लिए ढूंढ़ते फिरते हैं, क्या शब्द है

'परिवाद'। 'शिकायत' को नहीं कहता है। परिवादी मर भी लेगा जब तक शिकायत की सुनवाई होगी। 'आव-आव' कहते हुए प्राण निकल गए और पानी नीचे रखा रहा।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रवाह और प्रकृति येज बहुत ही आवश्यक है। 'सड़क निर्माणाधीन है, रोड अंडर कस्ट्रक्शन'। इसका अनुवाद ज्यों का त्यों कर दिया गया है। यह नहीं कहते कि 'सड़क बन रही है'। वह गले में अटकता है। 'सड़क' भी नहीं कहते हैं। बस कह दिया 'मार्ग'। सब जगह 'मार्ग' लिखते हैं। यह पता नहीं, कि मार्ग तो संप्रदाय होता है जैसे आप कौन से मार्ग का अनुसरण करते हैं। तो कहने का अभिप्राय यह है कि यह बहुत ही आवश्यक है कि हम भाषा के प्रवाह हो, प्रेषणीयता को, उसकी मुहावरेदानी को, अपनी दृष्टि से ओझल न होने दें।

एक बात और। वह यह कि यदि हम शब्दावली के संबंध में, अभिव्यक्तियों के संबंध में, प्रयुक्तियों के संबंध में यही करते रहेंगे तो हिंदी का स्वरूप क्या बनेगा। यह बड़ी भारी समस्या है। यह बहुत बड़ा काम राजभाषा विभाग का है। हिंदी की कितनी संस्थाएं आज काम कर रही हैं। आगरे का एक संस्थान है। एक बहुत बड़ा संस्थान हमारा केन्द्रीय हिंदी निदेशालय है। राजभाषा विभाग भी है। लेकिन इनमें से कोई भी हिंदी के स्वरूप निर्धारण के संबंध में 10-20 पुस्तकें, सामग्री तैयार करके दे दें कि वास्ताव में राजभाषा के रूप में हम किस हिंदी को अपनाना चाहते हैं, किस सामग्री को अपनाना चाहते हैं तो बहुत बड़ा काम होगा। यह बहुत ही आवश्यक है। हिंदी की शैली को क्षति पहुंचाकर हम विकृत अनुवाद को ग्रहण नहीं कर सकते। हमें हिंदी को वास्तव में स्वरूप देना पड़ेगा और हिंदी को स्टैंडर्ड हिंदी बनाना पड़ेगा। ये कुछ बातें हैं जो कि बहुत ही आवश्यक है।

वास्तव में आप लोग ऐसे हैं जो कि हिंदी का काम सचमुच कर सकते हैं। जो लोग सड़कों पर चिल्लाते हैं, जो नारे-बाजी करते हैं, वे तो वोट लेने के लिए हिंदी और दूसरी भाषाओं की बातें करते हैं। उनका कोई योगदान नहीं हो सकता। वे तो यही सोचते हैं कि शायद हिंदी-हिंदी कहने से वोट मिल जाए या हिंदी का विरोध करने से वोट मिल जाए। मैंने तमाशा देखा है कि जो प्रत्याशी चुने जाने से पहले हिंदी के नाम की रोटी खाते थे, हिंदी का पानी पीते थे, हिंदी के नाम से घूमते थे, हिंदी के नाम से टहलते थे, हिंदी के नाम से कपड़े पहनते थे, वे चुने जाते ही अंग्रेजी बोलने लगें। कुछ ऐसा ही प्रवाह चला। मैं तो रोज देख रहा हूं कि हिंदी की जगह अब अंग्रेजी पूरी तरक्की से आ रही है। बड़े जोरो-शोरों से। हमारे केन्द्रीय हिंदी निदेशालय से अगर कोई टिप्पण हिंदी में जाता है तो वापस आ जाता है कि इसका अनुवाद अंग्रेजी में करके भेजो मैं आपकी सूचना के लिए यह बात कह रहा हूं। इसलिए कि यह बात आपको करनी है। नेताओं को यह बात नहीं करनी है। नारे-बाजी से यह काम नहीं हो सकता और क्योंकि आप में आठ-नौ छात्र ऐसे हैं, नौ प्रशिक्षणार्थी ऐसे हैं, जो अहिन्दी भाषी हैं। नौ तो बहुत होते हैं। रत्न हैं। वे नौ रत्न अपने मूल्य को समझें। यदि नौ रत्नों ने यह समझा कि मुलम्मा चढ़ा हुआ है उनके ऊपर, तो मुझे कुछ नहीं लेना है। लेकिन वे नवरत्न यदि आज प्रतिज्ञा कर लें कि वास्तव में हमको यह काम करना है, अहिंदी भाषियों में हमको हिंदी के प्रति प्रेम पैदा करना है, घृणा को हटा देना है, सहानुभूति रखनी है, उपेक्षा हटा देनी है, तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। वास्तव में आप कच्चे कीर्ति स्तंभ हैं और सच्चे दीप स्तंभ हैं और प्रकाश दिखाने वाले हैं; जो कि इस काम को ठीक कर सकते हैं और आगे ले जा सकते हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से आप लोगों से बड़ी आशाएं रखता हूं और मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इस ओर अवश्य कुछ कार्य करेंगे। इसके साथ में केवल राजभाषा का प्रश्न नहीं है। इसके साथ में राष्ट्रीयता का प्रश्न जुड़ा हुआ है, इसके साथ में आपकी संस्कृति का प्रश्न जुड़ा हुआ है, भारतीय संस्कृति का प्रश्न जुड़ा हुआ है। यह एक छोटी-सी बात नहीं है, आज हमारे राष्ट्र के चरित्र का निर्माण नहीं हो सका। आज हम राष्ट्रीयता को नहीं समझ सके। आज हम भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को हृदयंगम नहीं कर सके। आज हम में सहिष्णुता का भाव नहीं आया है, आज हम में आत्मसात् करने की शक्ति नहीं रह गई है। आज हम में वास्ताव में अध्यात्म की मूल चेतना नहीं आ सकी है। क्या कारण है? कारण यही है कि हम भाषा के प्रश्न को उलझाते हैं। भाषा के प्रश्न को उलझाना, संस्कृति के प्रश्न को उलझाना है। भाषा के प्रश्न को उलझाना, राष्ट्रीयता के प्रश्न को उलझाना है। यह सरकार के बस का काम नहीं है, वह नागरिकों के बस का काम है, आप लोगों के बस का काम है। आप एक-एक व्यक्ति, एक-एक दफ्तर में राजभाषा हिंदी के राजदूत हैं। अपने कर्त्तव्य को पहचाने, निष्ठा के साथ काम करें। आपका मंगल, हो, मेरी शुभकामनाएं आपके साथ हैं।

पृष्ठ 42 का शेषांश

साहित्यकार भाषा-विकास और भाषा-संस्कार दोनों कार्यों के लिए सचेत रहता है। उसके दायित्व में ये दोनों कर्म समाविष्ट हैं। हिन्दी के राजभाषा रूप में स्वीकृत होने पर भाषा विकास के दायित्व को प्राथमिकता मिले तो कदाचित् हिन्दी को सार्वभौम बनाने में योगदान मिले। साहित्यकार उन समस्त उपायों को काम में लाना प्रारम्भ करे जिनसे भाषा में गति और प्रवाह उत्पन्न हो, भाषा सुबोध, सर्वजन सुलभ और आकर्षक बन सके। भाषा को जीवन्त बनाने के लिए हिन्दी के साहित्यकार को आज पहले की अपेक्षा अधिक जागरूक होने की आवश्यकता है। रचनात्मक साहित्य केवल जीवंत भाषा में ही जीवित रहता है, कृत्रिम और क्लिष्ट भाषा में नहीं। जो भाषा जनमानस के साथ तादात्म्य नहीं करती, अपने-आप मृत होकर मंच से तिरोहित हो जाती है। हमे अपनी भाषा को विश्व मंच पर आरूढ़ करने के लिए सक्षम और समृद्ध बनाना है। अतः यह कार्य प्रशासन या प्रशासनिक संस्थाओं पर नहीं छोड़ा जा सकता। लेखक, कवि, नाटककार और उपन्यासकार इस दिशा में राष्ट्र भाषा के निर्माण का दायित्व ग्रहण करें तो राष्ट्रभाषा की लोकप्रियता में अधिकाधिक वृद्धि संभव होगी।

राजभाषा का आधुनिकीकरण

—डा० रमेश कुन्तल मेघ*

आधुनिक भाषाओं का उद्भव छोटी-छोटी बोलियों और उप-भाषाओं के आपसी विलय से होता है। पहले आदिम कबीलों तथा उप जातियों की वोलियां जातियों की उपभाषा में, फिर छोटे राष्ट्रों की भाषाओं के रूप में विकसित होती हैं। कालान्तर में छोटे अथवा किसी महत्वपूर्ण राष्ट्र की भाषा आधुनिक टकसाली 'राष्ट्रीय भाषा' अथवा 'राष्ट्रभाषा' के रूप में प्रतिष्ठापित हो जाती है। इटैली के एक छोटे से अंचल को बोली को महाकवि दान्ते ने, अथवा व्रजमंडल की व्रजभाषा को कृष्णभक्त कवियों ने व्यवहार करके उनकी अभिव्यंजनाशक्ति की अमित क्षमताएं विकसित कर डाली जिससे वे राष्ट्रभाषा अथवा सांस्कृतिक भाषा का गौरव पा सकीं। श्रेष्ठ सांस्कृतिक विरासत भी राष्ट्रभाषा का निर्माण करती है।

उन्नीसवीं शती के पहले तक उत्तर भारत की धर्म निरपेक्ष (सेक्युलर) संस्कृति की संरक्षिकाएं, ब्रज, अवधी, पंजाबी भोजपुरी आदि वोलियां थीं। उस समय भी खड़ी बोली (हिन्दी और उर्दू) "बोलचाल की एकमात्र भाषा" के रूप में उभरती रही। भौतिक जीवन की उन्नति तथा देश के प्राथमिक शहरीकरण के साथ-साथ खड़ी बौली का विकास तथा अन्य बोलियों का उसमें अंतर्लयन होता रहा। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में लोगों (लोक/जनता) की एक महान प्रजातांत्रिक तथा सांस्कृतिक परम्परा के रूप में हिन्दी की संस्थापना हुई। राष्ट्रीय स्वतंत्रता-आंदोलन तथा प्रजातांत्रिक जीवन-शैली के विकास के साथ-साथ हिन्दी और उसकी बोलियां (प्रादेशिक भाषाएं) भी जनता की वास्तविक वोलचाल की भाषाओं के रूप में सामने आई। केशवचन्द्र सेन, महर्षि दयानंद सरस्वती, महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर जैसे राष्ट्रीय-सांस्कृतिक नेताओं ने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में प्रसारित किया।

यहां ध्यान देने की बात यह है कि 'भाषा का समाज-शास्त्र' यह संलक्षित करता है कि जब तक सामंतशाही ब्यवस्था का प्रभुत्व रहता है तब तक स्थानिक भाषाओं की विलक्षणताएं तथा बोलियों की कुछ विभिन्नताएं मौजूद रहती है अर्थात् इनमें शताब्दियों तक सामंतशाही आधार कायम रहता है। सामंतीय सिस्टम में भाषा एक ओर तो धर्म (मठ) से तथा दूसरी ओर अभिजात्य वर्ग (दरबार) से जुड़कर सामाजिक अन्तर्विरोधों को तीव्र करती है। अतएव उत्तर भारत में भी जब राष्ट्रीयता तथा भाषा के सवालों को उठाया गया तो सामंतीय आधारों ने भाषा की ढाल आगे करके राष्टरीयता तथा जनवाद पर लगातार हमला किया। यही नहीं; नौकरशाही की सुविधा तथा सुरक्षा की विचारधाराओं ने राष्ट्र के विभिन्न अंचलों की भाषाओं और राजभाषा हिन्दी के बीच शत्रुतापूर्ण संबंध होने की भांति फैलाई। इसके विकल्प में अंग्रेजी को राजभाषा (सह राजभाषा) बने रहने का समाधान जारी रखा गया। यह भी सही है कि हिन्दी के नाम पर 'हिन्दी वालों' अर्थात् निहित स्वार्थों के कई गुट लाखों रुपयों का दुरुपयोग कर रहे हैं। एक तीसरा संवैधानिक आयाम यह भी है कि 26 अप्रैल, 1974 को सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की धारा 29-30 के अनुसार धार्मिक, भाषाई तथा सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की अपनी शैक्षणिक संस्थाओं को अपनी 'रूचि' के अनुसार संचालित करने की अनुमति प्रदान की। इसके साथ ही 1976 के संशोधन के मुताबिक शिक्षा हमारे संविधान में समवर्ती सूची में आ गई। इस तरह सांस्कृतिक तथा आर्थिक एकीकरण के हमारे आधुनिक दौर में राष्ट्रीयता और भाषा के अंतर्विरोध जटिल होते जा रहे हैं। भारत का 'भाषिकीय एटलस' लगभग सत्तर प्रमुख भाषाओं और बोलियों से रचित है (सन् 1961 और 1971 की जनसंख्या के अनुसार)। इसमें से पैंतीस मातृभाषाएं तो उन राज्यों में दर्ज हैं जहां हिन्दी राष्ट्रभाषा-राज्यभाषा भी है; अर्थात् हिन्दी की छोटी-छोटी बोलियां-उपबोलियां भी दर्ज हुई हैं। 8.4 करोड़ अर्थात् लगभग 15% लोग ऐसी भाषाएं बोलते हैं जो संविधान की पन्द्रह-सोलह भाषाओं के अन्तर्गत नहीं आते। ये आदमी कबीलों और जनजातियों की अलिखित एवं असाहित्यपूर्ण बोलियां हैं।

क्या भाषा तथा राष्ट्र के इस प्रतीयमान अंतर्विरोध का कोई समाधान मुमकिन है?

यह सवाल दूसरे ढंग से भी पूछा जा सकता है। राष्ट्रीयताओं (नेशनलिटीज) और भाषाओं (लैंग्वजेस) की एकता किस प्रकार हो? पहला उत्तर है: इनमें एकता तभी होगी जब राष्ट्र की विभिन्न राष्ट्रीयताओं की भाषाओं (राज्यभाषाओं) की अस्मिता (आइडेंटिटी) सुरक्षित रहेगी। राष्ट्रीयकताओं की एकता तभी स्थापित होगी जब राष्ट्र के विभिन्न वर्गों के बीच सामाजिक-आर्थिक समानता अर्थात् समाजवाद की स्थापना होगी। राजभाषाओं की एकता तभी मजबूत आधार पर कायम होगी जब उनके शब्द भंडारों में समानता तथा राज्यों के प्रशासनों में राजभाषा के माध्यम से संचार-संप्रेषण होगा। हमें इतिहास का यह सबक बारंबार दोहराना चाहिए कि भारतीय जनता विभिन्न धर्मों, जातियों तथा नस्लों वाली है। उसके विभिन्न क्षेत्रों (राज्यों, जिलों) में असमान आर्थिक विकास हुआ है तथा वह एक बहुभाषिक, बहुधार्मिक, बहुराजनैतिक जनता है जिसके बीच एकता और संघर्ष, दोनों ही निरंतर छिड़े रहते हैं। इसके आधुनिक दौर में, जबकि अभी भी अर्द्ध -उपनिवेशी अवशेष तथा अर्द्ध सामंतीय व्यवस्थाएं कायम हैं, उसकी कुछ विविधताएं तथा विभेद (धर्म और भाषा) अपेक्षाकृत ज्यादा स्थायी हैं। इन्हें हम अब नजरअंदाज नहीं कर सकते।

इसलिए हमारा ऐतिहासिक प्रारब्ध है कि हम संघ की राजभाषा हिन्दी को आधुनिक तथा वैज्ञानिक भाषा भी बनाएं ताकि वह एक ओर अंग्रेजी की जगह ले सके तो दूसरी और अन्य राज्यभाषाओं की सहायिका समर्थिका बने; तीसरी ओर धर्म एवं भाषा के मध्यकालीन गठबंधन को तोड़ सके; चौथी ओर विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का माध्यम बने; पांचवी ओर बड़े औद्योगिक घरानें के दफतरों तथा अंतरर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यवहृत हो और छठी ओर प्रशासन के सभी हलकों में लागू होकर प्रबंध की कार्यकुशलता को सिद्ध करे।

*पूर्व अध्यक्ष गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

विश्व में अंतर्राष्ट्रीय मंच पर भी अंग्रेजी का वर्चस्व है। अतः कुछ परंपरागत राष्ट्रों की भाषाओं की लिपियों का रोमनीकरण/लातीनीकरण हो गया है। 'बहासा इन्दोनीसिया' और चीन की चित्रलिपि, वियतनाम तथा थाईलैंड की भाषा लिपियों का रोमनीकरण आदि ऐसी ही मिसालें हैं जिन्हें 'भाषा-योजना' (लैंग्वेज़-प्लानिंग) के अंतर्गत भाषा के 'आधुनिकीकरण का कार्यक्रम' (प्रोग्राम) कह सकते हैं। इसी क्रम में कई अलिखित भाषाओं की लिपियों का निर्माण भी शामिल है। भारत के अरुणांचल में कई कबीलों में रोमनी लिपि वाली भाषा गढ़ी गई। सोवियत संघ में गिरगीज, ताजिक और तुर्कमानी भाषाओं को रूसी (स्लाव) लिपि प्रदान की गई। भाषा के आधुनिकीकरण का तीसरा आयाम लिखित परंपराओं का प्रजातांत्रिकीकरण है अर्थात् उसे अभिजात्य के कूपजल से निकालकर जनता के व्यवहार की प्रवहमान दही में तैराना है। चौथी आयाम है, भाषा के सामाजिक धर्मों तथा तकनीकी व्यवहारों में विविधता। भाषा-आयोजना के अन्तर्गत एक ही भाषा (हिन्दी) के कई प्रभेद हो जाएंगेः प्रशासन में व्यवहृत होने वाली विशेषज्ञों की वैज्ञानिक हिन्दी; समाज के विभिन्न कार्यों को निभाने वाली व्यावहारिक हिन्दी, तथा साहित्य-कला में सौंदर्य भावनाओं की अभिव्यंजना करने वाली कलात्मक (रचनात्मक) हिन्दी; इत्यादि। इन सभी में संप्रेषण के स्तर और विषयवस्तु की भिन्नता के साथ-साथ ग्रहीता के स्तर, आवश्यकताओं, रुचियों और बुद्धि की भूमिकाएं, होंगी। अभी तक हम हिन्दी में लेखन और सम्प्रेषण के सवाल को केवल साहित्यिक भाषा की सरलता, सहजता, सुबोधता और भावुकता के गुणों में लपेटते आ रहे हैं। इससे प्राचीन हिन्दी की परंपरा से मंडित खड़ी बोली का आधुनिकीकरण मुश्किल और असंभव होता जाएगा। 'कविताओं-कहानी' वाली हिन्दी भाषा ही सभी प्रकार के लोगों के सभी प्रकार के सामाजिक उपयोगों के लिए निर्धारित नहीं की जा सकती। हमें भाषा के समाजशास्त्र के इस सूत्र को भी रेखांकित करना होगा कि भाषा के विकास का दौर उसके वक्ताओं के प्रारब्ध से जुड़ा होता है।

प्रशासन, व्यापार, शिक्षा, विज्ञान और कला इन पांच संक्षेत्रों में एक ही भाषा अपने विभिन्न रूपों और गुणों का विकास करती है।

भाषा-विकास में व्याकरण की अपेक्षा शब्द भंडार (लेक्सिकान) की धुरी ज्यादा काल-प्रवर्तित होती है। जितने विविध और जितने बहुविध क्षेत्रों, जैसे राजनीति, विज्ञान, टैक्नालाजी, संस्कृति, अर्थशास्त्र, वाणिज्य आदि में भाषा व्यवहृत होगी और जितनी ज्यादा भौगोलिक सीमाओं से उसका संपर्क होगा उसकी संवृद्धि भी उतनी ही विविध और व्यापक होगी। इसके लिए एक ओर एक ही देश के विभिन्न राज्यों की भाषाओं के शब्दों एवं पारिभाषिकों का ग्रहण होता है, दूसरी ओर विभिन्न देशों के शब्दों अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय पारिभाषिकों को उधार लिया जाता है; तथा तीसरी ओर विदेशी शब्दों का भारतीयकरण अथवा हिन्दीकरण (फन्तासी, मिथक आदि) करके उनको अंगीकार किया जाता है। इन तीनों अधिग्रहणों से एक अंतर्भाषा (इंटर-लैंग्वेज) या संपर्क भाषा (लिंक लैंग्वेज) विकसित होती है। ऐसी भाषा अंततोगत्वा आधुनिक होती है।

अतः बहुभाषी भारत में विभिन्न राज्यों (प्रांतों या प्रदेशों) के साहित्य तथा ज्ञान को सभी राज्यों के लोगों तक पहुंचाने के लिए बहुभाषिकता (मल्टी-लिंगुअलिज्म) ही संभव और सफल होनी है। भाषा-योजना की नीतियों में हम अलग-अलग राज्य की राज्यभाषा तथा देश के एक संपर्क राजभाषा (हिन्दी), इन दोनों को किसी एक राज्य के लिए दो भाषाएं मानते हैं। जैसे; पंजाब के लिए पंजाबी-हिन्दी; केरल के लिए मलयालम-हिन्दी; बिहार के लिए हिन्दी-कोई राज्यभाषा; तथा भारत (संघ) के लिए राजभाषा हिन्दी-अन्य राज्यभाषाएं। ऐसी आयोजना द्वारा ही अंतर्राज्यीय तथा विदेशी भंडारों से प्राप्त समान शब्द-संभार राजभाषा हिन्दी में संचित होगा और प्रकारान्तर से अन्य भाषाओं में वितरित होता रहेगा। इस प्रकार भारत और हिन्दी भाषा, दोनों के आधुनिकीकरण की इस मद में लागत (सभी भाषाओं के औसत से) 1/16 हो जाएगी।

इस विधि से राष्ट्रों की भाषाओं की समस्या को भी सुलझाया जा सकता है और आर्थिक विकास तथा सांस्कृतिक जागरण की गुण-मात्रा सभी में बराबर अनुपात से बांटी जा सकती है। अच्छा तो यह होता कि आधुनिकीकरण और समाजीकरण की नयी प्रक्रियाओं के दौर में हम पारिभाषिक शब्दों के सवाल को सुलझाने के साथ-साथ ही वर्णमाला की एकता को भी क्रियान्वित कर सकते। तथापि बिना समाजवादी व्यवस्था से लिपि के एकीकरण का प्रश्न विभिन्न भाषाओं एवं राष्ट्रीयकताओं को हिन्दी के प्रति एक शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध में ज्यादा फंसा देगा। लिपि के एकीकरण के साथ-साथ ही टाइप (टंकण) के कुंजी पटल की समस्याएं बाद में ही सुलझाई जा सकती हैं। अतएव आजकल हमारा ज्वलंत प्रशन है कि अंतर भारतीयता (या राष्ट्रीयता एकता)—भारतीय राज्यों की बहुभाषी-बहुधर्मी जनता में—किस भाषा के द्वारा प्रतिष्ठित हो? अंग्रेजी से (जैसा कि आज है) अथवा न्दी से (जैसा कि कल होगा)?

फिलहाल इतना तो सैद्धांतिक तथा अनुकार्य रूप में माना ही जाना चाहिए कि भाषा के आधुनिकीकरण के लिए वर्णमाला का वैज्ञानिकीकरण एवं सरलीकरण एक अनिवार्य शर्त है। अपने बहुभाषी देश में विभिन्न राष्टष्ट्रीयताओं की भाषाओं की लिपियों के देवनागरीकरण की अन्वीक्षा निस्संदेह श्रेयस्कर होगीः यदि सद्भावना का वातावरण हो।

सरकार (राज्य) तथा प्रशासन राष्ट्र के विभिन्न लोगों, वर्गों तथा समूहों को एकजूट करता है। यह कार्य प्रशासन का है। प्रशासन का धर्म सुदक्षता (एफिशियेंसी) है। कि दक्षता किस की? केवल शासकों की, आला अफसरों की? अथवा भारतीय जनता की? जाहिर कि प्रजातंत्र, समाजवाद तथा धर्मनिरपेक्षता के घोषित लक्ष्यों वाले भारत देश में यह सुदक्षता जनताक्षता जनताधुरी पर केन्द्रित होगी। नौकरशाही-धुरी की अंग्रेजी से अमली सुदक्षता नहीं आ सकती इससे प्रशासन खर्चीला होता है तथा शासकों और शासितों के बीच अलगाव बढ़ता है जबकि आज भाषाविकास का दौर भारतीय जनता के प्रारुद्ध से जुड़ा है, हम अंग्रेजी और पूंजीवाद के द्वारा भारत को एक आधुनिक राष्ट्र कदापि नहीं बना सकते। अंग्रेजी-हिन्दी के परस्पर अनुवादविनिमय के सहारे भी कार्यदक्षता नहीं बढ़ेगी। इसके लिए तो शुरु से, अथवा किसी भारतीय भाषा के माध्यम से, सीखते वक्त मूलरूप से हिन्दी लिखना चाहिए।

सामान्य प्रशासन की भाषा दांव-पेंच दार होती है। तथापि सौ से लेकर दो सौ वाक्यांशों के व्यवहार द्वारा सत्तर प्रतिशत लिपिकों का काम सुदक्षता के साथ निष्पन्न हो सकता है। सभी विभागों तथा विषयों में बनाई गई या बनाई जा रही नियम पुस्तकें (मैनुअलें) तथा पारिभाषिक शब्दावलियां दैनिक व्यवहारों में बरती जानी चाहिए। यह कार्य ऊंचे अफसरों के बजाय मूल आधार पर प्रतिष्ठित भारकों, मैकैनिकों, श्रमिकों, पोटरों आदि के द्वारा ही संपन्न होगा। भाषा का समाजशास्त्र ऐसी ही

शेष पृष्ठ 50 पर

दक्षिण भारत में छह सौ वर्ष पूर्व हिन्दी

प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी*

निस्संदेह भारत अपनी भाषिक एवं सामाजिक संरचना तथा भौगोलिक विविधता के कारण भाषा एवं सामाजिक शोधार्थियों के लिए अध्ययन का एक समस्यामूलक विषय बना हुआ है। संसार के और किसी दूसरे देश में इतने वैविध्यपूर्ण जातियों, धर्मों एवं संस्कृतियों का संगम नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप भारत में बोली जाने वाली भाषाओं, उप भाषाओं एवं बोलियों और उनके बोलने वाले समुदायों की विविधता और संख्या को दृष्टि में रखते हुए भारत को संसार का एक छोटा-सा म्यूजियम कहा जा सकता है। वस्तुतः समूचे दक्षिण-पूर्व एशिया मे भारत देश ऐसा एक भाषिक क्षेत्र है जो विविधता में एकता के सूत्र में बंधा हुआ है।

भारतीय भाषाओं के इतिहास में प्राचीन आर्यभाषा संस्कृत के बाद जिन दूसरी अखिल भारतीय भाषाओं का उल्लेख हमें मिलता है और जिनका साहित्य आज उपलब्ध है, वे हैं—पालि, बौद्धों की धर्म भाषा और अर्धमागधी, जैनों की धर्म भाषा। महावीर और बुद्ध के समय से कुछ पूर्व ही प्राचीन वैदिक परम्परा के विरोध में एक नवीन जन-क्रांति का सूत्रपात हो चुका था, जिनका मूल स्वर तो ब्राह्मणवाद से संबंधित कर्मकाण्ड का विरोध था, किन्तु संस्कृत चूंकि मूलतः इन्ही से जुड़ी हुई थी। अतः प्रारंभ से जैनों और बौधों ने संस्कृत का भी विरोध किया। अतएव संस्कृत के विरोध में जैनों द्वारा अर्धमागधी को तथा बौद्धों द्वारा पालि को धर्म प्रचार के लिए स्वीकृत किया गया था। इस प्रकार 600 ई० पू० के आसपास संस्कृत के साथ-साथ पालि और अर्धमागधी भाषाओं में हमें साहित्य सृजन की परम्परा मिलने लगती है।

यद्यपि मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत में अनेक जातियां प्रविष्ट हुई, किन्तु वे सभी भारतीय समाज एवं संस्कृति में धीरे-धीरे घुल मिल गई। मुसलमानों के भारत मे आगमन के बाद जो घटना घटित हुई, वह थी अरबी और फारसी के रूप में दो विदेशी शासकीय भाषाओं का भारत में प्रचार और प्रसार। प्रारंभ में तो मुसलमान शासकों ने भारत में पूर्व प्रचलित भारतीय भाषा का ही प्रशासन में प्रयोग किया। किन्तु बाद में राजभाषा के रूप में पहले अरबी और फारसी का ही सभी मुसलमान शासकों ने प्रयोग किया तथा मुगल शासन के विघटन के बाद उर्दू को भी कहीं कहीं राजकाज के लिए स्वीकार किया गया।

किन्तु बहुत से मुसलमान आक्रामक अलग-अलग जातियों के थे और संख्या में कम थे, उनकी भाषा भी एक न थी, इसलिए वे भारत के अग्रसर जातियों के मुकाबले में अपनी जातीयता की रक्षा न कर सके और उन्हीं में घुल मिल गए। आज भी बंगाल का मुसलमान बंगला बोलता है और पंजाब का पंजाबी। केरल का मलयालम बोलता है और तमिलनाडु का तमिल।

*विद्यानगर, विशाखापट्टणम-3

कई सौ वर्षों तक फारसी दिल्ली की राजभाषा रही और ईरान के सांस्कृतिक प्रभुत्व के कारण हिन्दी-भाषी मुसलमान फारसी सीखते रहे। उत्तर भारत ईरानी और अरबी संस्कृति से प्रभावित था। यही कारण है कि हिन्दी में फारसी के शब्द क्रमशः बढ़ते गए। हम देखते हैं कि चौदहवीं सदी में मुहम्मद तुगलक ने जब देवागिरि को अपनी राजधानी बनाया तब काफी संख्या में दिल्ली और उत्तर भारत के लोग वहां जाकर बस गए। वहां जिस आर्यभाषा (हिन्दवी) का विकास हुआ, वही बाद में चलकर दक्खिनी के नाम से विख्यात हुई। उन्हीं दिनों वहां बहमनी राज्य की स्थापना हुई थी। विख्यात इतिहास "तारीखे फरिस्ता" के अनुसार बहमनी बादशाह के राज्य कार्यालयों में हिसाब किताब हिन्दी भाषा में रखा जाता था। ख्वाजा बंदा नवाज गेसूदराज सूफी थे। वे सूफी फकीर विजामुद्दीन औलिया के खलीफा ख्वाजा नासिरुद्दीन चिराग देहली के मुख्य शिष्य थे। सन् 1412 ई० के लगभग वह गुलबर्गा चले गए और वहीं रहने लगे । वह साधारण जनता के लिए अपने विचार हिन्दी में प्रकट किया करते थे। सूफी मत के अनन्य प्रचारक शाह मीरानजी थे। उन्होंने अपनी भाषा को हिन्दी कहा है और यह भी लिखा है कि मेरी रचनाएं उन लोगों के लिए हैं जो अरबी फारसी नहीं जानते। शाह मीरानजी की रचनाओं का एक नमूना इस प्रकार है—"ना उस रूप ना उस देह या उस थान मकान। निरगुन गुनवता किस मुख कसं बखान। ना मुझ लोभे पाट-पितंबर यह जर समीं सिंगार। पाटी फूटी कंबली नीकी फटा लिहाफ हमार।"

मुस्लिम साम्राज्य के दक्षिण भारत में विस्तार के साथ हिन्दी का प्रसार आंध्र, कर्नाटक आदि प्रदेशों में भी हुआ । अलाउद्दीन ने 1292 ई० में दक्षिण भारत के देवगिरि पर आक्रमण किया। मुहम्मद तुगलक के समय दक्षिण का अधिकांश भाग उस साम्राज्य के अधीन हो गया, जिसे उसने पांच भागों में विभाजित किया। उसने देवगिरि या दौलताबाद को अपनी राजधानी बनाया। उसके साथ बहुत बड़ी संख्या में दिल्ली के मुसलमान और हिन्दुओं का दक्षिण मे जाना हुआ। उनका एक बड़ा समुदाय दक्षिण में स्थायी रूप से बस गया। किन्तु उनके पूर्व ही अलाउद्दी के राजत्वकाल में खड़ी बोली बोलने वाले हिन्दु और मुस्लिम राजकर्मचारियों, सैनिकों और व्यापारियों के दल दक्षिण भारत में फैल चुके थे। बाद में अहमद नगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर में निजामशाही, आदिल शाही, कुतुबशाही और बरीदशाही वंशो ने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। परिणाम यह हुआ कि दक्षिण में खड़ी बोली न केवल जड़ पकड़ती गई, बल्कि यह वहां के साहित्यक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों का स्वाभाविक अंग बन गई। वहां "दक्खिनी" केनाम से खड़ी बोली का विपुल साहित्य रखा गया। इसमें न सिर्फ साहित्य लेखन का कार्य हुआ, वरन बीजापुर गोलकुण्डा आदि मुस्लिम रियायतों में राजकाज की भाषा के रूप में इसे प्रतिष्ठा मिली।

उल्लेखनीय बात यह है कि जिस खड़ी बोली को भारतीय संविधान द्वारा स्वतंत्रता के बाद प्रशासनिक महत्व मिला है, उसे लगभग छः सौ वर्ष पूर्व ही दक्षिण में वह महत्व प्राप्त हो चुका था।

आज की खड़ी बोली के इतिहास और उसके वर्तमान स्वरूप के अध्ययन के लिए दक्खिनी का बहुत महत्व है। व्याकरण संरचना की दृष्टि से यह बांगरू से बहुत समीप है। बांगरू की तरह इसमें भी अकारांत पुल्लिग और स्त्रीलिंग संज्ञा शब्दों का बहुवचन रूप 'आ' लगाकर बनाया जाता है जैसे, पर से परां, कितने से कितानां आदि। इसमें और के लिए होर का प्रयोग होता है और ने का प्रयोग कर्ता कारक के ही प्रसंग में नहीं वरन् कर्म और संप्रदान कारकों के प्रसंग में भी होता है। ये प्रवृत्तियां बांगरू (पंजाबी) में आज भी जीवित हैं। इसमें स से के लिए सं, स्यों और स्यीं, की के बदले कन, कभी के लिह कभु आदि रूप मिलते हैं। जैसे 1. अरे ऊधौ सुनौ यह दुख हम सूं। 2. "अकल अच्छा तो आपस कूं होर दूसरे कूं पछाने।" उत्तर भारत में 17;18वीं शताब्दी में खड़ी बोली गद्य की जो रचनाएं प्रस्तुत हुई उनमें भी ये भाषिक विशेषताएं मिलती हैं। जैसेः कुतुब शतक (1613 ई०) गणेश गोसठ (1658 ई०) आदि में दक्खिनी के प्रसंग में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में लिखित इन गद्य रचनाओं की तरह पंजाबी, राजस्थानी ब्रज और कनौजी आदि के प्रभावों से युक्त होने के बावजूद इसका गद्य आज के खड़ी बोली गद्य से जितनी समीपता रखती है, उतनी समीपता इन रचनाओं के गद्य की भी नहीं।

यद्यपि दक्खिनी का साहित्य अरबी, फारसी में लिखा गया है और इसमें अरबी, फारसी शब्दों की संख्या बहुत है, फिर भी उसमे संस्कृत शब्दों का संख्या कम विस्तृत नहीं है। दक्षिण मे बस गए हिन्दुओं और मुसलमानों की सम्मिलित जनभाषा होने के कारण दक्खिनी आज की हिन्दी और उर्दू का सम्मिलित पूर्व रूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी शब्दावली आधुनिक हिन्दी की शब्दावली से अधिक समीपता रखती है। निजामी के आख्यान काव्य 'मसनवी कदमराव वे पदमराव" की पंक्तियां देखिएः

अकास ऊंचा, पाताल धरती धई।
जहां कुछ न कोई, वहां है तुहीं।।

वास्तव में हिन्दी के आदिकाल का परिचय देने वाली प्रायः सभी कृतियां हिन्दी प्रदेशों से बाहर की लिखी हुई मिलती हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'नाथ सिद्धों की बानिया" मे जिन चौबीस नाथ सिद्धों की रचनाएं संगृहित की हैं उनमें अधिकांश अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के निवासी है तथा उनका समय 14वीं शताब्दी से पूर्व ही माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि 14वीं शताब्दी से पूर्व ही अहिन्दी भाषी प्रांतों मे हिन्दी साहित्यसृजन की परंपरा प्रारंभ हो गई थी। 13वीं शताब्दी से ही पूर्वी भारत में "ब्रजबुलि" साहित्य का परिचय मिलने लगता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 13वीं शताब्दी से भारत के अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी साहित्य का लिखा जाना प्रारंभ हो गया था, साथ ही इस समय से पूर्व का भी जो हिन्दी साहित्य आज उपलब्ध है, वह भी जैन एवं बौद्ध संतों द्वारा अहिन्दी भाषी प्रदेशों में ही मुख्य रूप से लिखा गया है।

पृष्ठ 48 का शेषांश

ऐतिहासिक निश्चयता का प्रदर्शन करता आया है। प्रशासन के उच्चतर स्तरों पर तो संविधान की सम्बद्ध धाराओं के कानूनी परिपालन में कोई ढील नहीं होनी चाहिए।

हम इसे कैसे भूल सकते हैं कि भारत के आधुनिकीकरण का मतलब भारतीय जनता की समाजार्थिक (सोशियो-इकॉनामिक) प्रगति है। भारतीय जनता के आधुनिकीकरण का तात्पर्य संपर्क भाषा एवं राजभाषा हिन्दी— तथा हिन्दी के सहभाव से अन्य राज्यभाषाओं—का आधुनिकीकरण हैं।

देश को किसी सम्पर्क भाषा की आवश्यकता होती है और वह (भारत में) केवल हिन्दी ही हो सकती है।

—श्रीमती इंदिरा गांधी

हिन्दी का यथार्थ

—डा० गोपाल शर्मा*

बहुभाषी राष्ट्र में विभिन्न भाषाओं का व्यवहार करने वाला प्रशासनिक इकाइयों के बीच संघ स्तर पर राजभाषा के प्रयोग के संबंध में विचार करते समय समस्या के कई आयाम सामने आते हैं। इस प्रसंग में दो महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं—पहला तो यह कि प्रादेशिक इकाई की संघ संबंधी कल्पना क्या है? दूसरा यह कि उसमें सांस्थानिक दृष्टि से बृहत्तर अस्मिता (काम्प्रीहेंसिव आइडेंटिटी) और देश के भौगोलिक विस्तार में बसे जन-समूह में संगठनात्मक दृढ़ता (सोलीडेरिटी) की आकांशा कितनी तीव्र है। एक प्रशन राजनैतिक है और दूसरा सांस्कृतिक। कई राज्य सरकारों की आकांक्षाएं ऐसी प्रतीत होती हैं कि संघ को, शक्तियों के संबंध में पर्याप्त उदार होना चाहिए। भाषा नीति के निर्धारण में एवं प्रशासन के क्षेत्र में अपनी भाषा नीति के कार्यान्वयन में भी उनकी इच्छा के अनुसार ही आगे बढ़ना चाहिए। वास्तव में इस प्रकार के आग्रह से भाषा द्वारा राष्ट्रीय एकता का सारा आयोजन ही खटाई में पड़ जाता है।

जहां आर्थिक-तकनीकी क्षेत्र, नौकरियों में स्थान-आरक्षण और धर्मनिरपेक्षता जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक मामलों में, केन्द्रीय निर्णयों के अनुसार चलने में उन्हें किसी आपत्ति या कठिनाई का अनुभव नहीं होता, वहीं भाषा संबंधी निर्णयों के विषय में वे अभी तक सहमत नहीं हो सके हैं क्योंकि यह निर्णय उनके विचार से विभिन्न कार्यक्षेत्रों में "अवसर की असमानता" उत्पन्न करते हैं। इसके दूरगामी परिणाम ये हो सकते हैं कि बड़ी से बड़ी प्रादेशिक प्रतिभा या तो प्रदेश में ही बंधकर रह जाएगी या अंग्रेजी का सहारा लेकर संघ के व्यापक क्षेत्र में आ जाएगी। स्वतंत्रता संघर्ष के समय हिन्दी के प्रति जो सार्वजनिक प्रेम था वह आज शिथिल पड़ गया है, किन्तु इस कारण राष्ट्र के संघटित विकास के लिए हिन्दी के माध्यम से उन्नति के समान अवसर उपलब्ध कराने के लिए व्यवस्थित और कालबद्ध कार्यक्रम बनाने में संकोच नहीं किया जाना चाहिए और उस पर समुचित गति से अमल भी किया जाना चाहिए। वर्तमान प्रशासनिक कमियों को हिन्दी में शीघ्रताशीघ्र प्रशिक्षित करना एक राष्ट्रीय महत्व का कार्य मानना चाहिए

यह तो हुई तर्कसंगत बात किन्तु स्थिति यह है कि भाषावार राज्य की रचना ने अस्मिता (आइडेंटिटी) के भाव का दायरा भौगोलिक भाषिक सीमाओं तक ही सिकोड़ दिया है और संगठनात्मक दृढ़ता की संकल्पना को अस्मिता के उसी सीमित दायरे ने घेर लिया है। अतएव इस सांस्कृतिक घटना को विस्तृत आदर्शों की ओर प्रेरित करने के लिए अब हमें संस्कृति एवं प्रकार्य (फंक्शन) की प्रेरणाओं पर फिर से नजर डालनी होगी। ऊपर मैं इंगित कर चुका हूं कि संस्कृति की धारणा में राजनैतिक-आर्थिक तत्वों की प्रधानता होती जा रही है। चिन्तन, नैतिकता, दैनिकता, दैनिक आचरण, पारस्परिक संबंधों आदि में मूल्यों का बदलाव आता जा रहा है। उसमें राष्ट्रभाषा को, जो कि महात्मा गांधी के समय में मूल्य की तरह अग्रसर की गई थी अब राष्ट्रीय-एकात्म्य के लिए उतना महत्व नहीं दिया जाता। यह बात रोजमर्रा की जीवन-पद्धति में भी स्पष्टतः उभरती आ रही है। हम भले ही भाषणों में इस बात पर जोर देते रहें, इस विषय में स्वतंत्रता संघर्ष काल की भावुकता अब नहीं रही। भारतीय समाज निरन्तर अर्थ क्रियावादी इस स्थिति में हमें भाव-प्रधान प्रेरणाओं के स्थान पर कर्म और अर्थ-प्रधान प्रेरणाओं को जागृत करना होगा। कौटिल्य ने कहा ही है—

"अर्थ एव प्रधानः। अर्थ मूलौहि धर्म कामौ।"

अतएव हमें अब प्रकार्य (फंक्शन) को संस्कृति का साधक मानकर चलना होगा। वैसे औद्योगिक समाज शास्त्र की दृष्टि से भी "प्रकार्य" सामाजिक वर्गों में दोहरी संस्कृतियां उत्पन्न करता है। शाश्वत, सांस्कृतिक मूल्यों के साथ-साथ कार्य-क्षेत्र नये मूल्यों को जन्म देकर हमारे लोक व्यवहार को अनुशासित करता है। इस प्रकार्यजनित संस्कृति की आधारभूमि पर हमें राष्ट्रीय-एकात्म्य की भावना को बल देना होगा। प्रकार्य की सामाजिक, मनौवैज्ञानिक अनिवार्यताओं को उभार कर हमें कर्म और अर्थ-प्रधान आचरणों के बीच संगठन-दृढ़ता की ओर प्रेरित करेगा। इसलिए प्रयोजनी हिन्दी फंकशनल हिंदी का विकास और उसका प्रसार आज राष्ट्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

हिन्दी के संबंध में संविधान की धाराओं की बात तो बहुत की जाती है। उसकी अत्यंत महत्वपूर्ण टीका अर्थात राजभाषा आयोग की रिपोर्ट में व्यक्त चिंतन का उल्लेख बहुत कम किया जाता है। इस रिपोर्ट में यह स्पष्ट रूप से लिखा है, (और यह सर्वविदति सत्य भी है) कि आज का प्रशासन जनजीवन के हर कर्म और भाव क्षेत्र को प्रभावित करता है। घर की चहार-दीवारी कितनी हो, आप कितने निकट के संबंधी से विवाह करें, पैतृक संपत्ति से आपको, आपकी बहन को कितना मिले, मंदिरों में किसे अनिवार्यता प्रवेश दिया जाये, मकान में आप किस प्रकार के उद्योग धंधे करें, इन सभी क्षेत्रों में आज प्रशासन का प्रवेश और अनुशासन है। जितने लोगों को प्रशासन प्रभावित करता है उतने लोगों की भाषा विविधता का प्रयोग शासन को मान्य करना होता है। प्रजातांत्रिक शासन की यह स्थिति अनोखी नहीं है। मुगलों और अंग्रजों के सामने भी कुछ न कुछ सीमा तक यह स्थिति रही थी। प्राचीनकाल में भी ऐसी ही स्थिति प्रशासन एवं न्यायालयों में उपलब्ध थी। मुद्राराक्षस (संस्कृत) के न्यायालय में शौरसेनी, अर्धमागधी और संस्कृत—तीनों भाषाओं का व्यवहार मिलता है। उदाहराणार्थ———

अधिकरणिकः—कथं त्वया ज्ञातं तथा टल्वर्थं निमित्तं पाहुपाशेन —व्यापादिता?

शकारः —हंहों, णूणं शूनशूणाए मोधट्ठाणाए गोवनि आए णिशुवण्णा केहि आहलणटेठाणेहि तक्केमि।

श्रेष्ठियस्यौः—जज्जदि विअ।

शकारः —(स्वागतम्) दिश्टिआ अच्चुज्जीविदम्हि। अविद मादिके।
अधिकरणिकः—कथं त्वया ज्ञातं तथा टल्वर्थ निमित्तं पाहुपाशेन —व्यापादिता?
शकारः —हंहों, णूणं शूनशूणाए मोधट्ठाणाए गोवनि आए णिशुवण्णा केहि आहलणटेठाणेहि तक्केमि।
श्रेष्ठिायस्यौः—जुज्जदि विअ।
शकारः —(स्वागतम्) दिश्टिआ अच्चुज्जीविदम्हि। अविद मादिके।
अधिकरणिकः—वाक्यानुसारेण, अर्थानुसारेण च। यस्तावद्वाक्यानुसारेण, सखल्वर्थिप्रत्यर्थिभ्यः। यश्चार्यानुसारेण सा चाधिकरणिक बुद्धिनिष्पाद्यः।
श्रेष्ठिायस्यौः—ता वसन्तसेणामादर अवलम्बदि ववहारो।
अधिकरणिकः—एवमिदम्। भद्र शोधनक, वसन्तसेनामातरमनु द्वेज्यत्राह्वय।
(मुच्छकटिकम्—शूद्क पृ० 4, 5)

हजारों वर्ष पहले स्वयं संस्कृत का भी द्विजी और मानुशी दो रूपों का प्रयोग होता था। फिर प्राकृत और अपभ्रंशादि के स्थान और लोक-व्यवहारगत भेद प्रयोग में आए। मुगलों के शासन काल में भी अनेक लोकभाषाओं का प्रयोग होता था और जब अंग्रेजों का शासन आया तो उनके न्यायालयों में तरह-तरह के भाषा रूपों से लोग बयान देते थे। उन्हें रिकार्ड करके उसके अनुवाद के द्वारा मामले की छानबीन करके निर्णय दिया जाता था। निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत जैसे विशाल देश के प्रशासन में विभिन्न क्षेत्रों में, अनेक स्तरों पर तरह-तरह की भाषाओं का प्रयोग इतिहास और संस्कृति का यथार्थ है। इसका प्रधान कारण शासन का व्यापक विस्तार और जनता के भाषिक व्यवहार की विविधता ही माना जा सकता है।

नाम तुम्हार कैया है?	आतमाराम
कहां रहता है व केआ काम करता है?	वीरभुमं मी रहते है वे कलकतरउश जीले के हैं तीन्हके हम चपरासी हैं।
जीलो बीहार मो कीश वाशते आए थे?	सरकार के काम बाशते आए हैं।

कचहरी की कार्रवाई से संबंद्ध भाषा: (प्राचीच पत्र संग्रह: डा० धीरेन्द्र वर्मा)

तब यह प्रश्न सामने आता है कि भारत में हिन्दी को संपर्क और राजभाषा के रूप में अखिल भारतीय स्तर पर प्रयोग में लाने का तात्पर्य यह है कि मानक हिंदी की वर्तमान संकल्पना को सामने रखते हुए केन्द्रवर्ती कार्यों में उसका प्रयोग हो किन्तु क्षेत्रीय विविधताएं भी स्वीकार्य हों और सार्वदेशिक मानकीकरण को सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उभरने को छोड़ दिया जाए। सम्पर्क भाषा का रूप "कामचलाऊ" आपसी व्यवहार की हिन्दी का हो परन्तु विशिष्ट प्रयोजनों के लिए जिस रूप के रजिस्टर या प्रयुक्तियां आज विकसित को रही हैं, उनका प्रयोग हो। इस तरह राजभाषा का विकासमान प्रयुक्ति रूप ही अखिल भारतीय स्तर के कार्यक्षेत्र में प्रवेश दिलाने के लिए अर्थमूलक सबल प्रेरक तत्व बनेगा और सभी क्षेत्रों के अखिल भारतीय स्तर पर आने के इच्छुक व्यक्तियों को न्दिी सीखने के लिए प्रेरित करेगा। बहुत हद तक यह हो भी रहा है।

इस समय अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी अध्ययन के मूल उद्देश्यों पर अनुसंधान किया जाए तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि ज्यादातर लोग सामान्यता सामाजिक व्यवहार की हिन्दी पर अधिकार प्राप्त कर राजभाषा हिन्दी के विविध प्रयोजनी रूपों का विशेष अध्ययन करना चाहते हैं। उनका रूझान इसी ओर अधिक है। प्रचार संस्थाओं से भी सरकारी कामकाज की हिन्दी सिखने की मांग बहुत अधिक मात्रा में की जा रही है। राष्ट्र की संगठनात्मक दृढ़ता में यदि अब हिन्दी भाषा को भी अपनी भूमिका अदा करनी है तो वह प्रयोजनी हिन्दी की ही होगी।

उपर्युक्त चिन्तन में इस बात की ओर संकेत किया गया है जिस संपर्क भाषा हिन्दी का रूप विभिन्न क्षेत्रों में "प्रादेशिकता" भी विकसित कर सकता है। हिन्दी क्षेत्र में ही जिसे हम मानक हिन्दी मानते हैं उसके विविध रूप प्रचलित हैं, तो हमें यह मानकर ही चलना होगा कि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में बोली जाने वाली हिन्दी में उनकी शब्दावली और मुहावरे आदि का मिश्रण हो जाना स्वाभाविक है।

इस प्रसंग में भिखारी दास ने "काव्य निर्णय" नदमें ब्रज भाषा के रूप पर जो विचार व्यक्त किए हैं वे बड़े सटीक हैं—

ब्रजभाषा रूचिर कहै सुमति सम कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होय।।
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग रावन भाकानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विध कहत बखानि।।

ऐसी परिस्थिति में हमें राजभाषा हिन्दी के मानक रूप पर विचार कर लेना चाहिए। हिन्दी राजभाषा की विभिन्न प्रयुक्तियां अभी विकास अवस्था से गुजर रही हैं। भारत सरकार इस बात का पूरा प्रयत्न कर रही है कि कम से कम हिंदी प्रांतों में समान प्रशासनिक शब्दावलियों का प्रयोग हो। किन्तु अभी तक ऐसा नहीं हो पाया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए राजभाषा के प्रचार की दृष्टि से हमें कुछ उदार दृष्टिकोण अपनाना होगा अर्थात् प्रयोजनमूलक हिन्दी सीखने वाले अफसर या कर्मचारी आरंभ में अपनी प्रान्तीय भाषा अथवा अपने राज्य की राजभाषा की शब्दावली अथवा प्रयुक्तियों का सम्मिश्रण कर देते हैं तो संक्रातिकाल में उन्हें हतोत्साहित नहीं करना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कोई मराठी भाषी यह कहता है कि "जाहिरात देने के बरोबर ही में वर्तमान परुत्र के संपादक को भेंट देने गया था"। अथवा बंगाली भाषी यह कहता है कि "आपके प्रस्ताव पर विभाग में चिंता की जा रही है" या कोई अपने हिन्दी टिप्पण में अंग्रेजी शब्दों का मिश्रण कर देता है तो हमें कुछ समय तक ऐसी टिप्पणियों से चौंकना नहीं चाहिए, ताकि लोग बिना झिझक हिंदी लिखने के लिए प्रवृत्त हों। जिस तरह कबीर की हिन्दी "सधुक्कड़ी" मानकर स्वीकार की जाती है उसी तरह इस "आन्तर्भारती" को भी समुचित मान्यता देना उसके प्रचार में सहायक होगा।

मानक रूप का विकास इसके साथ ही साथ करते जाना चाहिए और प्रशिक्षण एवं विभिन्न पुस्तिकाओं द्वारा इस तरह के अहिंदी भाषी उत्साही सज्जनों को सही रूपों का ज्ञान कराते जाना चाहिए। "शुद्ध न्दिी" का हौआ बहुत से हिन्दी-प्रवण लोगों में झिझक पैदा कर देता है।

सरांश में यही कहा जा सकता है कि हिन्दी के वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक और भाषिक यथार्थ को ध्यान में रखते हुए राजभाषा की योजनाओं पर कार्यन्वयन करना उपयोगी होगा। इस दृष्टिकोण से हिन्दी के प्रति जो अभी संकोच और विरोध की भावना है दूर करने में सहायता मिलेगी और भाषा के सहारे राष्ट्रीय एकता को बल मिलेगा। हो सकता है कि इसी तरह से मिश्रित रूपों से गुजरते हुए संविधान के अनुच्छेद 351 में निर्दिष्ट हिन्दी का विकास हो।

देवनागरी लिपि: संशोधन और परिवर्धन

—काशीराम शर्मा*

भारत के संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी है। देवनागरी लिपि को राजभाषा की लिपि के रूप में स्वीकार करने के कदाचित् अनेक कारण रहे हैं। मुख्य कारण तो यही है कि हिंदी सामान्यतः देवनागरी लिपि में लिखी जाती रही है दूसरा, किंतु उतना ही महत्वपूर्ण कारण यह है कि देवनागरी का प्रयोग भारत के बहुत बड़े भाग में अन्य भाषाओं के लिए भी होता है। उदाहरणार्थ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि का बहुत-सा साहित्य देवनागरी लिपि में ही उपलब्ध है। मराठी भाषा की भी लिपि देवनागरी ही है। नेपाली आदि कुछ पड़ोसी भाषाओं ने भी इस लिपि के माध्यम से पढ़ी-पढ़ाई जाती है। इसलिए देनागरी लिपि को राजभाषा हिंदी की लिपि के रूप में स्वीकृति मिलना स्वाभाविक था।

परन्तु देश के मुद्रकों और टंकणकर्त्ताओं आदि का यह अनुभव रहा है कि देवनागरी लिपि में अंतर्निहित कुछ दोषों के कारण यंत्रयुग में उसका प्रयोग रोमन लिपि की तुलना में कुछ कठिनाई उपस्थित करता है। इसलिए विद्वानों का ध्यान इस दिशा में जाना स्वाभाविक था कि देवनागरी लिपि में ऐसे उपयुक्त संशोधन किए जाएं कि वह यंत्रों के प्रयोग में उतनी असुविधाजनक न रह जाए। समय-समय पर अनेक लोगों ने देवनागरी लिपि में सुधार-संशोधन सुझाए थे परन्तु वे विविधि कारणों से सर्वमान्य न हो पाए। अंततः भारत सरकार ने देवनागरी लिपि के संशोधन और मानकीकरण का कार्य भी अपने हाथ में ले लिया और उसके लिए एक समिति नियुक्त की। समिति ने देवनागरी लिपि के संशोधन और मानकीकरण का कार्य भी अपने हाथ में ले लिया और उसके लिए एक समिति नियुक्त की। समिति ने देवनागरी लिपि के मुख्य ढाँचे में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा और प्रायः ऐसे ही संशोधन सुझाए जिनसे अक्षरों आदि की द्विरुपता तो समाप्त हो जाए पर विशिष्ट लक्षण बने रहें।

देवनागरी लिपि के कुछ लक्षण जो ब्राह्मी मूल की सभी भारतीय लिपियों में समान रूप से विद्यमान हैं, इस प्रकार हैं—

1. 'अ' स्वर को छोड़कर सभी स्वरों के दो-दो रूप हैं— अक्षर रूप और मात्रा रूप। जब स्वर का प्रयोग किसी व्यंजन के ठीक बाद में हो तो उसका मात्रा रूप में प्रयोग होता है अन्यथा अक्षर रूप में।
2. व्यंजन का मानक रूप 'अ' स्वर युक्त व्यंजन का है। शुद्ध व्यंजनों का लेखन करना हो तो मानक रूप से नीचे हलंत का चिह्न (्) लगाना होगा। इस प्रकार अकेले व्यंजन को व्यक्त करने के लिए दो लिपि चिह्न हैं जबकि एक लिपि चिह्न व्यंजन तथा 'अ' स्वर, अर्थात् दो वर्णों के लिए प्रयुक्त होता है।
3. शुद्ध व्यंजन के ठीक बाद 'अ' से भिन्न जो भी स्वर आता है वह व्यंजन 'अ युक्त' मानक रूप में स्वर की मात्रा लगाकर व्यक्त किया जाता है।
4. अनुस्वार जिस स्वर के बाद आता है उसके ऊपर लिखा जाता है।
5. ग़रों की द्योतक मात्राएं अक्षर से पहले, पीछे, ऊपर और नीचे अर्थात् सभी ओर लगाई जाती हैं।
6. व्यंजन के पश्चात् व्यंजन आने पर संयुक्त व्यंजन माना जाता है। व्यंजन संयोजन की दो पद्धतियां हैं, एक पूर्व व्यंजन में हलंत चिह्न लगाने की और दूसरी उसके मानक रूप को खंडित कर देने की। कभी-कभी दोनों का संयुक्त रूप ऐसा आकार ग्रहण कर लेता है कि संयोजी व्यजनों को पहचानना कठिन हो जाता है।

देवनागरी लिपि के उपर्युक्त विशिष्ट लक्षण ही वे तत्व हैं जो उसके यंत्रोपयोगी बनने में बाधक हैं। इन्ही के कारण हिंदी के कोशों आदि का वर्णक्रम प्रायः कठिन प्रतीत होता है। इन्हीं के कारण रोमन के माध्यम से पढ़े हुए लोगों को देवनागरी सीखने में काफी कष्ट होता है। इन्हें चाहे दोष मानें चाहे गुण—पर ये देवनागरी के विशिष्ट लक्षण हैं और केवल देवनागरी ही नहीं ब्राह्मी कुल की सभी लिपियों के विशिष्ट लक्षण हैं। भारत सरकार द्वारा नियुक्त समिति ने इन लक्षणों से कोई छेड़छाड़ करने का यत्न नहीं किया।

अस्तु यहां देवनागरी लिपि के गुण-दोषों पर विचार न करके उन संशोधनों पर विचार किया जाएगा जो भारत सरकार द्वारा नियुक्त समिति ने सुझाऐ थे और जिन्हें सरकार से स्वीकृति मिली।

संशोधन

सुझाए गए संशोधन मुख्य रूप से अक्षरों के उपलब्ध दो-दो रूपों में से एक-एक रूप को ही स्वीकार करने के विषय में हैं चाहे वह द्विरुपता एकल अक्षर से दो रूप प्रचलित होने के कारण रही हो चाहे व्यंजन-संयोजन की दो रीतियां होने के कारण। संशोधन इस प्रकार हैं—

(1) देवनागरी लिपि में कुछ अक्षर दो प्रकार से लिखे जाते थे, जैसे अ अ ऋ ऋ झ झ ण ण ल ल श श। इनके विषय में यह निर्णय किया गया कि निम्नलिखित रूप ही स्वीकृत होंगे—

1 अ, 2 ऋ, 3 झ, 4 ण, 5 ल, 6 श।

(2) जिन अक्षरों में भ्रम की गुंजाइश है, यथा ख, ध, भ, उनके भ्रम का निवारण करने के लिए निर्णय किया गया कि इन

*पूर्व निदेशक, केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो, नई दिल्ली।

अक्षरों के ये रूप स्वीकार किए जाएं—
ख, ध, और भ।

(3) संयुक्त व्यंजनों में क्ष और ज्ञ के भी दो-दो रूप चलते थेः क्ष ज्ञ और ज्ञ ज्ञ, जिनमें यें रूप स्वीकृत किए गएः क्ष, ज्ञ।

(4) परम्परागत देवनागरी लिपि में व्यजन के संयोजन की दो पद्धतियाँ प्रचलित थीः—(क) आगे-पीछे संयोजन की पद्धति को ही चालू रखने और ऊपर-नीचे संयोजन की पद्धति को समाप्त करने का निर्णय किया गया।

(5) आगे-पीछे संयोजन की पद्धति के विषय में यह भी निर्णय किया गया कि जिन अक्षरों में खड़ी पाई (।) हैं। उन्हें किसी व्यंजन से पूर्व मिलाते समय खड़ी पाई हटा दी जाए। सुविधा की दृष्टि से 'क' और 'फ' अक्षरों में बाद में आने वाले मोड़ को खड़ी पाई हटाकर संयोजन के कुछ उदाहरण निम्नलिखित होंगे—क्य, ख्य, ग्य, ज्य, व्य, फ्य, आदि।

(6) जिन व्यंजनों में खड़ी पाई नहीं है उनको किसी व्यंजन से पूर्व मिलाने के लिये हलंत का चिह्न प्रयुक्त किया जाए। जैसेःद्य, द्व, ड्ड, ड्ढ, आदि।

(7) ऊपर के सभी निर्णयों में एक अपवाद माना गया है। वह है 'र' व्यंजन के विषय में। 'र' व्यंजन चार रूपों में मिलता है। एक 'अ' स्वर से युक्त रूपः 'र', एक व्यंजन से पहले आने वाले 'र' का रूप जो अक्षर के ऊपर प्रयुक्त होता हैः और एक अक्षर के नीचे प्रयुक्त होने वाला रूप ' या जो पाई वाले अक्षरों में एक प्रकार से मिलता है प्र, म्र, आदि और बिना पाई वालों में दूसरे प्रकार से ट्र, ड्र, आदि।

टिप्पणीः 'र' के सभी रुपों को स्वीकार करने के साथ-साथ समिति ने यह भी निर्णय किया कि तालव्य 'श्' का जो रूप (श्र) परम्परागत शैली में प्रचलित है वह उसी रूप में चलने दिया जाए। अथात् श्र, श्री आदि जिस रूप में अब तक लिखे जाते रहे हैं उसी रूप में लिखे जाते रहें।

इस प्रकार देवनागरी लिपि के संशोधन सुझाये और यथा संभव उसके मूल स्वरूप में मौलिक परिवर्तन उचित नहीं होगा। हां, हिंदी की वर्णमाला में सामान्यतः न प्रयुक्त होने वाले वर्ण ल का भी देवनागरी लिपि में समावेश कर दिया गया जो मराठी और संस्कृत में पहले ही प्रयुक्त होता था।

परिवर्धन

संसकृत की भी स्वीकृत लिपि होने के कारण देवनागरी लिपि अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त कर सकती है, ऐसा बहुत से विद्धानों का विश्वास रहा है और उनका यह सुझाव भी रहा है कि यदि सभी भारतीय भाषाओं का साहित्य देवनागरी लिपि में उपलब्ध हो जाए तो भारतीय भाषाओं को परस्पर निकट लाने की दिशा में बहुत सफलता मिल सकती हैं। प्रायः यह देखा गया है कि लिपियों का अन्तर परस्पर अवबोध में बाधक होता है। उदाहरणार्थ हिंदी और उर्दू में भेद का एक बहुत बड़ा आधार प्रायः लिपि ही है। अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य भी यदि देवनागरी लिपि में उपलब्ध हो तो इसमें सन्देह नहीं है कि देवनागरी लिपि से परिचित व्यक्ति को उसे समझने में कम परिश्रम करना पड़ेगा। स्पष्ट कारण यह है कि भातीय भाषाओं में परस्पर समानता बहुत अधिक है और उनमें शब्दावली का साम्य भी अद्भुत है। विचारधारा का साम्य भी बहुत है। इसलिए लिपि के कारण जो दूरी उत्पन्न हो जाती है वह लिप्यन्तरण होते ही हट जाती है। इस दृष्टि से बहुत से विद्वानों का यह आग्रह रहा है कि देवनागरी लिपि में आवश्यक परिवर्धन करके उसे इस योग्य बना दिया जाए कि अन्य भारतीय भाषाओं से भी उसमें लिप्यन्तरण करने में कठिनाई न रहे। भारत सरकार ने इस कार्य के लिए भी सन् 1962 में एक समिति नियुक्त की। इस समिति के निर्णय यथा समय प्रकाशित कर दिए गये थे। उन पर पुनर्विचार करने के लिए सन् 1979 में केन्द्रीय हिंदी निदेशालय के तत्वाधान में पुनः एक समिति की नियुक्ति की गई और देवनागरी लिपि में जो मुख्य परिवर्धन किए गए हैं उनका परिचय संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(1) समिति का विचार था कि देवनागरी की वर्णमाला में मराठी में प्रचलित ल का समावेश करने के बाद वह निम्नलिखित भाषाओं के लिए निर्बाध रूप से प्रयुक्त हो सकती है—(1) असमिया, (2) उड़िया, (3) गुजराती, (4) पंजाबी, (5) बंगला, (6) मराठी, (7) संस्कृत, और (8) हिंदी। इन भाषाओं की सामग्री को देवनागरी लिपि में प्रस्तुत करने के लिए केवल संबंधित भाषा की लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि के अक्षरों का प्रयोग करना होगा।

(2) द्रविड़ परिवार की मानी जाने वाली दक्षिण भारत की चारों भाषाओं में ह्रस्व 'ए', 'ओ' भी मिलते हैं। तदनुसार देवनागरी लिपि में ह्रस्व 'ऐ', 'ओं' (मात्रा रूप, ॅ, ॉ) की व्यवस्था कर देने पर तेलुगु और कन्नड़ भाषा एँ भी देवनागरी लिपि में लिखी जा सकती हैं।

(3) ह्रस्व 'ऐ', 'ओ' की उपर्युक्त व्यवस्था हो जाने पर तमिल और मलयालम के स्वरों की भी आवश्यकता पूर्ण हो सकती है पर इन भाषाओं में कुछ व्यंजन भी हैं जिनके लिये अतिरिक्त लिपि चिह्न अवश्यक हैं। वे व्यंजन तथा उनके लिये सुझाये गए लिपि चिह्न ये हैं—

तमिल	मलयालयम	के लिए
तमिल	मलयालम	के लिए न
तमिल	और मलयालम	र

इन परिवर्धनों के साथ देवनागरी लिपि उत्तर और दक्षिण की उन अधिकांश भाषाओं को लिखने के लिये उपयुक्त हो जाती है जिनकी लिपि मालायें देवनागरी से मेल खाती हैं। अब समस्या रह जाती है उन तीन भाषाओं की जो अब तक फारसी-अरबी लिपि के संशोधित रूप में लिखी जाती रही हैं। वे हैं—उर्दू, कश्मीरी और सिंधी।

(4) उर्दू की कुछ विशिष्ट ध्वनियां हैं जिनकों व्यक्त करने के लिये देवनागरी लिपि में देवनागरी वर्णों के नीचे नुक्ता लगाने की प्रथा प्रचलित रही हैं। समिति ने उस प्रथा को चालू रखना उचित माना हैं। ये वर्ण हैं—
क़, ख़, ग़, ज़, ऽ, फ़,।

उर्दू के ऐन् के लिये 'अ' रूप स्वीकार किया गया है।

(5) सिंधी में भी अरबी-फारसी मूल के ऐसे बहुत से शब्दों का प्रयोग होता है। उन शब्दों के लिये वही पद्धति अपनाई जाए जो उर्दू के प्रसंग में सुझाई गई है।

शेष पृष्ठ 71 पर

भाषा, समाज और प्रयोजनमूलक हिंदी

कृष्ण कुमार श्रीवास्तव*

भाषा का क्या महत्व है कि यह इस बात से जाहिर है कि आज मैं अपने विचारों को आप तक पहुंचाने के लिए इसी का सहारा ले रहा हूं। कल्पना कीजिये यदि हमारे पास भाषा न होती तो क्या हम आपसे अपनी बात कह पाते और आज जो दुनिया में इतनी उन्नति हुई है क्या वह हो पाती? भाषा हमारे जीवन का अत्यन्त आवश्यक अंग है, किन्तु अति परिचय के कारण हम उसका महत्व समझ नहीं पाते। मानव जीवन के विकास में भाषा ने असाधारण कार्य किया है। मानव की अनेक क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है, उसमें भाषा का प्रधान हाथ रहा है। क्षण भर के लिए यदि हम यह कल्पना करें कि भाषा का अस्तित्व नहीं है तो आप देखेंगे कि हमारे समस्त व्यवहार कितने सीमित एवं संकचित हो जाते हैं। आज के जटिल, वैज्ञानिक और गतिमान दैनिक जीवन का भाषा एक अनिवार्य अंग है। हमारे जीवन के लिए जितनी सांसों की आवश्यकता है, उससे थोड़ा ही कम भाषा की होती है और हमारे सामाजिक जीवन के लिए तो भाषा की नितान्त आवश्यकता है।

"भाषा शब्द का प्रयोग कभी व्यापक अर्थ में होता है तो कभी संकुचित अर्थ में। मूक भाषा, पशु-पक्षियों की भाषा अथवा संस्कृत ग्रंथों के टीकाकारों की 'इति भाषायाम्" द्वारा अभिप्रेत भाषा, सब में सर्वत्र एक ही भाव छिपा हुआ है—वह साधन जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी पर अपने विचारों, भावों या इच्छाओं को प्रकट करता है। जब कभी फटकार सुनकर कोई बच्चा मां की ओर निहारता है और कुछ बोलता नहीं तब मां बच्चे के अंतस्थल की बात शीघ्र समझ जाती है अथवा जब कोई गूंगा मुंह के पास हाथ ले जाकर चुल्लू बनाता है अथवा पेट पर हाथ फेरता है, तो देखने वाले को उसकी प्यास या भूख का अंदाजा हो जाता है। भाषा किसी भाव या विचार की अभिन्यक्ति का माध्यम होती है। यह आवश्यक नहीं कि वह ध्वन्यात्मक ही हो, वह संकेतात्मक भी हो सकती है। संकेतात्मक भाषा का उपयोग बड़ा संकुचित होता है, ध्वन्यात्मक का उपयोग व्यापक और लिपिबद्ध भाषा का उपयोग और भी व्यापक होता है।

भारत की अनेक प्रान्तीय या प्रादेशिक भाषाओं का जन्म, जिनमें हिन्दी भी एक है, नवीं-दसवीं सदी के लगभग मध्ययुगीन आर्यभाषाओं से हुआ है। इन सबों का मूल स्रोत संस्कृत भाषा है जिसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप में भारत की दक्षिणी भाषाओं पर भी पड़ा है। आचार्य रमाचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी भाषा का प्रारम्भ 1000 ईस्वी से माना है। यद्यपि कुछ अन्य विद्वान इसे प्रारम्भ छठवीं-सातवीं शताब्दी तक ले जाते हैं। भाषा के रूप में "हिन्दी" शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है जैसेः— (1) भाषाशास्त्र की दृष्टि से, (2) साहित्यिक दृष्टि से (3) भारतीय संविधान की व्यवस्था की दृष्टि से। भाषा-शास्त्र की परिभाषा के अनुसार हिन्दी-भाषा उस विशाल भाषा-समूह के लिह प्रयुक्त होती है जिसकी विभिन्न विभाषाएं और बोलियां बिहार से राजस्थान तक तथा हिमाचल प्रदेश से मध्य प्रदेश तक के विस्तृत क्षेत्र में जन सामान्य की भाषाएं हैं। इस लम्बे-चौड़े क्षेत्र में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों में से अनेक बोलियों में समृद्ध साहित्य की रचना हुई है और यह बोलियां अपने-अपने क्षेत्रों में बोल-चाल तथा लेखन की प्रधान माध्यम हैं। साहित्य की दृष्टि से भी हिन्दी का काफी व्यापक क्षेत्र हैं। भारतीय संविधान की दृष्टि से हिन्दी का तात्पर्य राजभाषा हिन्दी से है जिसका उपयोग सरकारी कामकाज में किया जा रहा है जिसका स्वरूप धीरे-धीरे उभर रहा है।

* पूर्व सचिव राजभाषा विभाग (गृह मंत्रालय) और भारत सरकार के हिन्दी सलाहक

हिंदी भाषा और समाज

पहले कहा गया है कि किसी व्यक्ति के लिए अपने को अभिव्यक्त करने का सबसे अधिक सशक्त उपकरण भाषा ही है। व्यक्ति समाज के माध्यम से भाषा अर्जन करता है। वह समाज के लिए ही भाषा का प्रयोग करता है। व्यक्तियों को समाज में प्रतिष्ठित करने का उत्कृष्ट साधन भाषा ही है। आज भाषा-हीन समाज की कल्पना तक नहीं की जा सकती। राष्ट्र को संगठित रखने का एक प्रधान साधन भाषा ही है। भाषा के प्रश्न को लेकर समाज और राष्ट्र टूट सकते हैं अथवा सुगठित किए जा सकते हैं। भाषा हमारी सभ्यता और संस्कृति का एक मुख्य अंग है। भाषा समाज के लिए और समाज द्वारा निर्मित होती है। अतः भाषा अद्यतन सामाजिक वस्तु है। भाषा का जन्म, विकास और प्रयोग समाज में होता है। माता अपने बच्चे को जो भाषा सिखाती है वह समाज की संपत्ति होती है। समाज को छोड़कर भाषा की कल्पना ही बेकार है।

संसार की भाषाओं में हिन्दी एक बहुत व्यापक भाषा है। भारत में भी, जो प्राचीन काल, से ही एक बहुभाषी देश रहा है, अधिकांश क्षेत्र की भाषा हिन्दी है और अधिकांश लोग इसका प्रयोग करते हैं। अन्य भाषा भाषियों ने भी अपने व्यापार आदि कार्यों में इस भाषा को अपनाया है। साधु-संतों ने भी अपनी यात्राओं में इसी की सहायता ली है। प्रारम्भ से ही हम देखते हैं कि सभी धर्म और क्षेत्र के लोग बड़े प्रेम से हिंदी सीखते थे और हिन्दी में कविता करते थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उत्तर और दक्षिण के देशी नरेशों, सूफियों और मुसलमान कवियों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

बीसवीं शताब्दी में हिन्दी ने भारतीय समाज के संगठित होने में बड़ी भूमिका निभायी है। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में हिन्दी का अमूल्य योगादान रहा है। इस संग्राम के समय हिन्दी भारत के अधिकांश प्रदेशों के निवासियों के आपस में विचार-विमर्श करने की एक प्रमुख भाषा थी। उन दिनों हिन्दी भारतीयता का प्रतीक बन गई थी। भारतवासियों के बीच अपनत्व का प्रतीक। उस समय अनेक साहित्यकारों ने हिन्दी कविताओं, कहानियों आदि के माध्यम से स्वतंन्त्रता सेनानियों में जोश भर दिया। इसी

के परिणाम स्वरूप हिन्दी भारत के अधिकांश भू-भाग में लोकप्रिय बन गई। भारत में अलग-अलग भाषाओं के बीच एक कड़ी की आवश्यकता है जिसे हिन्दी ने बखूबी निभाया है। इन्ही बातों को ध्यान में रखाकर हमारे संविधान निर्माताओं ने हिन्दी को राष्ट्रीय स्तर पर राजभाषा का महत्वपूर्ण स्थान दिया। हिन्दी को इस स्तर तक पहुंचाने का श्रेय अहिन्दीभाषियों को अधिक है। अगर हिन्दी को इस सम्मान के लिए चुना गया है, तो इसलिए नहीं कि वह सभी भारतीय भाषाओं में श्रेष्ठ मानी गई है, या सबसे पुरानी है। बल्कि इसलिये कि तुलनात्मक दृष्टि से इसका ही देश में सबसे ज्यादा प्रचार और प्रसार है। इस नयी भूमिका को निभाने में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाएं एक दूसरे के पूरक के रूप में काम करती हैं।

आजादी की लड़ाई से भी काफी पहले जनचेतना की सृष्टि के लिए हिन्दी भाषा की महत्ता समझी गई थी। इसके लिए सर्वप्रथम आवाज उठानेवाले बंगाल के अनेक मनीषी और समाज सुधारक थे जिन्होंने हिन्दी के देश व्यापी स्वरूप को परखा और इसके लिए आंदोलन शुरु किया। राजा राम मोहन राय, आचार्य केशवचंद्र सेन, जस्टिस शारदा चरण मिश्र, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टेगोर एवं श्री अरविन्द आदि विचारकों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। दक्षिण में भी इस आवाज को श्री सुब्रह्मण्यम अइयर, श्रीनिवासाचार्य, श्री सुब्रह्मण्यम भारती, श्री कुंचन नम्बियार, राजा स्वाति तिरुमाल आदि विद्वानों ने उठाया। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता तथा उन्नति के लिए हिन्दी भाषा के महत्व को समझा और उसे ही संपर्क भाषा के रूप में अपनाएं जाने पर जोर दिया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने सन् 1918 में ही कहा था कि "मेरा मत यह है कि हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है और होनी चाहिए"। इन सभी महापुरुषों के प्रेरणा और प्रयास से हिन्दी का महत्व बहुत बढ़ता गया अंततः भारत की संविधान सभा ने हिन्दी को केन्द्रीय राजभाषा के रूप में स्वकृति प्रदान की।

प्रयोजनमूलक हिन्दी

हिन्दी के राजभाषा के रूप में स्वीकृत हो जाने पर उसके उत्तरदायित्वों में अपार वृद्धि हुई है। आज उसे न केवल बोल-चाल और साहित्य की भाषा के रूप में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना है, बल्कि प्रशासन, विधि, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, वाणिज्य एवं उद्योग तथा पत्रकारिता आदि क्षेत्रों में भी अपने उत्तरदायित्वों को निभाना है। यह गंभीर उत्तरदायित्व है।

आज स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षा संस्थानों में पढ़ाई जाने वाली हिन्दी साहित्यिक विषयों की प्रधानता है। स्नातक और स्नातकोत्तर दोनो ही स्तरों पर जो पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें निर्धारित की गई हैं वे प्रधानतया साहित्यिपरक होती हैं और उनमें काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि पर ही अधिक जोर दिया जाता है। परिणामस्वरूप हिन्दी की उच्च परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले आज के विद्यार्थी हिन्दी साहित्य के तो अच्छे जानकार बन जाते हैं, किन्तु दैनिक जीवन में उन्हें अपना कार्य करने में अधिक सहायता प्राप्त नहीं होती। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान काल की हिन्दी शिक्षण व्यवस्था व्यावहारिक अथवा प्रयोजनमूलक नहीं है। व्यावहारिक या प्रयोजनमूलक हिन्दी का तात्पर्य है—वह हिन्दी जो शिक्षा प्राप्ति के बाद विद्यार्थी को अपने तथा समाज के दैनिक काम-काज में सहायता प्रदान करे। उसे अपने व्यावहारिक कार्यों को पूरा करने में सहयोग दे। किसी स्नातक से जब यह कहा जाता है कि वह किसी प्रशासनिक या व्यापारिक विषय में कार्यवाही करने के लिए एक पत्र लिखे तो वह बगलें झांकने लगता है। वह घबरा जाता है और कहता है कि यह तो उसने पढ़ा ही नहीं और अपने शिक्षा संस्थान के ऊपर सारा दोष मढ़ देता है।

शिक्षा के दो पहलू होते हैं—सैद्धांतिक और व्यावहारिक। सैद्धांतिक पक्ष के रूप में कोई विद्यार्थी एक निर्धारित पाठ्यक्रम में प्रस्तुत सामग्री का अध्ययन करता है। किन्तु किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखकर किसी विषय का विशेष शिक्षण उसका प्रयोजनमूलक अध्ययन कहलाता है। यह उसके व्यावहारिक क्षेत्र को ध्यान में रखकर दिया गया प्रशिक्षण होता है। परन्तु आज शिक्षा के क्षेत्र में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को छोड़कर कहीं भी ऐसी व्यवस्था नहीं है, विशेषकर भाषा के क्षेत्र में जहां उसका व्यावहारिक अध्ययन करवाया जाए। आज विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को देश की परिस्थिति को ध्यान में रखकर, नये सिरे से बनाने की आवश्यकता है जिसके अंतर्गत विद्यार्थी को उसके अपने अध्ययनकाल में विशेष रूप में प्रशिक्षित करने की योजना होनी चाहिए। शिक्षा पद्धति कोरा डिग्रीधारी बनाने वाली नहीं, बल्कि एक सर्जक व्यक्ति का निर्माण करने वाली होनी चाहिए।आज का आधुनिक जीवन वैज्ञानिक आविष्कारों, सुगम आवागमन, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों आदि के कारण बहुत व्यापक हो गए है। अतः आज का व्यक्ति काव्य, कहानी, नाटक और उपन्यास के ज्ञान द्वारा ही विविध क्षेत्रों की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता। उसे तो आज उन विषयों का भी ज्ञान होना चाहिए जिनसे उसे दैनिक जीवन में भी जूझना पड़ता है। अतः विश्वविद्यालयों के वर्तमान हिन्दी पाठ्यक्रमों मे परिवर्तन होना चाहिए जिससे हिन्दी भाषा में शिक्षित विद्यार्थियों को विभिन्न नये क्षेत्रों में बखूबी काम करने में सहायता मिल सके और यह बात केवल, हिन्दी के लिए लागू नहीं है वरन् सभी भारतीय भाषाओं के लिए लागू है। भाषा के समुचित ज्ञान के लिए साहित्य का अध्ययन जरुरी है, पर केवल साहित्य का नहीं। आज की स्थिति यह है कि जिनकी मातृभाषा भी हिन्दी है, पर जिन्होंने कालेजों में हिन्दी का खास अध्ययन नहीं किया है वे कोई भी वाक्य ऐसा नहीं बोल पाते हैं न लिख पाते हैं जिसमें दो-चार अंग्रेजी शब्दों का समावेश न हो। आधा वाक्य हिन्दी में तो आधा वाक्य अंग्रेजी में। जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है उनके लिए यह स्थिति समझ में आ जाती है चूंकि उनके लिए यह समुचित अभिव्यक्ति का साधन है, पर हिन्दी वालों के लिए यह या तो फैशनपरस्ती है यह उचित शिक्षा का अभाव। और दूसरी ओर ऐसी कृत्रिम, क्लिष्ट और दुर्बोध भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे सुनने वालों या पढ़ने वालों को यह जल्दी समझ में ही नहीं आता कि वे कहना क्या चाहते हैं। विश्वविद्यालयों में पढ़े, हिन्दी शिक्षा प्राप्त अधिकतर लोग ऐसी हिन्दी का प्रयोग करते हैं जिससे जनजीवन का कोई खास संबंध नहीं रहता और बाद में व्यावहारिक क्षेत्र में आने के बाद तथा प्रशिक्षण और कोशिशों के बावजूद शास्त्रीयता तथा शब्दों का जाल उनका पीछा नहीं छोड़ते। यह स्थिति हिन्दी-भाषा के पनपने में बाधक सिद्ध होती है

यह प्रसन्नता की बात है कि पिछले कई वर्षों से देश के विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है और हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रमों में अब साहित्य के अलावा हिन्दी भाषा के अध्ययन जैसे तुलनात्मक भाषा, विज्ञान, अनुवाद विज्ञान, कोशकला विज्ञान, व्यावसायिक पत्र-व्यवहार, प्रशासनिक पत्र व्यवहार आदि विषयों को भी सम्मिलित करने का प्रयास किया जा रहा है। यह उचित दिशा में किया गया प्रयास है जो हमारे हिन्दी पाठ्यक्रमों को अधिक व्यावहारिक और जीवनोपयोगी बनाएगा। □

अनुवादक का दायित्व

—जय नारायण तिवारी*

भारत एक ऐसा देश है जिसमें भाँति-भाँति के लोग, तरह-तरह के धर्म वाले लोग, विविध भाषाएँ बोलने वाले लोग और विभिन्न विचारधाराओं वाले लोग मिलकर रहते हैं और ऐसा लगता है जैसे इस सम्पूर्ण विविधता के पीछे कोई एकता अवश्य है। देश की राजभाषा का स्वरूप निर्धारित करते समय, इस एकता के सूत्र का ध्यान रखना आवश्यक है।

स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजी राज में भाषा की समस्या भिन्न ढंग से सुलझाई गई थी। उन्होंने तो अंग्रेजी को राजकाज की भाषा के रूप में थोप दिया था। उन्हें इससे कोई मतलब नहीं था कि जन-साधारण राजकाज में हिस्सा ले या न ले। उनको तो केवल कुछ थोड़े से ऐसे लोग चाहिए थे जो राजकाज में उनकी सहायता कर सकें, कार्यालयों का काम कर सकें और उनकी नीतियों का अनुसरण करके शासन चला सकें। जिन थोड़े से लोगों की इस काम के लिए आवश्यकता थी उन्हें अंग्रेजी सिखाने के लिए स्कूल और कालेज खोल दिए गए। इनमें शिक्षा पाकर आने वाले भारतीय शासक-वर्ग की सहायता करने लगे। भारत आजाद हुआ तो हमको विरासत में इसी प्रकार का शासन मिला जिसमें अंग्रेजी राजभाषा थी।

राजभाषा और जनता

परन्तु स्वाधीनता के बाद हमारे देश का राजनैतिक ढाँचा बदल गया। हमारे कर्णधारों ने जो योजना बनाई वह इस आधार पर थी कि देश में लोकतंत्र होगा और ऐसा शासन होगा जिसमें समाज के सभी लोग हिस्सा ले सकें, सभी लोग अपनी बात शासन तक पहुँचा सकें। यह तभी सम्भव है जब राजकाज की भाषा ऐसी भाषा हो जिसे जनता का काफी अधिक भाग समझ और बोल सके। यह लोकतंत्र का एक मूलभूत सिद्धांत है जिसे हमारे देश ने अपनाया और क्योंकि अंग्रेजी के जानने वालों की संख्या बहुत ही छोटी है, यह स्वाभाविक था कि संघ के राजकाज के लिए स्वतंत्र भारत में किसी भारतीय भाषा को स्वीकार किया जाता।

महात्मा गांधी ने तो स्वतंत्रता प्राप्त होते ही कह दिया कि छः मास में अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं का प्रयोग शुरू कर दिया जाना चाहिए। शायद ऐसा कर दिया गया होता तो अब तक सफलता भी मिल गई होती। परन्तु अधिकतर लोगों को लगा कि तत्काल अंग्रेजी को हटाने से कई कठिनाइयाँ आएँगी। इसलिए संविधान में व्यवस्था हुई कि अंग्रेजी को 15 वर्ष तक और राजकाज की भाषा बना रहने दिया जाए।

संपर्क भाषा

अंग्रेजी हमारे दो काम करती थी—एक राजभाषा का और दूसरा लिंक लैंग्वेज अर्थात सम्पर्क भाषा का। यह बात जाहिर है कि हिंदी हिंदुस्तान के बहुत बड़े हिस्से में प्रयुक्त होती है और हिन्दुस्तान की काफी अधिक जनता ऐसी है जो हिन्दी को मातृभाषा के रूप में जानती है या उसे बोल-समझ सकती है। फिर भी देश में ऐसे अनेक प्रदेश हैं जहां स्थानीय भाषा ही समझी जाती है। वहां का राजकाज वहां की स्थानीय भाषा में ही चलाया जा सकता है। अतः वहां की राजभाषा हिन्दी नहीं बनाई जा सकती। वहां की स्थानीय भाषा को ही वहां की राजभाषा बनाना अधिक उचित होगा।

फिर भी संपर्क भाषा के रूप में तो हिन्दी का प्रयोग उस समय आवश्यक होगा ही जब केन्द्र में एक भाषा का होना जरूरी है। देश का शासन अनेक भाषाओं में नहीं चलाया जा सकता। चूंकि हिन्दी सबसे ज्यादा लोगों की मातृभाषा थी, और लगभग सारे देश में इसका प्रचार भी है। इसलिए हिन्दी को ही केन्द्र की राजभाषा के रूप में चुना गया। हिन्दी में अंग्रेजी की तुलना में एक और विशेषता यह है कि भारत के हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रदेशों के लोग भी हिन्दी को बहुत सरलता से सीख सकते हैं, अंग्रेजी को उतनी सरलता से नहीं सीख सकते। भारत की अनेक भाषाएं तो संस्कृत से ही निकली हैं जिससे हिन्दी भी निकली है और जो अन्य भाषाएँ संस्कृत से नहीं निकली हैं वे भी संस्कृत की बहुत सारी शब्दावली को अपनाती हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि अंग्रेजी की तुलना में हिन्दी देश के लिए कहीं अधिक सुबोध और सरल है। ऐसी अवस्था में **देश के नेताओं ने देश के लिए जो ढाँचा सोचा था वह यह था कि हिन्दी केन्द्र की राजभाषा और संपर्क भाषा बनाई जाए तथा प्रदेश का काम, अपनी प्रादेशिक भाषाओं में हो। प्रदेशों में जब सारा काम स्थानीय भाषाओं में होगा तो निश्चित ही एक संपर्क भाषा की भी आवश्यकता होगी ओर आज जो काम संपर्क भाषा के रूप में अंग्रेजी कर रही है वह तब हिन्दी को ही करना होगा।**

हमको यह प्रयास करने की आवश्यकता है कि प्रदेशों में प्रादेशिक भाषाएँ पनपें और विकसित हों तथा प्रत्येक काम में राजभाषा के रूप में प्रयुक्त हों। जब देश भर में ऐसा हो जाएगा तो निश्चित ही हिन्दी को भी अपना स्थान मिल जाएगा क्योंकि आपसी पत्र-व्यवहार के लिए, आपस में बातचीत करने के लिए और आपसी संपर्क के लिए एक संपर्क भाषा जरूरी होगी और जाहिर है कि वह भाषा हिन्दी ही हो सकेगी।

खेद है कि हिन्दी के बारे में कुछ लोगों को कुछ संदेह हुआ।

*पूर्व सचिव राजभाषा विभाग

सरकार का यह मंतव्य कभी नहीं रहा है कि अहिंदी भाषी प्रदेशों पर हिन्दी थोपी जाए या कोई ऐसा काम किया जाए जिसके फलस्वरूप हिन्दी-भाषी लोगों को अहिन्दी भाषी लोगों की तुलना में अधिक सुविधा मिल जाए। अपने मंतव्य को स्पष्ट करने के लिए सरकार ने एक कानून बनाकर व्यवस्था भी कर दी है कि अंग्रेजी तब तक जारी रहेगी जब तक गैरहिन्दी प्रदेश के लोग स्वयं यह न कहें कि अब केवल हिन्दी ही केन्द्र सरकार की भाषा हो। जाहिर है कि कुछ समय ऐसा रहेगा जिसमें अंग्रेजी और हिन्दी दोनों केन्द्रीय शासन की भाषाएँ बनी रहेंगी।

यह चर्चा मैंने इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए शुरू की है कि शासन में अनुवाद की आवश्यकता क्यों पड़ती है। अनुवाद की आवश्यकता की पृष्ठभूमि यह है कि अभी काफी समय तक अंग्रेजी और हिन्दी दोनों ही केन्द्रीय शासन की भाषाएँ रहेंगी और अंग्रेजी से हिन्दी और हिन्दी से अंग्रेजी में अनुवाद की आवश्यकता बराबर बनी रहेगी।

अनुवाद की अवश्यकता और भविष्य

अनुवाद की एक और आवश्यकता भी होने वाली है। वह है हिन्दी से अन्य भारतीय भाषाओं और अन्य भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद करने की। यह आवश्यकता तो सदा ही रहेगी। अंग्रेजी के हट जाने पर भी अंग्रेजी और हिन्दी के परस्पर अनुवाद की आवश्यकता तो तब तक के लिए है जब तक केन्द्र में द्विभाषिक स्थिति लागू है। मगर हिन्दी से प्रादेशिक भाषाओं और प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी भाषा में अनुवाद की आवश्यकता स्थाई है।

ये बातें कुछ संक्षेप में कही गई हैं किन्तु उनका महत्व व्यापक है। अतः हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। इस समय संघ सरकार के कामकाज में द्विभाषिक स्थिति चल रही है जिसमें हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रयोग भी किया जा रहा है। किन्तु यह स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक सभी अहिंदी भाषी राज्यों के विधानमंडल द्वारा अंग्रेजी का प्रयोग समाप्त करने के लिए संकल्प पारित नहीं कर दिए जाते। इस अंतराल में संघ सरकार के कार्य व्यापार से संबंधित सभी सांविधिक, असांविधिक और अन्य कार्यालयीन साहित्य के अनुवाद की निरंतर आवश्यकता बनी रहेगी।

जहां तक हिन्दी से प्रादेशिक भाषाओं में और प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद का प्रश्न है यह हमारी राष्ट्रीय एकता की अनिवार्य आवश्यकता है। इस प्रकार के आदान-प्रदान से भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोग एक दूसरे के रहन-सहन, साहित्य और सांस्कृतिक परंपराओं से परिचित हो सकेंगे। उनमें परस्तर एकता और अपनत्व की वृद्धि होगी तथा वे समस्त भारत में जहां भी जो कुछ श्रेष्ठ और महान है, उसे अपनाकर गौरवान्वित हो सकेंगे। इस दृष्टि से इस प्रकार के अनुवाद की बड़ी आवश्यकता है और इसकी परिधि भी बहुत व्यापक है। हमें इस दिशा में गंभीरता से विचार करना चाहिए।

राजभाषा के काम को आगे बढ़ाने के क्षेत्र में निस्संदेह अनुवादकों की विशेष भूमिका रहेगी। ऐसे समय में अनुवादक का यह धर्म है कि वह ऐसी भाषा में अनुवाद करे जिसे वह पाठक भी सरलता से समझ सके जो मूलभाषा को नहीं जानता। जो चीज मूलतः अंग्रेजी में आई है उसको अंग्रेजी न जानने वाले के लिए हिन्दी में अनुवाद ही एकमात्र सहारा होगा। अतः यदि हिन्दी सुबोध रहे तो उसका प्रयोग उपयोगी होगा। इस दृष्टि से अनुवादक की भूमिका अहम है।

अनुवाद के गुण

मेरा विचार है कि साहित्य में अनुवाद का एक महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्य के अनुवाद के विषय में अनेक लोगों ने यहां तक कहा है कि अनुवाद को पढ़ते समय ऐसा लगना चाहिए कि मूल पढ़ा जा रहा है। इसके लिए पहले मूल को पढ़ लेना चाहिए और फिर उसमें आई हुई बात को स्वतंत्र रूप से अनुवाद की भाषा में कह देना चाहिए। ऐसा करने से निस्संदेह भाषा बहुत अच्छी और मौलिक होगी। परन्तु शासन के कुछ ऐसे हिस्से भी हैं, जैसे विधि, न्याय या अन्य कानूनी मामलों से संबंधित, जिनमें अनुवादक को मूल के बहुत निकट रहने का प्रयत्न करना पड़ता है क्योंकि इनमें शुद्धता का अधिकतम ध्यान रखना होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुवाद के दो महत्वपूर्ण अंग हैं—सरलता और शुद्धता। शुद्धता का अर्थ यह है कि जिस चीज का अनुवाद हो रहा है, वह पूरी चीज अनुवाद में सही रूप में आ जाए और अनुवादक के अपने दिमाग से कोई और चीज उसमें न जोड़ी जाए। इस प्रकार शुद्धता के लिए दो चीजें जरूरी है कि आप अपनी ओर से उसमें कुछ जोड़े नहीं और कोई चीज छोड़ें भी नहीं और फिर भी जो चीज़ मूल में है उसको सही-सही रूप में आप अनुवाद में रख दें, यह शुद्धता हुई। मगर अनुवाद को शुद्धता प्रदान करने में यदि आप ऐसी भाषा का प्रयोग कर देते हैं जो किसी की समझ में नहीं आती या जिसके समझने में दुरूहता होती है तो जाहिर है कि उससे दिक्कत पैदा होगी। यही नहीं, ऐसा हिन्दी अनुवाद हिन्दी के प्रति द्वेष की भावना भी पैदा कर सकता है। अतः अनुवाद की सरलता भी महत्वपूर्ण चीज है। तात्पर्य यह है कि अनुवाद सरल तथा सुगम भाषा में हो और उसे पढ़कर लोग यह मानें कि हमारी अपनी भाषा में ही कोई बात कही गई है।

कुछ हद तक शुद्धता और सरलता—ये दोनों चीजें एक दूसरे की विरोधी भी हो सकती हैं। बहुत सरलता का ध्यान रखा जाए तो हो सकता है कि उसमें वह शुद्धता न रह सके जो अपेक्षित है और यदि शुद्धता का बहुत अधिक आग्रह रखा जाए तो संभव है कि कुछ क्लिष्ट शब्द रखने पड़ें। हो सकता है कि कहीं वाक्य विन्यास दोषपूर्ण हो जाए या दुरूह हो जाए **तो सरलता और शुद्धता के बीच किस बात को कहां और कितना महत्व देना है, इस बात का निर्णय अनुवादक को ही करना पड़ता है और इनके बीच में एक विभाजक रेखा खींचनी होती है। यह रेखा खींचना ही वास्तव में एक कला है जिसकी थोड़ी बहुत शिक्षा दी जा सकती है परन्तु जो अधिकतर अभ्यास और अनुवादक की प्रतिभा से आती है।** यदि अनुवादक का ध्यान सदा इस बात पर केंद्रित रहेगा कि उसकी भाषा सरल भी होना चाहिए और शुद्ध भी तो वह ऐसी रेखा को जरूर पकड़ सकेगा। विधि आदि के मामले में जहां शुद्धता पर ज्यादा जोर है वहां थोड़ी बहुत कठिनता चल सकती है, ताकि अदालतों को निर्वचन करने में ऐसा मालूम न पड़े कि हिन्दी में कुछ और लिखा है और अंग्रेजी में कुछ और। कुछ ऐसे विषय भी हो सकते हैं जहां मूल वाक्य विन्यास से काफी छूट लेकर भी बात को सरलता से कहा जा सकता है। पर छूट लेते समय भी इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि मूल की कोई बात छूटे नहीं और अनुवादक अपनी ओर से कुछ जोड़े नहीं। मूल के वाक्य विन्यास से कितनी छूट ली जा सकती है यह निर्णय विषय को देखकर ही करना होता है।

शेष पृष्ठ 83 पर

अनुवाद की समस्याएं

—डा॰ए॰रमेश चौधरी 'आरिगपूडि'*

अनुवाद की समस्याएं तीन प्रकार की हो सकती है। पहली, भाषागत, दूसरी विषयगत, तीसरी विद्यागत। ये ही लेखन की भी समस्याएं हैं।

उत्तर भारतीय भाषाओं में एक असाधारण साम्य है। द्राविड़ कुल की भाषाओं में भी साम्य है, यद्यपि द्राविड़ भाषाओं में भी तमिल कुछ भिन्न है। इसका परिपार्श्व भिन्न है, और इसकी प्रगति भी भिन्न है। उत्तर भारतीय भाषाओं में एक भाषा से दूसरी भाषा में सरलता से अनुवाद संभव है। शब्दों की समानता है। इनमें शायद ही कोई ऐसी भाषागत समस्या हो, जो एक भाषा की तो हो और दूसरी भाषा की न हो।

समस्याएं तब पैदा होती हैं जब उत्तर भारतीय भाषाओं के साहित्य का दाक्षिणात्य भाषाओं में अनुवाद होता है। या दक्षिण की भाषाओं का उत्तर की भाषाओं में। इन भाषाओं की शब्दावली, पदावली भिन्न है। यद्यपि सभी भाषाओं में संस्कृत के समान शब्द काफी संख्या में है। किंतु दाक्षिणात्य भाषाओं में कई ऐसे शब्द हैं, जो किसी भी उत्तर भारतीय भाषाओं में नहीं है।

वाक्य विन्यास में अधिक असाम्य तो नहीं है, पर हर भाषा की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। दाक्षिणात्य भाषाओं में उस तरह सहायक क्रियाएं नहीं है, जिस तरह हिन्दी में है। इससे अर्थ भंग के बिना भाषाओं में असाधारण गठन आ जाता है, और सहायक क्रियाओं के आदी व्यक्तियों के लिए भाषा कुछ सांकेतिक सी लगने लगती है। दाक्षिणात्य भाषाओं का जब एक दूसरे से अनुवाद होता है, तो कोई समस्या नहीं पैदा होती है, क्योंकि इस दृष्टि से सभी दाक्षिणात्य भाषाएं न्यूनाधिक रूप से समान अधिक है, और असमान कम।

कहा जाता है कि सभी दाक्षिणात्य भाषाओं की एक ही समान स्रोत भाषा थी, जिसे द्राविड़ी कहा जाता था। यह कब थी, कैसे इससे चार-पांच भाषाएं बन गई, और बन कर वे कैसे एक-दूसरे से अधिक दूर होती गई, इस बारे में बहुत कम प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध है यद्यपि निष्कर्षात्मक अनुमान बहुत है। कहने का अर्थ यह कि काल प्रवाह में, शब्द एक स्रोतीय होकर भी, भिन्न-भिन्न हो गए है। जो भी हो, इनमें अनुवाद अपेक्षाकृत आसान है, और कोई भी अनूदित सामग्री यदि उसका अनुवाद किसी से अप्रभावित हुए बिना किया जाए, तो कृत्रिम नहीं मालूम होती

लेकिन सभी भारतीय भाषाओं की सम्प्रति भाषागत समस्या कुछ और है। वह है अंग्रेजी के वाक्य विन्यास का अनुसरण, जो अनुवाद के विषय में भारतीय भाषाओं को दुर्बोध बना देता है और प्रायः समझना हमेशा आसान नहीं होता। भारतीय भाषाओं का वाक्य विन्यास एक सा है, पर अंग्रेजी का कुछ और है। वह भारतीय भाषाओं से भिन्न है और जब इसका भारतीय भाषाओं पर प्रभाव आता है, तो ये अपनी प्रकृति से हट जाती है और इनमें विकृति आ जाती है।

यह इसलिए देखा जाता है क्योंकि अधिक अनुवाद अंग्रेजी से ही होता है। भारतीय भाषाओं से भी कभी-कभी अंग्रेजी में अनुवाद होता है। अंग्रेजी में ही अक्सर मूल मसविदा बनता है। अंग्रेजी का सभी भारतीय भाषाओं पर प्रभाव आता है, अनुवाद पर तो सबसे अधिक पड़ता है। यह तब तो और भी आपत्तिजनक हो जाता है, जब अनुवाद नितान्त शाब्दिक हो, और प्रायः अनुवाद मूल के समीप रहने के लिए शाब्दिक ही होते है। भावार्थ की चेष्टा नहीं की जाती क्योंकि उस हालत में अर्थभेद, और अर्थ दोष संभव है।

कभी-कभी ऐसी प्रतीति भी होती है कि अनुवाद मात्र अनुवाद के लिए किया जा रहा है, अनुवाद का भी वही उद्देश्य है जो लेखन का है यानि विचारों की सम्प्रेषणीयता। अनुवादों की कृत्रिमता से यह सम्प्रेषणीयता निश्चय ही अवरुद्ध होती है।

अनुवाद के सिलसिले में एक प्रकार का भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होता रहता है, किस भाषा की कितनी शब्द सम्पदा है, यह प्रकट होता रहता है। पिछली सदियों में, विशेषतः पिछले तीन चार दशकों में, भाषाओं के सामने नई चुनौतियां आई है। कई ऐसी चीजें बन रही है, हो रही है, जिनके लिए बने बनाए शब्द नहीं है, और नए शब्द बनाए जा रही है, और हमेशा ये पारिभाषिक शब्द हों, यह बात भी नहीं है। सभी भाषाएं, बिना एक दूसरे से अधिक लिए, संस्कृत से शब्द ले रही है। और यह भी सोचा जाता है कि इस तरह जहां भारतीय भाषाओं में शब्द संख्या बढ़ेगी, वहां शब्द समानता भी बढ़ेगी। जो भी हो, ये शब्द प्रायः अप्रचलित होते है। इसलिए कृत्रिम लगते हैं, और अनुवाद की भाषा को भी कृत्रिम करके दुर्बोध बना देते हैं। यह प्रवृत्ति सभी भाषाओं में देखी जा रही है सिवाय तमिल के।

यह एक प्रकार का, जहां तक शब्दों का संबंध है, पुरातनीकरण ही है। तमिल में यह पुरातनीकरण एक और तरह से हो रहा है। तमिल अप्रचलित पुराने शब्दों को दे ले रही है। यही नहीं तमिल में ये संस्कृत के शब्द तद्भव रूप में ही आ सकते हैं। अर्थ समान होते हुए भी, उनमें ध्वन्यंतर आ जाता है। दाक्षिणात्य भाषाओं में, जहां संस्कृत के शब्द हो, वहां उनके समानार्थी द्राविड़ शब्द भी हैं। कई के नहीं भी हैं। कहना न होगा कि वे संस्कृत से ही अधिक शब्द ले रही हैं।

अंग्रेजी के प्रभाव से एवं संस्कृत से संबंधित पुरातनवाद से, भाषा क्लिष्ट और कठिन होती जा रही है। अतः आश्चर्य नहीं कि यदि अनूदित साहित्य कम पढ़ा जाता हो। प्रायः सभी भाषाओं में आधुनिक युग की आवश्यकताओं और सम्प्रेषण के आविष्कारों के कारण लिखित शब्द और भाषित शब्द में अंतर कम होता जा रहा है। लेकिन जहां तक अनुवाद का प्रश्न है, मुझे भय है, यह अंतर बढ़ रहा है। इस कारण इसकी उपयोगिता सीमित हो रही है। क्या सुगम अनुवाद सम्भव है? हां, यदि अनुवाद को भी, अर्थ को सुरक्षित रखते हुए स्वतंत्र लेखन समझा जाए।

कोई ऐसा विषय नहीं है, जो एक भाषा में लिखा जा सके, और उसका दूसरी भाषा में अनुवाद न हो सके। पर हर विषय की अपनी-अपनी विशेषता है, यदि किसी में यथार्थ विशुद्ध होने की आवश्यकता है, तो किसी में भावार्थ ही पर्याप्त है।

उपन्यास और कथाओं का अनुवाद कदाचित एक दृष्टि से सबसे आसान है। किन्तु इसकी भी कठिनाइयां हैं। जो एक भाषा में उत्तम शैली समझी जाती है, या जिसे शैलीगत प्रवाह कहा जाता है, वह दूसरी भाषा में ठीक वैसा ही हो, यह हमेशा नहीं देखा जाता, जब कि आवश्यक है कि अनुवाद में भी भाषा और कथाप्रवाह सुरक्षित रहे। यदि भाषा ही अटक कर चले, तो अच्छे से अच्छा उपन्यास भी अनूदित होकर नीरस हो सकता है, और इस प्रवाह का लाना सिद्धहस्त लेखक के लिए ही संभव है अनुवाद में मूल की स्वाभाविकता को ढालना सरल कार्य नहीं है।

चूंकि भारतीय जीवन मोटे तौर पर एक-सा है, और भाषाओं में भी साम्य अधिक है, उपन्यासों में अनुवाद की समस्या इतनी भयंकर नहीं है, कि उनका सामाधान न हो सके। शायद यही कारण है कि उपन्यास ही अधिक अनूदित होते हैं, और प्रकाशित होते है। वे पढ़े तो जाने चाहिएं, पर आश्चर्य है, कि वे उतने पढ़े नहीं जाते।

यही बात कहानियों की है। यदि अनुवाद में अपना प्रवाह हो, अपनी स्वाभाविकता हो, तो प्रायः उसकी मूल से तुलना नहीं की जाती। ऐसे भी कम लोग हैं, त्रिभाषा सूत्र के बावजूद, जो दोनों भाषाएं जानते हों। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि अनुवादक और जिम्मेवारी बरतें क्योंकि मूल लेखक की ख्याति और अपख्याति उसके प्रयत्न पर निर्भर है।

यह समस्या बल खाती है, जब वैज्ञानिक विषयों का अनुवाद होता है। यहां भाषा का ठीक और सही होना आवश्यक है, भले ही उसमे ललित साहित्य का सौंदर्य न हो। यह भी आवश्यक है कि पारिभाषिक शब्दों के होते हुए भी वह सुबोध हो।

पिछले दिनों पारिभाषिक शब्द बहुत से बने है। निरंतर बन रहे हैं। कई पारिभाषिक शब्दों के कोश भी बन गए हैं। हर भाषा में नए-नए पारिभाषिक शब्द बन रहे हैं, और उनका प्रायः स्रोत भी एक है—संस्कृत। इसलिए वे एक हो सकते है, होने भी चाहिए। कुछ है भी, पर कुछ नहीं है। एक भाषा के पारिभाषिक शब्द दूसरी भाषा के भी उसी अर्थ में पारिभाषिक शब्द होंगे, यह कहना कठिन है। पारिभाषिक शब्दों का अशुद्ध उपयोग भी प्रायः होता है।

किसी भी विज्ञान का विषय बिना पारिभाषिक पदावली के नहीं लिखा जाता। इसलिए आवश्यक है कि पारिभाषिक पदावली एक रूप हो, समान हो। जिस तरह और जिनके द्वारा ये बनाए जा रहे हैं, वे इस पर आवश्यक ध्यान नहीं दे पाते। यही कारण है कि पदावली बन तो रही है, वह उपयुक्त भी हो रही है, पर शायद वह समुचित मात्रा में स्वीकृत नहीं हो रही है।

यह एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने का ही प्रश्न नहीं है। इन विषयों पर अधिकारी लेखक होने के लिए अंग्रेजी का ज्ञान भी आवश्यक है। और यह भी आवश्यक है कि तीन भाषाओं में करीब-करीब समान अधिकार हो—दो भारतीय भाषाओं का, और तीसरी अंग्रेजी का। मैं यह कहने का कोशिश कर रहा हूं बिना अंग्रेजी पदावली के भारतीय पदावली चल नहीं पा रही है। इस तरह अनुवाद एक प्रकार की खिचड़ी हो जाती है और अनूदित समाग्री की पठनीयता सीमित हो जाती है जबकि पठनीयता बनाए रखना अनुवाद की ही समस्या है।

कहा जाता है कि अच्छी कविता में करना अनुवाद असंभव है। अनुवाद में कोई कविता तभी तक अच्छी लगती है जब तक कोई मूल भाषा नहीं जानता है। ये बातें सर्वथा असत्य भी नहीं है।

कविता का भी अनुवाद होता आया है, और अच्छी कविता का भी अनुवाद हुआ है। अनुवाद का आस्वादन चूंकि अनूदित भाषा की परम्परा और पृष्ठभूमि में होता है न कि मूल भाषा के आधार पर तो कविता का आनन्द भी अनुवाद में प्राय उसी तरह रहता है जिस तरह मूल भाषा-भाषी के लिए अपनी भाषा में। पर कविता का अनुवाद समस्या ही है।

आजकल गद्य का युग है। लेकिन कविता अब भी काफी लिखी जाती है। कविता की विधा चूंकि अत्यन्त प्राचीन है, इसी में सबसे अधिक विधागत परिवर्तन आए हैं, और आज मुक्त छंद में कविता गद्य के अधिक समीप आ गई है, इसलिए यह समस्या उतनी नहीं रह गई है। समस्या तो यह है कि कविता का अनुवाद ही कम होने लगा है।

कविता गद्य के समीप आ गई हो, और संगीत से दूर चली गई हो, किन्तु इसका अपना लय है। और एक भाषा का लय, प्रायः ध्वनिगत होता है, दूसरी भाषा में लाना कठिन है। प्रतीक और बिम्ब विधान हर भाषा का अपना होता है। इसको उसी रूप में दूसरा भाषा में बिठाना कष्ट-साध्य कार्य है। कविता चिन्तन प्रधान हो रही है, यह भाषागत पारम्परिक अलंकारबद्ध सौंदर्य से ऊपर उठ रही है, और सांकेतिक होकर, प्रायः अनुवाद के लिए कठिनाई पैदा करती है।

कविता का इस स्थिति में अनुवाद क्यों हो? क्योंकि कविता में वे सब बातें आती हैं, जो गद्य में आती है, पर वे बातें भी आती हैं, जो गद्य में उतनी सरलता से आ नहीं पातीं—अंतर के भावुक चित्र, अंतर के अमूर्त भावों के सांकेतिक, प्रतीकात्मक चित्र। चूंकि वर्तमान कविता में इनका हो बाहुल्य है, इसलिए इनका अनुवाद कठिन है।

जो भी हो, अनुवाद तो हर विधा के होने चाहिएं, हर भाषा से होने चाहिएं। साहित्यिक प्रगति के लिए न सही, भावात्मक समन्वय के लिए ही सही, बढ़ती क्षेत्रीय संकीर्णता को रोकने के लिए ही सही। पर यह हो नहीं रहा है। कितनी ही समस्याएं इसके साथ जुड़ी हुई है। अनुवाद की समस्या जहां मुख्य है, वहां प्रकाशन की समस्या भी मुख्य है। वितरण और विक्रय इन सबसे अधिक मुख्य है।

लेखक एक समय में एक ही भाषा में लिखता है, और वह एक ही भाषा जानता हो, तो उसके लेखन में बाधा होने को आशंका नहीं है। लेकिन अनुवादक को एक साथ दो भाषाओं में समान निपुण होना होता है, और ऐसे सशक्त अनुवादकों का पाना इस बहुभाषा-भाषी देश में अब एक समस्या है।

हिंदी की प्रतिष्ठा वृद्धि में अहिंदी भाषियों का योगदान

—डा० शिवसागर मिश्र*

भारत एक विविध भाषा-भाषी महादेश है जिसके करोड़ों निवासी सदियों से एक साथ प्रेम और सद्भाव के साथ रहते आ रहे हैं। इस विशाल देश को एक छोर से दूसरे छोर तक देखने पर पता चलेगा कि इसके निवासियों के आचार-व्यवहार, बोलचाल और जीवन-दर्शन में एकरूपता तथा एकसूत्रता है और निरन्तर प्रवहमान समान सामासिक संस्कृति है जो उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम को आबद्ध करती रही है। यह समरसता पैदा करने का श्रेय मुख्यतः भाषा को है जिसके अनेक ऐतिहासिक, आध्यात्मिक एवं भावनात्मक कारण हैं। भाषा ने सदैव राष्ट्रीय एकता, पारस्परिक सद्भावना और सौहार्दपूर्ण संबंधों को पुष्ट किया है। यह क्रम निरंतर चला आ रहा है। इसके कृतित्व, उपयोग और प्रभाव में आज भी कोई अन्तर नहीं आया है।

अतीत में न जाने कब से हमारे तीर्थ धामों के सम्पर्क की एक भाषा रही है। हमारे देश के चारों कोनों पर चारों धाम ज्योतिर्मय प्रकाश स्तम्भ की तरह प्राचीन काल से देदीप्यमान है। द्वारिका, बद्रीनाथ, रामेश्वरम् और पुरी जैसे भारत के सुदूर छोरों पर प्रतिष्ठित तीर्थ धाम सदियों से यात्रियों, आगन्तुकों और सैलानियों के आकर्षण केन्द्र बने रहे हैं। यह शाश्वत कड़ी पुरातन काल से विद्यमान है और प्रतिवर्ष आने-जाने वाले असंख्य तीर्थयात्रियों को भाषा के कारण कभी कोई असुविधा नहीं है। स्पष्ट है कि भारतीय अध्यात्म, संस्कृति एवं इतिहास ने अनजाने ही भाषा की कड़ी को पुष्ट किया है और उसे राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया है, जिससे देश की एकसूत्रता बनी रह सकी और वह विदेशी थपेड़ों को सह सका।

राष्ट्र और काल की आवश्यकताओं के अनुसार भाषा का स्वरूप बदलता रहा है। किसी युग में संस्कृत परस्पर आदान-प्रदान की भाषा थी। कालांतर में भाषा के स्वरूप में परिवर्तन के साथ हिंदी का रूप निखरता गया और उसकी मान्यता एवं ग्राह्यता बढ़ती गई। फिर भी, इतिहास साक्षी है कि हिंदी किसी खास प्रदेश की मातृभाषा कभी नहीं रही जैसे कि मराठी, बंगला, गुजराती, तमिल, तेलुगू, मलयालम आदि भाषाएं हैं। संयोगवश हिंदी जिन प्रदेशों की मातृभाषा समझी जाती है, वस्तुतः उनकी मातृभाषा स्थानीय बोलियां, जैसे अवधी, भोजपुरी, ब्रज, मैथिली आदि हैं। सच तो यह है कि हिंदी लोक शक्ति से उभरी हुई जन-भाषा है जिसका क्षेत्र किसी एक-दो या चार प्रदेशों तक सीमित नहीं है। इस तथ्य को हमारे संतो, महात्माओं और मनीषियों ने बहुत पहले ही समझ लिया था और अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए हिंदी को माध्यम बनाया था। यह भी उल्लेखनीय है कि हिंदी को सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित करने में अहिंदी भाषी समाज-सेवियों, विचारकों और संत-कवियों का प्रमुख हाथ रहा है। हमारे संत महात्मा चाहे महाराष्ट्र के रहे हों या बंगाल के, गुजरात के रहे हों या पंजाब के, उन्होंने सारे देश में घूम-घूम कर लोगों के साथ सत्संग किया और अपने विचारों को हिंदी में व्यक्त कर उसे राष्ट्रीय स्वरुप प्रदान किया।

*पूर्व निदेशक (राज भाषा) रेल मंत्रालय

सदियों प्राचीन पृष्ठभूमि

कहते हैं कि मोहममद बिन कासिम ने जब आठवीं सदी में सिंध पर विजय प्राप्त की तो वहां राजकाज का लेखा-जोखा हिंदी में रखा जाता था। दसवीं सदी के आसपास गोसाई भाषा के रूप में हिंदी धुर दक्षिण में रामेश्वरम् धाम और कन्याकुमारी तक पहुंच चुकी थी। जैन साधुओं और नाथ पंथियों ने अपने मतों के प्रवर्तन के लिए हिंदी का प्रयोग किया। इसी के आसपास महाराष्ट्र के महानुभाव पंथ और बाद में बारकरी पंथ के नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम आदि संतों ने हिंदी में पद रचनाएं कीं। यह क्रम ग्यारहवीं से चौदहवीं सदी तक निरंतर चलता रहा। सन् 1296 में अलाउद्दीन खिलजी ने जब दक्षिण पर विजय की तब उसके साथ जो तमाम लोग दक्षिण गए वे अपने साथ एक भाषा भी ले गए जिसे हिंदवी कहा गया। बाद में यह दक्खिनी के नाम से प्रचलित हुई और लगभग 600 वर्षों तक राजकाज की भाषा बनी रही।

बादशाह की मदद के लिए फ़ारसी नवीस के साथ हिंदी नवीस भी रखा जाता था। अलाउद्दीन खिलजी ने खुसरो की सहायता से "खालिकबारी" पुस्तक भी तैयार कराई थी जिसमें हिंदी, पंजाबी और ब्रजभाषा के शब्दों के फ़ारसी तथा अरबी पर्याय संकलित किए गए थे। "खालिकबारी" की प्रतियां गांवों और शहरों में वितरित कराई गई थी। कश्मीर के शासक जैनुलआबदीन और मुगल बादशाह हिंदी को बढ़ावा देने में अग्रणी थे। महाराष्ट्र में पेशवाराज के समय में भी हिंदी का प्रचार जोरों पर रहा।

अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद विदेशी शासकों ने यह अनुभव किया कि जनता की भाषा को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यद्यपि उन दिनों अदालतों की भाषा फारसी थी लेकिन दूसरी भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग भी होता था। जो आदेश, सूचनाएं, आदि फारसी में जारी की जाती थीं, उनका हिंदी अनुवाद भी अनिवार्य रूप से तैयार किया जाता था। बाद मे जब अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों की स्थापना होने लगी तो हिंदी की स्थिति नगण्य होती चली गई। कतिपय अंग्रेज न्यायाधीशों और विचारकों ने उसी समय कहा था कि अंग्रेजी के प्रयोग के विरुद्ध भी वही आवाज उठाई जा सकती है जो फारसी के विरुद्ध उठाई जाती रही है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में यह मांग जोर पकड़ने लगी कि अदालतों और दफ्तरों में फारसी लिपि के बजाए देवनागरी को मान्यता दी जाए। इसके फलस्वरुप बंगाल सरकार ने पटना और छोटा नागपुर की अदालतों में सभी प्रकार की विज्ञप्तियां और सूचनाएं हिंदी भाषा में जारी करने का आदेश दिया। सरकारी रिपोर्टें भी हिंदी में तैयार होने लगीं और जनता को हिंदी में याचिकाएं भेजने की अनुमति दी गई। पुलिस अफसरों को भी हिंदी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा गया।

आधुनिक युग मे जब देश की आजादी की लड़ाई छेड़ी गई तो

उससे भी काफी पहले जन-चेतना की सृष्टि के लिए भाषा की महत्ता समझी गई। इसके लिए सर्वप्रथम आवाज़ उठाने वाले बंगाल के अनेक मनीषी और समाज-सुधारक थे, जिन्होंने हिंदी के देशव्यापी स्वरुप को परखा और इसके लिए आंदोलन शुरू किया। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर, राजा राममोहन राय, आचार्य केशव चन्द्र सेन, सर गुरुदास चटर्जी, श्री रमेश चन्द्र दत्त, जस्टिस शारदाचरण मित्र, प्रभृति विचारकों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। राजा राममोहन राय ने 1826 में "बंगदूत" के प्रकाशन का आयोजन किया था जिसमे हिंदी के लिए कई पृष्ठ निर्धारित थे। यह उनकी दूरदर्शिता का प्रमाण था कि उन्होंने हिंदी के भविष्य को इतना पहले आंक लिया था।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में मराठी साहित्य परिषद् ने हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित किया और- लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, डाक्टर भंडारकर, रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य, आदि ने इसे संशक्त समर्थन प्रदान किया। हिंदी का सौभाग्य है कि उसे मां भारती के गणमान्य पुत्रों की मेधा शक्ति और विलक्षण प्रतिभा का लाभ प्राप्त हुआ है। इस संदर्भ में अहिंदी भाषी क्षेत्रों के सुविज्ञ साहित्यकारों और समाज-सुधारकों, जैसे श्री सुब्रहमण्यम अय्यर, श्रीनिवासाचार्य, सुब्रहमण्यम् भारती, कुंचन नम्बियार, राजा स्वाति तिरुमाल, नवीन चंद्र राय, रामानन्द और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का उल्लेख किया जा सकता है।

राष्ट्रीय जागरण के स्वर

देश का स्वातंत्र्य संग्राम छेड़ने से पूर्व महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में सार्वजनिक कार्य करते समय ही यह अनुभव कर लिया था कि वहां के भारतीय कामगर मजदूरों की एक भाषा है जो हिंदी के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा नहीं और जिसका प्रयोग जन-कार्यों की सुविधा के लिए सुगमता के साथ किया जा सकता है। महात्मा गांधी ने कहा था कि "अंग्रेजी जनता की भाषा कभी नहीं बन पाएगी क्योंकि देश के लगभग एक प्रतिशत लोग ही अंग्रेजी समझते हैं जबकि 60 प्रतिशत से अधिक जनता हिंदुस्तानी समझती है।" महात्मा गांधी ने सारे देश के भ्रमण से प्राप्त अनुभव के बाद पूना के कुछ प्रोफेसरों से विचार-विमर्श के समय बताया था कि पढ़े-लिखे भारतीय को हिंदी सीखने में कितना समय लग सकता है? उनका अनुभव था कि दक्षिण भारतीय इस भाषा को 6 महीने में और उत्तर भारतीय तीन महीने में सीख सकता है जबकि अंग्रेजी सीखने मे 6 वर्ष का समय लगता है। महात्मा गांधी के विचार एवं आदर्श जनता के बीच कार्य और उससे प्राप्त अनुभवों से उद्भूत होते थे। इस प्रसंग में हिंदी की लोकप्रियता की वास्तविकता महात्मा गांधी के सामने थी। इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमों के साथ हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्यक्रम भी अपने हाथ में लिया। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा उनकी निष्ठा और विश्वास का प्रमाण है जिसके गठन के लिए उन्होंने अपने पुत्र श्री देवदास गांधी को मद्रास भेजा था। हिंदी हमारे स्वातंत्र्त आंदोलन का मूल स्वर बन गई और उसके गाने, तराने और नारे एक स्वर से सारे देश में गूंजने लगे। हिंदी ने हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सदैव ऊंचे धरातल पर रखा और हमें एकजुट होकर विदेशी, आक्रामक और नृशंस शक्तियों से निपटने की शक्ति दी।

भाषा वह माध्यम है जिसके सहारे राष्ट्र की विभिन्न जातियों, वर्गों, समुदायों और क्षेत्रों की समस्याओं, विचारों और भावनाओं को एक-दूसरे तक पहुंचाया जा सकता है। यही वह सेतु है जो एक-दूसरे को सम्पृक्त करता है। निस्संदेह हिंदी किसी प्रदेश विशेष की मातृभाषा नहीं है और सम्भवतः इस कारण उसे सहज ही राष्ट्रभाषा का स्वरूप भी प्राप्त हो गया है। जिस प्रकार भारत की संस्कृति को सामासिक संस्कृति कहा जाता है क्योंकि उसका प्रादुर्भाव विभिन्न जातियों, वर्गों, धर्मों, समुदायों, पथों और मत-मतांतरों के पारस्परिक आदान-प्रदान से हुआ है, उसी प्रकार हिंदी एक ऐसी गंगा है जिसे विभिन्न समृद्ध बोलियों और भाषाओं की धाराओं ने मिलकर सम्पुष्ट किया है। जिस भाषा ने देश की राष्ट्रीयता के ताने-बाने को बुना, जिसने समय के उतार-चढ़ाव को अपने दामन में संजोया और जिसका अतीत निश्चय ही गौरवपूर्ण रहा है, उस भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए आज हमें पैरवी करनी पड़े, यह दुर्भाग्यपूर्ण है। मेरा विश्वास है कि लोक-शक्ति ही राष्ट्र की वास्तविक शक्ति है और जिस भाषा को यह सशक्त आधार प्राप्त है उसे अपदस्थ नहीं किया जा सकता। आज जब विश्व के अनेक देशों और वहां के विश्वविद्यालयों में हिंदी के पठन-पाठन तथा अध्ययन एवं अनुसंधान के प्रति उत्साह है, अपने ही देश में हिंदी के प्रति उदासीनता वस्तुतः चिंताजनक ही नहीं कष्टकर भी है।

विशिष्ट मानसिकता का प्रश्न

ऐसा प्रतीत होता है कि हम आज भी कहीं विदेशी प्रभुता की विशिष्ट मानसिकता से बंधे हुए हैं और कुछ थोड़े से अंग्रेजी पढ़े-लिखे सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों की सुविधा के लिए जन-मानस और उसकी भावनाओं की उपेक्षा कर रहे हैं। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जिन अधिकारियों ने अंग्रेजी माध्यम से अपना अध्ययन पूरा किया है उन्हें हिंदी में काम करने में कठिनाई हो सकती है। अनेक तकनीकी, वैज्ञानिक एवं वाणिज्यिक संगठनों में, जहां हिंदी न जानने वाले अधिकारियों का बाहुल्य है, अकस्मात् हिंदी मे काम करने में असुविधा हो सकता है। लेकिन इस कारण ही उनका सारा कामकाज अनिश्चित काल तक अंग्रेजी में चलता रहे, यह तर्कसंगत और संविधान सम्मत नहीं है। हिंदी के प्रयोग के बारे में हिंदी न जानने वालों के साथ कभी कोई जोर-जबर्दस्ती की गई हो, इसका एक भी पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सरकारी नौकरी में प्रवेश पाने के लिए हिंदी का अनिवार्य ज्ञान अपेक्षित नहीं है। हां, नौकरी में आने के बाद उनसे यह अपेक्षा जरूर की जाती है कि वे हिंदी सीख लें। हालांकि, हिंदी सीखने के बाद भी उन्हें इस बात के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता कि वे हिंदी में काम भी करें। बेशक हिंदी के अपेक्षित ज्ञान के आधार पर वे अग्रिम वेतन-वृद्धि जैसे लाभ जरूर उठा लेते हैं।

हिंदी मे काम करने की जिम्मेवारी वस्तुतः उन मुट्ठी भर कर्मचारियों की समझी जाती है जो हिंदी के काम के लिए नियुक्त किए जाते हैं। इस मौलिक तथ्य को भुला दिया जाता है कि बड़े-बड़े विभागों और मंत्रालयों का सारा काम कुछ थोड़े-से कर्मचारी कैसे कर सकते हैं? इसका नतीजा यह हुआ कि हिंदी से संबंधित कागज-पत्र हिंदी अनुभाग को भेज कर निश्चित हो जाने की परंपरा चल पड़ी। सरकारी कार्यालयों में हिंदी केवल अनुवाद की भाषा बनकर रह गई और जो हिंदी सामने आई उसमें कृत्रिमता, दुरूहता और अटपटेपन के ही दर्शन हुए जिसे सुनने और समझने वालों को न केवल खीझ हुई वरन् उपहासास्पद भी लगा। राजभाषा नियम, 1976, में यह स्पष्ट व्यवस्था है कि हिंदी में काम के बारे में संवैधानिक अपेक्षाओं के अनुपालन की जिम्मेवारी कागजात पर हस्ताक्षर करने वाले प्रशासनिक अधिकारियों एवं विभागाध्यक्षों की है, किन्तु इस दायित्व का पूरी तौर पर निर्वाह नहीं किया जा रहा है। इस कारण हिंदी के प्रयोग-प्रसार में अवरोध उत्पन्न हुआ है। यह स्थिति न केवल रेलों वरन् अन्य सरकारी विभागों और मंत्रालयों के बारे में भी समान रूप से सही है।

विधि के क्षेत्र में हिन्दी

—शांति भूषण*

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी का प्रयोग प्रशासन के क्षेत्र में धीरे-धीरे बढ़ा है। गांधी जी यह कहा करते थे कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए। शिक्षा शास्त्रियों का भी यही कहना है कि मातृभाषा के माध्यम से बड़ी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है। विभिन्न राज्यों ने इसलिए इस दिशा में कुछ कदम उठाए हैं। हिन्दी अब विभिन्न राज्यों में कला और वाणिज्य के क्षेत्र में उच्चतम शिक्षा है। विज्ञान के क्षेत्र में भी अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देने की सुविधाएं उपलब्ध हैं।

विधि के क्षेत्र में अखिल भारतीय स्तर पर भाषा में एकरुपता रहे यह विचार करते हुए राजभाषा आयोग ने यह सिफारिश की थी कि ऐसी अखिल भारतीय शब्दावली का विकास किया जाए। आयोग की इस सिफ़ारिश को भारत सरकार ने स्वीकार किया और 1960 में राष्ट्रपति ने जो आदेश निकाला था उसमें इस बात का साफ-साफ शब्दों में उल्लेख भी किया गया था। इस शब्दावली का विकास हो चुका है। विकास करते समय इस बात का बहुत ध्यान रखा गया है कि स्वीकृत शब्द इस प्रकार के हों जो भारत की अधिकांश भाषाओं में अपनाए जा सकें। पहले तो प्रयत्न यही होता है कि साधारण बोल-चाल के शब्दों को स्वीकार कर लिया जाए। किन्तु यदि बोल-चाल के कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका अखिल भारतीय स्तर पर चलन संभव न हो सके तो उन्हें छोड़कर दूसरे शब्द अपनाने पड़ते हैं। संविधान के अनुच्छेद 351 में निदेश है कि शब्द मुख्यतः संस्कृत से लिए जाएं। इसके पीछे कारण यह है कि संस्कृत की शब्दावली अधिकांश भाषाओं में घुलमिल गई है और जब संस्कृत से शब्द लिए जाते हैं तो स्वभावतः वे दूसरी भाषाओं के लिए भी अपरिचित नहीं होते तथा दूसरी भाषाओं में भी शीघ्र पच भी जाते हैं। संविधान में एक दूसरा निदेश यह भी है कि कुछ शब्द अन्य भारतीय भाषाओं से भी लिए जाएं। इस बातों के साथ साथ विधि में यह भी ध्यान में रखना होता है कि विधि की बारीकियों को सही-सही और ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का माध्यम सशक्त होना चाहिए। विधि में evidence और Proof में अन्तर होता है। इसी प्रकार abduction और Kindnapping में भी हमारी दण्ड संहिता में अन्तर किया गया है। Law, Act, Ordinance, Rule, Regulation, Bye-Law ये शब्द एक-दूसरे से भिन्न हैं और हमें इन सब के लिए अलग-अलग शब्द रखने की आवश्यकता होती है। साथ ही शब्द स्वीकार करते समय यह भी देखना होता है कि वह शब्द ऐसा हो जिससे अन्य शब्दों की रचना की जा सके। जैसे अंग्रेजी में Law से legal, ligalise, illegal, illicit, legilmate, illegimate lawful, unlawful, आदि अनेक शब्द बनते हैं। हमने भी हिन्दी में इसलिए 'विधि' शब्द रखा है जिससे इसी प्रकार अन्य शब्दों की उत्पत्ति हो सकती है।

अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों से विधि का हिन्दी में परहेज नहीं किया गया है। अनेक शब्द जो सम्पूर्ण भारत में न्यायालयों में प्रयोग किए जाते है, हिन्दी में अपना लिए गए हैं, जैसे 'मजिस्ट्रेट', 'समन', वारण्ट, 'पेंशन', 'फीस, 'न्यूसेंस', 'डिक्री', 'शेयर', 'प्रोबेट', 'अपील', 'पालिसी', 'रेल', 'टेरिफ़', 'रजिस्ट्रार', 'बैंक', चैक', आदि।

फारसी और अरबी मूल के भी बहुत से शब्द रखे गए हैं, जैसे 'अर्जी', 'वसीयत', असल, आमदनी, इनकार, हाजिरी, जमानत, तामील, 'इजाजत', 'कसूर', 'कार्रवाई आदि।

यह शब्दावली अब स्थिर हो चुकी है। हिन्दी-भाषी राज्यों ने इसे पूरी तरह से स्वीकार कर लिया है और अन्य राज्यों में उनकी भाषा के स्वभाव को देखते हुए इसे बहुत अधिक मात्रा में अपनाया गया है।

शब्दावली का विकास होने के साथ-साथ राजभाषा अधिनियम की धारा 5 के अधीन केन्द्रीय अधिनियमों के हिन्दी में प्राधिकृत पाठ के प्रकाश का काम भी बहुत आगे बढ़ चुका है। यह प्रयत्न किया जा रहा है कि सभी अधिनियमों का अनुवाद शीघ्रातिशीघ्र समाप्त हो जाए। जिन अधिनियमों का प्रयोग अधिक होता है उनके लिए हिन्दी-अंग्रेजी की द्विभाषीय संस्करण निकाले जाते हैं। इस प्रकार के संस्करणों के उपयोग में सभी को सुविधा रहती है, विशेषकर विधि व्यवसायी वर्ग में।

किन्तु एक बात इधर मेरे ध्यान में आई है जिसकी और मैं सभी का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। जब हिन्दी में राष्ट्रपति के प्राधिकार से किसी केन्द्रीय अधिनियम का अनुवाद प्रकाशित हो जाता है तो वह प्रकाशित होते ही हिन्दी में प्राधिकृत पाठ बन जाता है। ऐसी ही प्रक्रिया राज्यों के विधान मण्डलों में अंनुच्छेद 348 के अधीन होती है। जिन राज्यों की भाषा अंग्रेजी नहीं है अर्थात् हिन्दी या कोई अन्य भाषा है वे जब कोई अधिनियम अपने राज्य की भाषा में बनाते हैं तब राज्यपाल के प्राधिकार से अंग्रेजी में उसका अनुवाद प्रकाशित किए जाने पर वह अनुवाद उसका प्राधिकतृत पाठ बन जाता है। न्यायालय अपने निर्णय हिन्दी या अंग्रेजी या किसी भी अन्य भाषा में जो प्राधिकृत पाठ है उसी के आधार पर दे सकते हैं। कभी-कभी हिन्दी के बारे में लोगो को भ्रम होता है। यदि प्राधिकृत पाठ उपलब्ध है तो उसका अनुवाद नहीं किया जाना चाहिए। हिन्दी के प्राधिकृत पाठ हिन्दी में प्रकाशित हो जाता है। तब अनुवाद करने की आवश्यकता नहीं रहती। यही नहीं, अनुवाद करना मेरे विचार से गलत है, क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो अनेक न्यायालय और अनेक वकील अपना-अपना अनुवाद करते रहेंगे जिससे भ्रम होगा और गल्तियां होने की सम्भावना बहुत बढ़ जाएगी। जब हिन्दी का प्राधिकृत पाठ उपलब्ध है तो केवल उसी का पाठ का उपयोग होना चाहिए, उसी भाषा का, और उसी शब्दावली का। Indian Code Penal का हिंदी का नाम 'भारतीय दण्ड संहिता' है तो इसी नाम का प्रयोग किया जाना चाहिए। Theft को

* पूर्व विधि, न्याय और कम्पनी कार्य मंत्री

उसमें 'चोरी' कहा गया है तो उस अपराध का उल्लेख करने के लिए 'चोरी' शब्द का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। Magistrate को यदि हिन्दी के प्राधिकृत पाठ में 'मजिस्ट्रेट' कहा गया है तो उसके स्थान पर 'दण्डनायक' या 'दण्डाधिकारी' शब्दों का प्रयोग सर्वथा ग़लत है।

सिविल प्रक्रिया संहिता और दण्ड प्रक्रिया संहिता में कुछ प्ररूप (फार्म) दिए हैं। जैसे समन या वारण्ट का फार्म, प्रतिवादी के उपस्थित न होने पर उसे हाजिर करने के लिए समाचारपत्र में विज्ञापन निकालने का फार्म। ये सब और इसी प्रकार के अन्य प्ररुप सरल और सुबोध भाषा में उपलब्ध हैं। फिर भी हमारे कुछ न्यायपलिका के बन्धु इस ओर ध्यान न देकर 50 वर्ष पूर्व की फारसी बहुल भाषा का प्रयोग करते हुए समाचारपत्रों में विज्ञापन निकलवाते हैं। यह विज्ञापन किसी की समझ में नहीं आता और साथ ही विधि की दृटि से उचित है इस बारे में भी सन्देह है। मेरे विचार में न्यायालयों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए कि वे उन फार्मों का उपयोग करें जो अधिनियमों के हिन्दी में प्राधिकृत पाठ में दिए गए हैं।

न्यायालय ही नहीं, सभी विधि व्यवसाइयों का और भारत सरकार और राज्य सरकारों और राज्य सरकारों के सभी विभागों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे एक ही शब्दावली का प्रयोग करें। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि भाषा का विकास नहीं होना चाहिए और भाषा बंधी हुई हो। मेरा उद्देश्य यह है कि हम वाक्य रचना लिखने वाले के, पढ़ने वाले के और विषय-वस्तु के अनुरूप रखें, किन्तु विधि के क्षेत्र में जहां तक शब्दावली का प्रश्न है वहां यदि मनमानी करने की छूट दे दी गई तो लोग यह कहेंगे कि हिन्दी भाषा में अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्द के लिए कौनसा शब्द उपयुक्त है, यह कोई नहीं जानता।

प्रत्येक भाषा में समय-समय पर कुछ मानक निर्धारित करने होते हैं। जब चा सर के समय की अंग्रेजी हम देखे तो पाएगे कि उसमें दी गई वर्तनी (Spelling) भिन्न प्रकार की है। बाद में धीरे-धीरे आगे चलकर शेक्सपियर के जमाने में अंग्रेजी की वर्तनी बिलकुल स्थिर कर दिए जाने से भाषा का विकास रुक गया है, बल्कि इससे भाषा का स्तर ऊपर उठता है। इस प्रकार जब हम Act के लिए सभी स्थानों पर 'अधिनियम' का प्रयोग करते हैं तो इससे स्तरीयता में कमी नहीं आती बल्कि उसमें वृद्धि होती हैं।

हिन्दी के इस मानकीकरण में और हिन्दी को परिनिष्ठित बनाने में या हिन्दी का स्वरूप निश्चित करने में जनसंचार के माध्यमों की महत्वपूर्ण भूमिका है। बीसवीं शताब्दी जनसंचार माध्यम का युग है। समाचारपत्र और आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के माध्यम से भाषा के मानक स्वरूप का बोध सभी लोगों को सरलता से कराया जा सकता है। हिन्दी के विकास को पूरा करने में इस माध्यम की बड़ी शक्तिशाली भूमिका है, किन्तु मुझे कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि हमारे ये माध्यम इस की ओर उतना ध्यान नही दे रहे हैं। उदाहरण के लिए, समाचारपत्रों में जब मैं कभी महत्वपूर्ण वादों के निर्णय पढ़ता हूं तो मैं देखता हूं कि उनकी भाषा कहीं-कहीं अर्थहीन और हास्यास्पद-सी हो जाती है। एक छोटा सा उदाहरण दूं—जब कोई न्यायलय कोई निर्णय बाद में सुनाया जाएगा तो इसे अंग्रेजी में कहते हैं—Judgement has been reserved, समाचारपत्र और आकाशवाणी में भी इसका-अनुवाद यह कर दिया जाता है कि—'निर्णय सुरक्षित रखा गया है। यहां न्यायालय का यह आशय नहीं होता कि निर्णय को कहीं रखकर उस पर दो सशस्त्र पहरेदार लगा दिए जाएं ताकि कोई आशंका न रहे। हिन्दी में जो कहा जाता है उससे यही अर्थ निकलता है कि निर्णय को या तो तिजोरी में बन्द कर दिया गया है या पहरे के अन्दर रख दिया गया है, जैसाकि मैं पहले कह चुका हूं उसका तात्पर्य यह होता है कि 'निर्णय बाद में सुनाया जाएगा'। एक भूल और की जाती है वह यह कि हमें अपने आस-पास के जो शब्द हैं, जिनसे हम परिचित हैं, उन्हें ही सरल और सुबोध मान लेते हैं। भाषा-शास्त्र के अनुसार शब्द न तो सरल होते हैं न कठिन। वे केवल परिचित होते हैं। अंग्रेजी में जो वकालत करते हैं उन व्यक्तियों को uncorroborated testimony जैसा शब्द कठिन नहीं प्रतीत होता। यह mens-rea शब्द दुर्बोध नहीं लगता। किन्तु जिस व्यक्ति ने न्यायालय में काम नहीं किया हैं उसे ये शब्द कठिन लगते हैं। यही स्थिति हिन्दी में विधि के शब्दों की है। हमें उनसे धीरे-धीरे परिचित होना पड़ेगा और इसलिए सभी हिन्दी-प्रेमियों का यह कर्तव्य है कि वे विधि की अखिल भारतीय शब्दावली से अपने आप को परिचित करें और इसलिए कभी-कभी आपको अपने मुहल्ले या नगर की भाषा से भिन्न कुछ शब्द सीखने होंगे। उत्तर प्रदेश और बिहार में पहले 'मुद्दई' और 'मुद्दाले' शब्द बहुत चलते थे। अखिल भारतीय शब्दावली में इनका स्थान 'वादी' और 'प्रतिवादी' ने ले लिया है। कारण यह भी कि 'वादी' और 'प्रतिवादी' मलयालम में भी स्वीकार किए जाते हैं, तमिल में भी और कन्नड़ में भी अपनाए गए हैं। इसलिए समाचारपत्रों और आकाशवाणी में 'वादी', 'प्रतिवादी' का ही प्रयोग होना चाहिए। यदि हम हिन्दी-भाषी 10-20 परिचित शब्दों के स्थान पर दूसरे शब्द नहीं सीख सकते तो हम एक प्रकार से राष्ट्रभाषा के प्रति अपने कर्त्तव्य से विमुख होंगे।

मैं आशा करता हूं कि मैंने जो छोटी-छोटी बातें रखी हैं उनकी और न्यायालय, अधिवक्ता, केन्द्रीय और राज्य सरकारों के विभिन्न विभाग और समाचारपत्र तथा आकाशवाणी और दूरदर्शन केन्द्र आदि ध्यान देंगें और विधि के क्षेत्र में प्राधिकृत पांठ तथा अखिल भारतीय शब्दावली का प्रयोग करके हिन्दी के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान करेंगे। □

सब को हिन्दी सीखनी चाहिए, इसके द्वारा सारे भारत को सुविधा होगी।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

विज्ञान में हिन्दी प्रयोग की संभावनाएं

डा० ओम विकास*

विज्ञान का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—विज्ञान—वि + ज्ञान, विशेष रूप से जाना हुआ। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करके विश्लेषण और परीक्षण द्वारा किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुंचना विज्ञान माना जाता है। सुगठित एवं सुव्यवस्थित ज्ञान "विज्ञान" है। व्यक्त पदार्थों के मूल में किसी एक मूल द्रव्य की संभावना, अर्थात् अनेकत्व में एकत्व की स्थापना की संभावना ने विज्ञान को बढ़ाया।

विज्ञान के आधार पर उपायों, प्रक्रमों और यंत्र-निर्माण की कार्यविधि को "टैक्नोलाजी" के अंतर्गत रखते हैं।

औद्योगिक विकास में विज्ञान और टैक्नोलाजी का विशेष योगदान है। विज्ञान और टैक्नोलाजी के क्षेत्र में प्रगतिमूलक आत्मनिर्भता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि समूचे समाज का दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो।

लोक भाषा में विज्ञान अपेक्षित है। लेकिन विकासशील भारत में ऐतिहासिक कारणों से जनसामान्य सुलभ विज्ञान से भी वंचित रहा है।

आज जब आयात की आवश्यकता निरन्तर बढ़ती जा रही है, विज्ञान एवं टैक्नोलॉजी के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता मृगतृष्णा बनी हुई है, जनसामान्य के जीवन स्तर में यथेष्ट सुधार नहीं हुआ है, तब सिंहावलोकन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि समूचे समाज में वैज्ञानिक जागृति हो और जनसामान्य आविष्कारोन्मुखी प्रवृत्ति का विकास हो। उल्लेखनीय है प्रधानमंत्री के विज्ञान सलाहकार प्रो० एम० जी० के० मेनन का कथन—

> "राष्ट्र के विकास में विज्ञान और टैक्नोलाजी का महत्वपूर्ण योगदान है लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है जन-सामान्य आविष्कारोन्मुख बनें।"
> (लोक विज्ञान प्रसार की चुनौतियां, 1986)

विज्ञान जब लोक विज्ञान बनेगा तो उसकी अभिव्यक्ति निःसंदेह लोकभाषा में होगी। हिन्दी संविधान स्वीकृत राजभाषा है और बहुजन स्वीकृत राष्ट्रभाषा है।

अंग्रेजों के षड़यंत्रों, "शास्त्रों के कुचक्र" को काटने के लिए हिन्दी ने देशवासियों को जोड़ा। हिन्दी सरल भाषा है, अधिकांश समझते हैं और उसे बोलने वालों में भाषायी सहिष्णुता भी है। व्याकरण, वर्तनी और उच्चारण के अर्थसंगत भेद हिन्दी के प्रयोग में कदापि बाधक नहीं बने। हिन्दी के साहित्य में जीवनोपयोगी कथामक भी अनेक हैं।

हिन्दी लोकभाषा है, सरल भाषा है और एकता की भाषा है। प्रायः वैज्ञानिक मित्रों से हिन्दी व्यवहार की इनकी करुण कहानी सुनने को मिलती है। विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी में काम करने वालों को तकनीकी प्रशासन का कोप भाजन बनना पड़ता है। वैज्ञानिक का हिन्दी आशुलिपिकों की सुविधा नहीं मिल पाना आदि विडंबनाओं के बीच लोकहिताय हिन्दी को लक्ष्य बनाकर हिन्दी में काम करने वालों की दशा का हम सभी अनुमान लगा सकते हैं।

85 प्रतिशत जनता ग्रामवासिनी है और जब तक जन-सामान्य का दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं होगा तब तक प्रगति मूलक, आत्मनिर्भरता मात्र मृगतृष्णा बनी रहेगी। अनुवाद के सहारे हिन्दी को विज्ञान के क्षेत्र में समृद्ध बनाने के कार्य में विशेष सफलता नहीं मिली है। प्रायः अनुवाद विषय के अर्थ को सही ढंग से अभिव्यक्ति नहीं कर पाएं संप्रेषणीयता का अभाव देखा जाता है। इसलिए मौलिक लेखन से विज्ञान को जनसामान्य तक पहुंचाने का काम करना पड़ेगा।

सामाजिक दायित्व को सच्चाई से निभाने के लिए वैज्ञानिक लोकभाषा में विज्ञान लेखन के लिए प्रवृत्त होते हैं और उसे मिशनरी भाव से आगे बढ़ाने इलैक्ट्रानिकी विभाग, भारत सरकार को प्रयत्वशील रहते हैं। उन्हें समुचित वातावरण और सुविधाएं प्रदान करने के लिए हम सभी को यथाशक्ति प्रयास करने चाहिएं।

मोहर, लिफाफे, नामपट्ट मात्र द्विभाषिक करा देने से संतोष कर लेना और हिन्दी में व्यवहार के लिए वैज्ञानिकों की अभिरुचि की उपेक्षा और उन्हें यथा आवश्यक सुविधाएं प्रदान करने में पहल न करना समयोचित न होगा। आवश्यक है कि राजभाषा विभाग विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी व्यवहार को सही अर्थों में कार्यान्वित करने के लिए 10 वर्ष की राष्ट्रीय कार्यनीति सुनिश्चित करें जिसमें सरकार कार्यालयों और प्रतिष्ठानों में हिन्दी प्रयोग की समस्याओं, इनके समाधान और संवर्द्धन के लिए उपाय और लक्ष्य बिन्दु निश्चित किए जाएं। राजभाषा विभाग के अन्तर्गत अनुवाद प्रक्रिया पर पुनर्विचार हो और इसमें उपयोगी वैज्ञानिक अनुवाद पर बल दिया जाए। सरकार विभागों की वार्षिक रिपोर्ट और कुछ तकनीकी रिपोर्ट मौलिक रूप से हिन्दी में लिखे जाने के लिए प्रेरित किया जाए। हिन्दी अधिकारियों की क्षमता का मापदण्ड वैज्ञानिकों के द्वारा मौलिक हिन्दी लेखन में अभिवृद्धि बनाया जाए।

हिन्दी अकादमियां अपने कार्य की इतिश्री हिन्दी साहित्य तक मानती है और कभी-कभार एक दो अति प्रसिद्ध वैज्ञानिक को सम्मान देती है। लेकिन प्रायः इन्हें विज्ञान जगत से कोई विशेष सरोकार नहीं रहता। हिन्दी के दो पक्ष स्पष्ट हैं (1) साहित्यिक (2) तकनीकी। साहित्यिक पक्ष सबल होते रहे हैं। विज्ञान एवं टैक्नोलाजी के दायित्वों का निर्वाह तकनीकी हिन्दी के माध्यम से आसानी से किया जा सकता है और इस प्रकार जनसामान्य को विज्ञान की उपलब्धियों की सही जानकारी दी जा सकती है। इसलिए सभी हिन्दी संस्थाओं को हिन्दी के साहित्यिक और तकनीकी, दोनों पक्षों के साथ समान दृष्टि अपनानी चाहिए और समुचति न्याय देना चाहिए।

हिन्दी के प्रयोग के मूल में शिक्षा का प्रश्न जुड़ा हुआ है आवश्यक है

कि लोकभाषा हिन्दी के माध्यम से विज्ञान और गणित के क्षेत्र में शिक्षण, प्रशिक्षण, शोध आदि की व्यवस्था करें।

सरकारी तकनीकी विभागों में कम्प्यूटर एवं सचार के क्षेत्र में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ाने के लिए आवश्यक कदम उठाएं हैं। आवश्यक टैक्नोलाजी का विकास करने के लिए परियोजनाओं को और अधिक वित्तीय सहायता देनी चाहिए और उनके कार्यों का विधिवत् निरीक्षण और समन्वय करना चाहिए। कम्प्यूटर के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं का प्रयोग इलैक्ट्रानिक विभाग की परियोजनाओं से साकार हो सका है। संचार मंत्रालय ने धीरे-धीरे द्विभाषिक इलैक्ट्रानिक टेलीप्रिंटर का निर्माण भी प्रारम्भ करा दिया। व्यापार, प्रशासन और शिक्षा के क्षेत्र में काम आने वाली प्रक्रिया सामग्री को हिन्दी में तैयार करने के लिए विभिन्न विभागों को समन्वित प्रयास करने पड़ेगे। शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी की स्थिति दयनीत है। सरकार अनुवाद की सुविधा होने पर भी स्कूली स्तर पर विRSIन पुस्तकें हिन्दी में अनुवाद की जाती है, मौलिक नहीं लिखी जाती। स्कूल में भेजे गए कम्प्यूटरों पर हिन्दी में साफ्टवेयर दिया जाए। केन्द्रीय विद्यालयों में विज्ञान और गणित की शिक्षा अंग्रेजी में जारी रहने से बच्चे प्रायः अंग्रेजी को ही रटने में लगे रहते हैं। बच्चों में रचनात्मक वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास रुकता है।

स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका

सरकारी प्रयासों के साथ-साथ स्वैच्छिक संस्थाओं की विशेष भूमिका है। जो वैज्ञानिक हिन्दी के प्रचार-प्रसार की दिशा में सरकारी दायित्व नहीं निभा रहे हैं उन्हें इन संस्थाओं के माध्यम से अपने-अपने ढंग के प्रयोग को प्रोत्साहित करने का अवसर मिलता है। इस दिशा में हिन्दी साहित्य सेवी संस्थाएं बहुत कम है। एकलव्य (भोपाल), विकास भारती (गुमला), विज्ञान परिषद् (इलाहाबाद) और लोक विज्ञान परिषद् (दिल्ली) के उद्देश्य एवं कार्य उल्लेखनीय हैं। आवश्यकता है कि वर्तमान हिन्दी संस्थभाओं में तकनीकी पक्ष को प्रोत्साहित किया जाए और वैज्ञानिक संस्थाओं में हिन्दी प्रयोग संवर्धन के लिए प्रयास किए जाएं।

विज्ञान अनुवाद

निःसंदेह एकदम मौलिक लेखन से हम विज्ञान साहित्य को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं करा सकते । इसलिए प्रारम्भिक वर्षों में उपयोगी विज्ञान अनुवाद का सहारा लेना पड़ेगा। उपयोगी अनुवाद की विशेषताएं हैं—बोध-गम्यता, उपयुक्त शब्द चयन, आवश्यक है। इसके अतिरिक्त एनसेक्लोपिडिया जैसे संदर्भ ग्रंथों का अनुवाद भी उपयोगी होगा। अनुवाद सामग्री को ठीक ढंग से चुना जाए ताकि इस दिशा में किए गए प्रयास सार्थक सिद्ध हों।

सरकारी विभागों एवं उपक्रमों में रिपोर्ट के अनुवाद को विशेषज्ञ वैज्ञानिक से अनिवार्यता सत्यापित कराया जाए। इससे एक पंथ दो काज होंगे—1. अनुदित सामग्री सही और बोधगम्य बनेगी, 2. वैज्ञानिकों को हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरणा मिलेगी।

विज्ञापन के क्षेत्र में हिन्दी व्यवहार में कुछ सतर्कलाएं बरतने की भी आवश्यकता है, जैसे उपयुक्त शब्द चयन/शब्द निर्माण, छोटे सरल वाक्य, मुहावरे का काम प्रयोग यथा संभव आरेखों का प्रयोग आदि।

नए शब्द बनाते समय ध्वन्यात्मक प्रवाह सुनिश्चित करें। निकट अर्थी और विपरीत अर्थी शब्दों को एक साथ रखकर नियम की एक रूपता की जांच करें। अनुप्रेरण सिद्धान्त से शब्द का अर्थ समझ लेना आसान होना चाहिए। "एकल" और "बहुल" के अर्थ जान लेने पर "दल" का अर्थ निकाला जा सकता है। वाटिका और बालिका से लघु रूप का बोध होता है। उसके आधार पर डिस्क के लिए चक्रिका बना सकते हैं।

कुछ विचारणीय शब्द हैं—टर्मिनल के लिए अन्तक, कैरी के लिए अग्राक प्रोग्राम के लिए क्रमादेश आदि। इन शब्दों को, शब्दों की परिभाषा को समझ कर बनाया गया है।

विज्ञान के क्षेत्र में लम्बे, जटिल वाक्य विषय को अधिक दुरुह बनाते हैं। इसलिए विषय को भली-भांति समझाने की दृष्टि से वाक्य छोटे और सरल हों। मुहावरे प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं, कुछ मुहावरे स्थानीय भी होते हैं, इसलिए इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

गद्यात्मक अभिव्यक्ति को समग्रदृष्टि से एक प्रक्रम के रूप में देख सकते हैं। इसके प्रमुख अवयवों के क्रम और संबंधों को आरेखन से प्रदर्शित किया जा सकता है। इस समय हिन्दी में आरेखों का प्रयोग नगण्य हैं विज्ञान लेखन में यह महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

शब्द, वाक्य और पूरे लेख में तर्क संगति होना आवश्यक है। विषय प्रतिपादन स्पष्ट एवं तर्क संगत हो।

अन्ततः विज्ञान बोधगम्य हो। क्लिष्ट शब्दों और स्थानीय मुहावरों का प्रयोग न किया जाए। एक ही भाव के लिए विभिन्न तत्सम शब्दों का प्रयोग विज्ञान सामग्री के आदान-प्रदान में बाधक होता है। मानक शब्दावली का प्रयोग यथा संभव किया जाए। नए शब्द की व्याख्या भी करें और शब्दों की निर्माण प्रक्रिया को समझना पाठक के लिए उपयोगी होगा।

सदिश समन्वित प्रयास

1. हिन्दी तकनीकी विकास केन्द्र

हिन्दी के लिए तकनीकी विकास पर बल देना सामयिक आवश्यकता है। तकनीकी हिन्दी को विकसित करने के लिए समन्वित प्रयास अपेक्षित है। इस कार्य को समन्वित ढंग से संचालित करने के लिए "हिन्दी तकनीकी विकास केन्द्र" की स्थापना की जाए।

2. तकनीकी विभागों में राजभाषा कार्यान्वयन

समीक्षा के लिए मापदण्ड हो—कितने प्रतिशत मौलिक हिन्दी में रिपोर्ट, कितने प्रतिशत हिन्दी में शोध स्तरीय विज्ञान चर्चाए, तकनीकी हिन्दी कार्यशालाएं, विभागीय तकनीकी क्षेत्र में विशेष प्रयोजन मूलक हिन्दी के विकास और मौलिक विज्ञान लेखन के लिए प्रोत्साहन इत्यादि।

3. हिन्दी में विज्ञान शिक्षण

बच्चों में रचनात्मक प्रवृत्ति, लोक-अनुराग, सामाजिक सुरक्षा और आत्मगौरव के विकास के लिए विज्ञान का शिक्षण, केन्द्रीय एवं नवोदय विद्यालयों में लोकभाषा हिन्दी में हो।

कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर बच्चों के लिए उपयोगी शिक्षण माध्यम है और फिल्मों की भांति इसमें भी ध्वनि, रंगीन एवं गति का कौतूहल भी है। इस दिशा में विशेष बल दिए गजाने की आवश्यकता है।

4.हिन्दी सेवा समितियां

विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी का प्रयोग करने वाले बहुत से वैज्ञानिकों का यह मत है कि हिन्दी व्यवहार के लिए आवश्यक सामग्री और सुविधा जुटाने के लिए हिन्दी सेवा समितियां स्थापित की जाएं। वर्तमान हिन्दी सेवी संस्थाएं भी यह दायित्व निभाएं। आज आवश्यकता है कि हमें विज्ञान के क्षेत्र में उत्कृष्ट साहित्य हिन्दी के माध्यम से उपलब्ध कराया जाए और इसके लिए हिन्दी सेवा समितियां समुचित व्यवस्था करें। □

हिन्दी और तमिल के समान तत्व

— इ॰ बालसुब्रह्मण्य *

आधुनिक भाषा-विज्ञान के प्रवर्तकों ने अपने शोध-परिशोध एवं अन्वेषण-गवेषण के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि भारत की आर्यभाषाओं का ईरानी, यूनानी, जर्मन, और लातीनी भाषाओं से तो संबंध है, परन्तु विंध्यांचल के दक्षिण में प्रचलित भाषाओं से आर्यभाषाओं का कोई संबंध नहीं है। पाश्चात्य पंडितों द्वारा निर्मित वह 'रंगीन चश्मा' आज तक अपना करिश्मा दिखा रहा है जिसे धारण करके हम भी मानने लग गए कि दक्षिण की भाषाएं द्रविड़ परिवार की हैं और उत्तर की भाषाएं आर्यभाषाएं हैं। पादरी कॉल्डवेल की पुस्तक, 'द्रविड भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन' ने दाक्षिणात्यों के मन में इस धारणा को दृढ़ मूल कर दिया कि हमारी भाषाओं का उत्तर भारत की भाषाओं से कोई मेल नहीं हो सकता। तत्कालीन शासकों के लिये भी यही अभीष्ट था कि भाषावर्ग के नाम पर दोनों जातियां अलग ही रहें तथा भाषा एवं सांस्कृतिक समानता इनकी दृष्टि में कभी न पड़े। इसके विपरीत इस शताब्दी में फ्रेंच विद्वान एम॰ बी॰ एमनों ने एक सत्य का उद्घाटन कर दिया कि एक ही भूखंड की भाषाएं होने के कारण उत्तर और दक्षिण भारतीय भाषाओं की वाक्य-रचना में, प्रकृति एवं प्रत्यय में, शब्द और धातु में, कथन-शैली में, भाव-धारा में एवं चिन्तन-प्रणाली में यत्र-तत्र सर्वत्र समानता मिल सकती है।

उत्तर और दक्षिण के बीच समन्वय कब से शुरू हुआ, इसका अनुमान लगाना इतिहासकार के वश की बात नहीं है। पुराणों और प्राचीन इतिहास-ग्रंथों में इस बात का उल्लेख है कि महर्षि अगस्त्य ने विंध्य को पार किया और दक्षिण में ताम्रपर्णी नदी (तिरूनेलवेली जिला, तमिलनाडु) के तट पर बस गए। महर्षि अगस्त्य ने जहां अपणा आश्रम स्थापित किया, वह स्थान 'पापनाशम्' और 'कल्याण तीर्थम्' के नाम से आज भी स्थित है। तमिल के सर्वप्रथम प्राप्य व्याकरण "तोल काप्पियम्" में "अगत्तियम्" के नाम से अगस्त्य-कृत आदि व्याकरण का उल्लेख है जो अनुपलब्ध है। अगस्त्य-कृत व्याकरण तो नहीं मिलता, परन्तु ज्योतिष, तंत्रशास्त्र और वैद्यक के कुछ ग्रंथ तमिल में अगस्त्य की परम्परा के मिलते हैं, जिनकी विषय-वस्तु संस्कृत से भिन्न नहीं पूरवर्ती तमिल-सिद्धों की 'वानी' उत्तरापथ के संतों की वाणी से मिलती-जुलती है। वही रामायण वही भागवत और वही देवी देवता, कहीं कोई भेद नहीं। बाह्य आवरण में भिन्नता हो सकती है, अंतस् या आत्मा तो एक है। भाव की भूमि में जो समानता दृष्टिगत होती है, यदि आस्था और निष्ठा के साथ उसे खोजा जाय तो भाषा के क्षेत्र में भी बहुत कुछ समानता मिल जाएगी।

आज खड़ी बोली हिन्दी आर्यभाषा परिवार की सर्वाधिक प्रचलित भाषा है और तमिल द्रविड़ परिवार की प्राचीन भाषा है। दिल्ली-मेरठ का कौरवी क्षेत्र कहां और सहस्रों मील दक्षिण की तमिल भूमि कहां, परन्तु संस्कृत से भिन्न कोई प्राकृतमूल इन दोनों भाषाओं में अंतर्धारा के रूप में दृश्यमान है। इसका रहस्य, संभवतः मोहन-जोड़ों और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त लेख बता सकते हैं या भारत से पूर्व की वह संस्कृति बता सकती है जिसकी कड़ियां लुप्तप्राय हो चुकीं हैं। भाषा की प्रकृति के स्तर पर हिन्दी और तमिल के क्रियापदों में-क्रियापद की रचना में-जो अद्भुत समानता मिलती है, वह खड़ी बोली और अवधि में नहीं मिलती या तमिल और मलयालम में नहीं मिलती।

क्रियापद रचना में समानता है, इसका तात्पर्य यह है कि दोनों भाषाओं की आत्मा एवं आन्तरिक प्रकृति अभिन्न है। क्योंकि क्रिया जो है, वाक्य का 'नाभिकीय तत्व' है। दोनों भाषाओं की क्रिया-पद-रचना में समानता दोनों के समान नाभिकीय तत्व की ओर इंगित करती है। उदाहरण सहित इस तथ्य का परीक्षण करने से पूर्व शब्द-स्तर पर एकाध रोचक बातों का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा।

उत्तर हो या दक्षिण, पूरब हो या पश्चिम, जन साधारण की जिह्वा में जब संस्कृत-शब्दों का शुद्ध उच्चाकरण नहीं हो पाता तो "क्ष" का "ख"/छ, "ज्ञ" का "ग्य" "ग्र" हो जाता है।

संस्कृत	भाषा/बोली
नक्षत्र	नखत, नच्छत्तर
लक्ष्मण	लखन
अक्षर	अच्छर
विज्ञान	विग्यान
(ज+ञ)	(ग्+य)

तमिल में भी इनका हिन्दी की बोलियों जैसा ही उच्चारण होता है, साथ ही शब्द के अन्त में पुंलिग प्रत्यय "अन" या नपुसंक "अम्" लगता है और रकार-लकार से पूर्व "इ" का आगम होता है। उपर्युक्त शब्दों के तमिल रूप यों होंगेः नटचत्तिरम्, इलक्कुवन्, अट्चरम् विऽज्ञानम्। तमिलनाडू के ग्रामीण क्षेत्र में "अज्ञान" को "अक्यानम्" कहते हैं, इसमें भी हिन्दी क्षेत्र का "ग्य" ध्वनित होता है।

तुलसीदास ने लक्ष्मण को "लखन" कहा तो तमिल के महाकवि कम्बन ने अपनी रामायण में उसे "इलक्कुवन्" कहा। राक्षस या "रक्ष" तमिल में "करक्कन्" होता है, इसमें "अन" पुंलिग प्रत्यय है और करार से पूर्व "अ" का आगम है। इसी प्रकार "साहित्य" और "व्याकरण" के अर्थ में तमिल में प्रचलित शब्द "इलिक्कियम्" में से 'अम' नपुसंक प्रत्यय और आगम "इ" को निकाल देने पर "लक्क" और "लक्कण" बचता है जो वास्तव में "लक्षय" और "लक्षण" हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर कोई भी पुस्तक उठा लीजिए, प्रारम्भिक पृष्ठों में इस आशय का कोई वाक्य मिलेगा—पहले लक्ष्य-ग्रंथ बने, फिर लक्षण-ग्रंथों का प्रादुर्भाव हुआ, स्पष्ट है कि "लक्ष्य" साहित्य है और "लक्षण" व्याकरण या काव्यशास्त्र है। फिर तमिल का "काप्पियम्" संस्कृत का "काव्यम" नहीं तो और क्या है?

कहते हैं, हिन्दी को संस्कृत का सार-सर्वस्व विरासत के रूप में मिला है। उधर तमिल भाषियों का दावा है कि तमिल का संस्कृत या किसी भी आर्यभाषा से नाता-रिश्ता नहीं है। परन्तु वास्तविकता क्या है? दैनंदिन

वार्तालाप के चबार पांच वाक्य चुगली कर देंगे कि दोनों भाषाओं में कौन संस्कृत से ओत-प्रोत है

1. अय्या वाङ्ग सौक्कियमा?

2. उङ्ग पुण्णियत्तिले सौक्कियं तान्

3. एन्न समाचारम्?

4. विशेषमाह ओन्नं इल्ले।

5. पयणम् सौकर्यमाह इरुन्ददा?

6. आमाम्।

अय्या, संबोधन है (संस्कृतः आर्य) हिन्दी में शैली भेद से "श्रीमान" या "जनाब" कहते हैं। "सौक्कियमा" सौख्यम् (कुशल-मंगल) पुण्णियम्-पुण्य। 'विशेषमहा'—खास, पयणम्-प्रयाण, यात्रा। सौकर्यमाह-सुविधाजनक। आमाम्-अमाम् आम् (संस्कृत) हां (हिन्दी)। उपर्युक्त वाक्यों की हिन्दी अभिव्यक्तियां इस परकार होंगीं।

1. श्रीमान जी (जनाब) आइए, आइए, कुशल से तो हैं (खैरियत)?

2. आपकी मेहरबानी।

3. क्या हालचाल है?

4. खास कुछ नहीं है।

5. यात्रा ठीक रही?

6. हां, हां।

दैनंदिन वार्तालाप में प्रयुक्त उपर्युक्त तमिल वाक्यों की उन्हीं परिस्थितियों में हिन्दी क्षेत्र में प्रयुक्त वाक्यों से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि तमिल ने संस्कृत के शब्दों को तद्भव रूप में ही सही बहुत पचा लिया है। हिन्दी में तो "सौकर्य" आदि शब्द साधारण व्यवहार में नहीं हैं। तमिल यहां बाजी ले गई।

तमिल भाषियों को हिन्दी सिखाते हुए यदि उनके मन में यह विश्वास भर दिया जाए कि हिन्दी में भी वे ही तत्व हैं जो तमिल में हैं, तो उसके भाषा अधिगम की प्रक्रिया सत्वर होगी। इसी प्रकार हिन्दी भाषी के सामने हिन्दी और तमिल की समानता के कतिपय उदाहरण रखे जाएं तो तमिल उसके लिए सहज एवं बोधगम्य लगेगी-ग्रीक या लैटिन नहीं लगेगी।

व्यतिरेकी भाषा-विज्ञानी के अनुसार भाषा-अधिगम के सर्वमान्य सिद्धांत इस प्रकार हैं—

1. जो तत्व दोनों भाषाओं में-अध्येता की भाषा और लक्ष्य भाषा जिसे वह सीख रहा है-समान हों, उन तत्वों को अध्येता सहज ही आत्मसात् कर लेता है, अर्थात् इन तत्वों को सीखने में कठिनाई नहीं अनुभव होती।

2. जो त्तव आंशिक रूप से समान हों, उनको समझने में थोड़ा विलम्ब होता है। भाषा-शिक्षक को चाहिए कि ऐसे स्थानों पर दो चार उदाहरण अतिरिक्त रूप से प्रस्तुत करें और अभ्यास कराएं।

3. जो तत्व असमान हैं, उनको समझाने के लिए विशेष अध्ययन-सामग्री हवं अभ्यास-सामग्री की आवश्यकता होगी।

हमने पहले ही कह दिया कि हिन्दी और तमिल के क्रियापदों की रचना में समानता है और क्रियापद वाक्य का नाभिकीय अंश है। अतएव हिन्दी से तमिल और तमिल से हिन्दी के अध्ययन से इस दृष्टिकोण को सामने रखा जाए और छात्र के समक्ष इन समानताओं को उजागर किया जाय तो भाषा-शिक्षण एवं भाषा-अध्ययन में रूचि बढ़ेगी।

(1) **विधिरूप रचना**

(क) कृर्तत्व नी (तमिल) तुम (हिन्दी)

तमिल	हिन्दी
पार (पारु)	देखो
उटकारु (उट्कारू)	बैठो
साप्पिडु	खाओ

तमिल की विधि-क्रियाओं में धातु शुद्ध रूप में प्रयुक्त होती हैं या उसके संग "उ" लगता है जबकि हिन्दी में धातु के साथ "ओ" लगता है

पारुङ्गल	देखिए
उट्कारुङ्गल	बैठिए
साप्पिडुङ्गल	खाइए

आदरार्थक विधि क्रियाओं जहां तमिल में धातु के सांग 'ङ्गल' लगता है वहां हिन्दी में 'इस' लगता है।

(ग) विधि में संयुक्त क्रिया का प्रयोग तमिल में भी प्रचलित है।

साप्पिटऐटुक्कोल, खा लो

बन्दु विडु आ जाओ

2. काल-रचना

(क) वर्तमान काल, भविष्यत् काल

वर्तमान

(साप्पिडु+किर+एन्)	
नान् साप्पिडु किरेन्	मैं खाता हूं/खाती हूं
नी साप्पिडु किराय्	तुम खाते हो/खाती हो
अवन् साप्पिडुकिरान्	वह खाता है
आवल् साप्पिडुकिराल्	वह खाती है।

(तमिल में मध्य स्थिति में आने वाले "क" का उच्चारण "ग"/"ह" हो जाता है। अतःउच्चारण में ध्वनित होगा-साप्पिडुहिरेन्)

भविष्यत्काल

(पो+व+एन्)	
नान् पोवेन्	मैं जाऊंगा/जाऊंगी
नीन् पोवाय्	तुम जाओगे/जाओगी
अवन् पोवान्	वह जाएगा
अवल पोवाल्	वह जाएगी

द्रष्टव्य है कि हिन्दी के समान तमिल में भी पुरुष के स्तर पर क्रिया की कर्त्ता के साथ अन्विति होती है जो मलयालम में नहीं है। अंतर इतना ही है कि तमिल में उत्तम और मध्यम पुरुष में क्रिया उभयलिंगी है, केवल अन्य पुरुष में लिंग के स्तर पर अन्विति है।

(ख) **आसन्नभूत**

आया हूं (वन्दुरुक्किरेन्)

आये हो — वन्दिरुक्किराय्
(वन्दु+इरुक्किराय्)

आया है — वन्दिरुक्किरान्
(वन्दु+इरुक्किरान्)

"इरुक्किरेन" के तीनों रूपों में हिन्दी के हूं, हो, है के तत्वों को देख सकते हैं। पूर्णभूत में इरुक्किरेन् (हूं) का भूतकालिक रूप "इरुन्देन्" प्रयुलक्त होगा। जैसे-मैं आया था-नान् वन्दिरुन्देन् तुम आये थेलनी वन्दिरुन्दाय्

3. कर्त्ता+को संरचनाएं

शारीरिक और मानसिक व्यापार के द्योतन में, आवश्यकता/बाध्यता प्रकट करने में तथा ज्ञान/जानकारी की अभिव्यक्ति में दोनों भाषाओं में कर्ता संप्रदान-कारक रूप में होता है और क्रिया वाक्य की को-रहित संज्ञा से अन्वित होती है।

(क) शारीरिक दर्द/आघात

1. शारीरिक दर्द/आघात

1. राम को सिरदर्द है।
रामनुक्कु तलैवलि — क्रिया-लुप्त वाक्य

2. लड़के को चोट लगी
पैयनुक्कु कायं पट्टदु

(ख) मानसिक व्यापार

1. हमें बड़ी प्रसन्नता है।
एङगकुक्कु रोंम्ब सन्तोषम — क्रिया-लुप्त वाक्य

2. रामलाल को गुस्सा आया।
रामलालुक्कु कोपं बन्ददु

(ग) इच्छा/आवश्यकता बोधकः

1. मुझे लड्डु चाहिए।
एनक्कु लड्डु वेण्डुम्

2. सरला को साड़ी पसन्द आई।
सरलाकुक्कु सारि पिडित्तदु

परन्तु "जाना चाहिए" जाना पड़ता है" आदि प्रयोगों में तमिल में कर्त्ता के साथ "को" प्रायः नहीं लगता।

अवन् इन्रे पोहवेण्डुम — कर्तु कारक
उसे आज ही जाना चाहिए संप्रदान
नान्/एनक्कु एलुद वेण्निडवन्ददु (कर्तृ/संप्रदान)
मुझे लिखना पड़ा। (संप्रदान)

संयुक्त क्रियाएं विविध प्रयोग

1. बोलता जाता है
पेसिक्कोण्डे पोहिरान्

2. बैठा रहता है
उट्कारन्दुकांण्डे इरुक्किरान्

3. पढ़ चुका।
पडित्तु मुडित्तान्

4. पढ़कर ही छो ड़ेगा
पडित्तुट्टु तान् विडुवान्

5. जाना चाहिए था
पोह वेणुमाय् इरुन्ददु

6. तैयार किया जा सकता है।
तयारिक्कप्पड मुडियुम्

7. सोने दो
तूङग् विडु

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि दोनों भाषाओं की अभिव्यंजना प्रणाली में ही नहीं, संरचना में भी अद्भूत समानता है। हिन्दी के क्रियापद तत्वों का तमिल में समान प्रयोग अधिकांशतः मिलता है। प्रत्येक तत्व को यदि कहीं से निथाड़-निचोड़ कर देखा जाए तो उसे अन्य भाषाओं में भी प्रतिध्वनित होता पाएंगे।

हिन्दी और तमिल के समान-प्राकृतमूल के सम्यकऐ निर्वचन के लिए भारत की समस्त ग्रामीण बोलियों में प्रचलित लोक कथाओं, लोक गीतों, मुहावरों और कहावतों का अध्ययन अपरिहार्य है।

दोनों भाषाओं में समान-तत्व पर्याप्त मात्रा में हैं, परन्तु असमान तत्व भी कम नहीं है। भाषाध्यापन की दृष्टि से उनकी भी गणना होनी चाहिए। सरल वाक्यों के स्तर पर हिन्दी और तमिल में पदक्रम, अन्विति आदि के विषय में समानता पाई जाती है। इनमें से निषेध वाक्य और नेयुक्त वाक्यों के स्तर पर भारी असमानता है। तमिल में निषेध वाक्य कर्त्ता से अन्वित नहीं होते और हिन्दी में ने-युक्त वाक्य भी कर्त्ता से अन्वित नहीं होते। दूसरे, परिचयात्मक कॅूला वाक्यों के स्तरत पर तमिल के वाक्य क्रिया-निरपेक्ष होते हैं। जबकि हिन्दी में क्रिया सर्वत्र अनिवार्य तत्व है। यह तो हुई सरल वाक्यों की चर्चा, मिश्र और संयुक्त वाक्यों में हिन्दी की प्रकृति तमिल से भिन्न है। तमिल में "जो वह" "जब....तब" जैसे...वैसे का विस्तार अनावश्यक समझा जाता है, क्योंकि इन सभी स्थानों में सूक्ष्म और संक्षिप्त कृदन्त प्रयोग कमाल कर जाता है। उदाहरण के लिए :

1. कल जो वात मैंने कही थी (हिन्दी)

2. नेटु सोन्न विषयम् (कल कही बात) (तमिल)

यदि हम जरा चिंतन और मनन करें, श्रवण और निरीक्षण करें तो हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रभावशाली कृदन्त प्रयोगों को पा सकेंगे। शहरी और शिक्षितों के बीच में संस्कृत और अंग्रेजी के अनुकरण में विस्तृत मिश्र वाक्यशैली का प्रयोग तथा ग्रामीण क्षेत्रों में पाई जाने वाली सीधी सरल वाक्य शैली पुनः हिन्दी और तमिल की प्राकृतमूल-कर्त्ता की ओर संकेत कर रही है।

निष्कर्ष यही है कि भाषा एक व्यवस्था है। भाषा के नियम गणित के नियम के समान निश्चित हैं। धैर्य, निरीक्षणात्मक दृष्टि, विश्लेषणात्मिका वुद्धि तथा निष्ठापूर्ण अध्यवसाय का दृढ़ निश्चय लेकर भाषा देवी की उपासना की जाए तो भ्रम, जटिलता और गलत धारणाओं के पर्दे एक-एक करके हटते जाएंगे और तब लगेगा कि सभी भाषाओं का मूल एक ही है।

उड़िया : साहित्य, भाषा और राजभाषा

—प्रदीप कुमार बक्शी*

प्राचीन भारत के इतिहास में जिस क्षेत्र को कलिंग, उत्कल, उड्र आदि नामों से जाना जाता रहा है वह आज उड़िसा के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। यहां की भाषा उड़िया है जो भारतीय गणतंत्र की पन्द्रह भाषाओं में से एक है, अतः स्वतंत्र भारत के संविधान में स्वीकृत है। उड़िया भाषा का क्षेत्र मध्य प्रदेश और बिहार के क्रमशः पूर्वी और दक्षिणी जिलों, पश्चिम बंगाल के दक्षिण-पश्चिमी भागों और आन्ध्र प्रदेश के उत्तरवर्ती तटों का स्पर्श करता है। इस तरह उड़िसा भाषा की निमनलिखित भाषायी सीमा बनती हैः

उत्तर एवं उत्तर-पूर्व	— बंगला
उत्तर, पश्चिम	— बिहारी उपभाषाएं
दक्षिण	— तेलूगु
दक्षिण, पश्चिम	— हिन्दी की उपभाषा छत्तीसगढ़ी

इस तरह उड़िया भाषा उतर-पश्चिम एवं दक्षिण्-पश्चिम दोनों भागों में हिन्दी की उपभाषाओं से घिरी हैं। उड़िया की इस भाषायी स्थिति के परिणामस्वरूप इस पर मुन्डा परिवार का तथा निकटवर्ती भाषाओं का प्रभाव पड़ा है। सन् 1961 की जनगणना के अनुसार उड़िया भाषियों की संख्या 156,10,736 थी, जो 1971 की जनगणना में बढ़कर 1,97,26,745 हो गई। सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या के संदर्भ में उड़िया भाषा-भाषियों की संख्या 3.68 प्रतिशत ठहरती है।

उड़िया भाषा के विकास की एक सुदीर्घ परम्परा है। उड़ीसा के जउगढ़ पर्वत पर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में उत्कीर्ण अशोक के शिलालेख से उड़िया भाषा का प्रारंभ माना जाना है; साथ ही इसके परवर्ती उदाहरण इसके सौ वर्ष बाद जैन सम्राट खारवेल के भुवनेश्वर के खण्डगिरी पर्वत पर उत्कीर्ण शिलालेखों में भी प्राप्त होते हैं। भरत मुनि ने अपने "नाट्यशास्त्र" में भी 'उड्र' विभाषा का उल्लेख किया है। वैसे वाक्यों के रूप में उड़िया के प्राचीनतम उदाहरण पन्द्रहवी शताब्दी के प्राप्त होते हैं। सोलहवीं शताब्दी से तो चैतन्य प्रवर्तित वैष्णव धर्म के प्रभाव से प्राचीन उड़िया साहित्य का व्यवस्थित इतिहास का प्रारंभ माना जाता है। तब से लेकर अब तक उड़िया साहित्य की विविध विधाएं भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना बहुमूल्य योगदान देती आ रही हैं।

चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी अर्थात् पांच सौ वर्षों में उड़िया साहित्य ने भी अपने विकास और निर्माण के विविध चरणों को पार किया। मायाधर मानसिंह के शब्दों में इस काल के "सम्पूर्ण साहित्य का रूप ऐसा है कि उसमें धार्मिक और साहित्यिक दोनों तत्वों का सम्मिश्रण है। धार्मिक साहित्य में अकल्पनीय स्वप्न, भावना और कुण्ठाएं उन लेखकों के मन में मिलती है जो कि रामायण-महाभारत और भागवत पुराण के तीनों संयुक्त वर्तुलों के बाहर से कोई विषय लाने का साहस नहीं कर सके हैं।" लेखक के विचारानुसार साहित्य सृजन के उपर्युक्त संकुचित क्षितिज में भी महान तथा अमर कृतियों की रचना हुई। लेखक के मतानुसार यदि असंख्य भाव-गीतों तथा गीति-काव्यों को अगर छोड़ भी दिया जाए तो रामायण के कम से कम बारह अनुवाद और महाभारत के चार अनुवाद प्रसिद्ध हैं। इस युग के कवियों में लेखक ने बलराम दास, जगन्नाथ दास, चैतन्य और जयदेव, उपेन्द्र भंड, दीन कृष्ण दास, अभिमन्यु, सामन्तसिंहर, कविसूर्य बलदेव रथ, भक्त चरणदास, गोपालकृष्ण, भीमा भाई जैसे अत्यंत प्रसिद्ध कवियों और उनकी कृतियां का परिचय देते हुए यह स्थापित किया है कि सृजन के सीमित क्षेत्र होने के बावजूद भी जितनी कुशलता एवं व्यंजकता के दर्शन उपर्युक्त कवियों की रचनाओं में होते हैं वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। फकीर मोहन सेनापति को आधुनिक उड़िया साहित्य में राष्ट्रीयता की लहर फूंकने वाले रचनाधर्मी का स्थान प्राप्त है। उन्होंने सर्वप्रथम सहकारी ढंग पर मुद्रण, प्रकाशन और पत्रकारिता का काम किया। रामायण और महाभारत के कई उड़िया अनुवाद फकीरमोहन के पूर्व में ही हो चुके थे किन्तु उन्होंने पुनः सम्पूर्ण रामायण और महाभारत का मूल से उड़िया अनुवाद प्रस्तुत करके उन्हें जीवन्त बना दिया। फकीरमोहन की पैनी लेखनी ने गीतिकाव्य, भजन, खण्डकाव्य, परिहास-व्यंग्य-साहित्य, कहानियां, उपन्यास, महाकाव्य (बुद्ध पर) तथा अनुवाद साहित्य जैसी अनेक विधाओं को सजाया-संवारा है। राधानाथ राय, मधुसूदन राव जैसे महाकवियों ने फकीरमोहन के साथ जुड़कर उड़िया साहित्य के "बृहत्-त्रयी" का निर्माण किया जिसने साहित्य की सभी विधाओं में एक नई चेतना जागृत कर दी परवर्ती काल में उड़िया साहित्य विविध राजनैतिक गतिविधियों से प्रभावित होता रहा। नाटक और रंग मंच उपन्यास और आख्यायिका साहित्य परवर्ती काल में पर्याप्त लोकप्रिय हुए। राम शंकर राय, कामपाल मिश्र, भिवारी चरण पटनायक और गोविन्द सुरदेब ने उड़िया रंगभूमि को सामान्य मनोरंजन केन्द्र की सीमारेखा से ऊपर उठाकर समाज सुधार और राष्ट्रीय पुनरुत्थन समाज की व्यापक आकांक्षाओं के साथ समीकृत कर दिया। उड़िया गद्य को सजाने-संवारने का श्रेय राम शंकर फकीरमोहन, श्री रत्नकर पति, विपिन बिहारी राय, पंडित नीलकंठ दास, श्री शशिभूषण राय के ललित गद्य, गोपाल चन्द्र प्रहराज के पैने व्यंग्यों तथा पंडित गोप बंधु दास के काव्यमय निबंधों एवं भाषणों को है। सृजन के अन्य क्षेत्रों में भी उड़िया में कार्य प्रारंभ निबंधों की है। डा॰ भोलानाथ तिवारी के शब्दों में "उड़िया भाषा के इतिहास पर ओड़िया भाषा के इतिहास" शीर्षक पं॰ विनायक मिश्र का प्रसिद्ध ग्रंथ है। गोपाल प्रहराज का महत्वपूर्ण ग्रंथ "ओड़िया कोष" है जिसमें कई भाषाओं के तुलनात्मक शब्द दिये गये हैं। पं॰ गोपीनाथ नंद ने "ओड़िया भाषा तत्व" तथा गिरिजा शंकर राय ने "सरल भाषा तत्व" शीर्षक ग्रंथ लिखे हैं। इन लोगों के अतिरिक्त ग्रंडी तथा गोलोक बिहारी दल ने भी उड़िया भाषा पर कार्य

*भारत रिफैक्ट्रीज लि॰ रांची रोड, भरार (हजारी बाग)-829117

। जी०एस० राय का कार्य उड़िया व्याकरण पर हैं।

ड़िया शब्दावली में संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रमुखता है किन्तु व देशज शब्द भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। फारसी, अंग्रेजी देशी भाषाओं के शब्दों को भी उड़िया ने आज आत्मसात कर लिया है। उड़िया तद्भव शब्दावली का विकास मूलतः संस्कृत से पालि भाषा के मार्फत हुआः

संस्कृत	पालि	उड़िया
अद्य	अज्ज	आज
क्षण	क्खन	खन
नृत्य	नच्च	नाच
मत्स्य	गच्छ	माछ

डा० भोलानाथ तिवारी के मतानुसार उड़िया भाषा में आज राजनीतिक कारणों से तेलुगु और मराठी भाषाओं के शब्द पर्याप्त माला में आ मिले हैं।

राजभाषायी स्थिति

राजभाषा के रूप में भी आज उड़िया उड़ीसा राज्य प्रतिष्ठित हो चुकी है। राजभाषा के रूप में उड़िया के बिक हेतु जो महत्वपूर्ण कार्य किए गए हैं उनमें निम्नलिखित का विशिष्ट स्थान है:[10]

1. उड़ीसा राजभाषा अधिनियम, 1951 का पारित होना है।

2. अधिनियम के अन्तर्गत कोई भी विनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए उड़िया भाषा का प्रयोग प्राधिकृत कर सकने का राज्य सरकार को प्राधिकार प्राप्त होगाः

3. वर्ष 1966 की अधिसूचना के आधार पर पंचायत सामुदायिक, जनजातीय एवं ग्राम कल्याण, तथा शिक्षा विभाग आदि में सरकारी कामकाजी के प्रयोजनों के लिए दिनांक 15-5-1966 से उड़िया भाषा का प्रारम्भ सुनिश्चित किया जाना।

4. प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में उड़िया का अंगीकरण एवं पाठ्य-सामग्रियों का प्रकाशन।

5. राज्य सरकार के निदेशानुसार सन् 1968 से न्यायालयों में उड़िया भाषा का प्रयोग सुनिश्चित करने हेतु "उड़ीसा राजभाषा (विधायी) समिति" का गठन, एवं

6. सरकारी कामकाज में उड़िया भाषा का प्रयोग सुनिश्चित करने हेतु सहायक साहित्य का सृजन तथा अंग्रेजी उड़िया शब्द-संग्रह का सरकारी स्तर से प्रकाशन।

भारत के संविधान के अनुसार भारत संघ की राजभाषा हिन्दी है। हिन्दी के प्रयोग की दृष्टि से सम्पूर्ण उड़िया भाषा क्षेत्र को "ग" क्षेत्र में शामिल किया गया है। अतः उड़िया भाषा-क्षेत्र में भारत संघ की राजभाषा हिन्दी के प्रयोग के लिए लक्ष्य की निश्चित प्रतिशतता निर्धारित है। राजभाषा अधिनियम, 1963 के प्रावधानों के अनुसार इस क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकार के सभी कार्यालयों में नामपट्ट साइनबोर्ड, सामान्य आदेश, सूचनाएं, पत्रशीर्ष आदि के मदों को हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में तैयार कराना अनिवार्य है।

इस तरह सम्पूर्ण उड़िया भाषाभाषी क्षेत्र में राजभाषा के रूप में हिन्दी, अंग्रेजी और उड़िया तीनों ही वर्तमान काल में चलते हैं। केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में हिन्दी और अंग्रेजी में तथा राज्य सरकार के कार्यालयों में उड़िया और अंग्रेजी में सरकारी कामकाज निपटाए जा रहे हैं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. देखिए, भारत के संविधान की अनुसूची आठ
2. आज का भारतीय साहित्य—उड़िया, डा० मायाधर मानसिंह, पृष्ठ सं० 24
3. वही
4. भारतीय वाङ्मय—उड़िया, डा० मायाधर मानसिंह, पृष्ठ सं० 418—446
5. आज का भारतीय साहित्य—उड़िया, डा० मायाधर मानसिंह, पृष्ठ सं० 26
6. वही
7. वही
8. भाषाविज्ञान, डा० भोलानाथ तिवारी पृष्ठ सं० 473
9. वहां
10. भारतीय भाषाएं, कैलाशचन्द्र भाटिया, पृष्ठ सं० 67-68
11. भारत का संविधान, अनुच्छेद 343
12. राजभाषा (संघ के सरकारी प्रयोजनों के लिए प्रयोग) नियम, 1976 का नियम 2 (ज)
13. राजभाषा अधिनियम, 1963 (संशोधन अधिनियम, 1967) की धारा 3 (3)।

□

पृष्ठ 54 का शेषांश

पर सिंधी में कुछ विशिष्ट ध्वनियां हैं जो अन्य किसी भारतीय में नहीं हैं। वे हैं—अन्तःस्फुट व्यंजन—ग, ब, ज, और द। इनके अन्तःस्फुट रूप को व्यक्त करने के लिये बहिःस्फुट रूप के नीचे रेखा देने का सुझाव दिया गया है। यथाः—ग, द, ब।

(6) कश्मीरी भाषा में उ, ऊ, के कुछ विशिष्ट उच्चारण भी हैं और उनको व्यक्त करने के लिये भी अधो रेखांकित करने की पद्धति का निर्णय किया गया है—ऊ, ऊ, ु ू। इसी प्रकार कश्मीरी के दन्त्य चवर्ग के लिये भी व्यवस्था की गई है—च, छ,।

इन परिवर्धनों के पश्चात् देवनागरी लिपि इस योग्य हो जाती है कि उसके माध्यम से संविधान की अष्टम अनुसूची में उल्लिखित सभी भाषाएं लिखी जा सकेंगी। इस दिशा में व्यावहारिक प्रयोग किया जा चुका है। केन्द्रीय हिंदी निदेशालय की 'भाषा' पत्रिका विविध भारतीय भाषाओं के साहित्य को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करती रही है और उनमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई है। साहित्य अकादमी ने भी कुछ हिंदीतर भाषाओं का साहित्य देवनागरी में प्रकाशित किया है। इसलिए यह माना जा सकता है कि समिति द्वारा सुझाये गये निर्णय उपयुक्त हैं और भारत का संपूर्ण श्रेष्ठ वाङ्मय परिवर्धित देवनागरी लिपि में ही उपलब्ध हो जाये तो वह भारतीय साहित्य की परस्पर दूरी को कम करेगा और भारतीय साहित्यकारों और साहित्य रसिकों को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न कर सकेगा। □

पंजाबी: साहित्य, भाषा और राज्यभाषा

कुलभूषण कालड़ा*

पंजाब राज्य की भाषा पंजाबी है। भाषा विज्ञानी पश्चिमी पंजाबी तथा पूर्वी पंजाबी में अन्तर मानते हैं मगर यह अन्तर बहुत थोड़ा है। पंजाबी की लिपि गुरमुखी है तथा उसकी उप-बोलियां डोगरी, माझी दोआबी मलवई, पुआधी-राठी, भरिआणी, लहिन्दी तथा पोठोहारी है इसका जन्म 11वीं शताब्दी के आरम्भ में उस समय की प्रांतीय लोक बोलियां टकी तथा कैकयी के आधार पर शोरशैनी एवं पैशाची अपभ्रंश के संयोग से हुआ।

गुरुओं ने अपने समय में लोक बोलियों का ही पक्ष लिया तथा उन्होंने अपने अध्यात्मिक गीत व सामाजिक सुधार के सन्देश इन्ही में दिए। गुरू अर्जुन देव जी ने गुरमुखी साहित्य का 1601 में गुरू ग्रंथ साहिब के रूप में संपादन करके न केवल पंजाबी बोली को बल्कि हिन्दुस्तानी को भी अमूल्य खजाना दिया।

गुरूओं के अलावा उस शताब्दी में दामोदर ने मुलतानी रंग की ठेठ पंजाबी में हीर की प्रेम कहानी लिखी। इसी प्रकार शाह हुसेन की काफियां टक्साली पंजाबी के स्वच्छ रूप को प्रकट करती है।

17वीं शताब्दी में भाई गुरदास ने समाज सुधार तथा सिखी प्रचार हेतु बारे लिखी। 18वीं शताब्दी में कविवारिस शाह ने हीर लिख कर पंजाबी को घर-घर घुमा दिया।

सर्वप्रथम पूरोपीय लिखित एडलिंग की मिथरीडेटस (1806 ई० बर्लिन) में पंजाबी नाम का प्रयोग किया गया। उसके पश्चात पंजाबी ग्रामर तथा पंजाबी डिक्शनरी नाम के अंतर्गत अंग्रेजी द्वारा बहुत सी किताबें लिखी गई।

पंजाबी चाहे देवनागरी, उर्दू लिपि तथा रोमन इत्यादि लिपियों में लिखी जा सकती है मगर गुरमुखी लिपिही पूर्ण तौर पर पंजाबी धुनी व्यक्त कर सकती है।

अनेक कबीलों और जातियों की भाषाओं के शब्द पंजाबी भाषा में सत्सम में तद्भाव रूप में लिए गए हैं—दुध (दुगध) तथा कादी (काज़ी) इत्यादि।

पंजाबी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द आवश्यकतानुसार इस प्रकार लिए गए हैं कि वह उसमें ढल कर के ही बन जाते हैं। उदाहरणतया चबचा तसीदा, गव इत्यादि शब्द फारसी में से लिए गए हैं।

पंजाबी की वर्णमाला के 35 अक्षरों को उच्चारण स्थान के अनुसार निम्नानुसार बांटा गया है।

(1) कंठी

(2) तालबी

(3) मर्धनी

(4) दंदी

(5) होंठी

(6) अनुनासिक

पंजाबी के 35 मूल स्वरों में तीन स्वर (ੳ ੲ ਏ) हैं तथा शेष 32 व्यंजन है। कुल अक्षर सात-सात कतारों में बांट दिए गए हैं। पहली कतार के तीन स्वरों में 'स' तथा 'ह' जोड़ दिए गए हैं तथा उनका क्रम निम्नानुसार है:—

पंजाबी					हिन्दी				
ੳ	ਅ	ੲ	ਸ	ਹ	उ	अ	ई	स	ह
ਕ	ਖ	ਗ	ਘ	ਙ	क	ख	ग	घ	ङ
ਚ	ਛ	ਜ	ਝ	ਞ	च	छ	ज	झ	ञ
ਟ	ਠ	ਡ	ਢ	ਣ	ट	ठ	ड	ढ	ण
ਤ	ਥ	ਦ	ਧ	ਨ	त	थ	द	ध	न
ਪ	ਫ	ਬ	ਭ	ਮ	प	फ	ब	भ	म
ਯ	ਰ	ਲ	ਵ	ੜ	य	र	ल	व	ड़

पंजाबी वारतक रचना

यह ठीक है कि पहले पंजाबी का प्रयोग कविता हेतु किया गया तथा वारतक बहुत बाद में अस्तित्व में आई, पर अगर हम गोरखनाथ को साधुकड़ी प्रधान पंजाबी का कवि मानते हैं तो गोरख की वारतक में लिखी पुस्तक भी साधुकड़ी प्रधान पंजाबी की पहली पुस्तक है। श्री गुरू नानक देव जी के सचखंड जाने के बाद गुरू अंगद देव जी ने बाले से बाबा जी की जीवनी सुनी। दूसरी साखी पोठोहारी बोली में 1558 ई० की लिखित बताई जाती है। इसी प्रकार तीसरी जन्मसाखी 1625 से पहले की लिखी बताई जाती है। आगे चलकर भी विधी चन्द की साखी 1640 ई० में तथा मेहरवान की जन्म साखी गुरू अर्जुन देव जी के समय में लिखी गई इन जन्म साखियों की वारतक में काव्यरंग तथा रस मौजूद है छोटे-छोटे वाक्य हैं।

गुरमुखी नामकरण

श्री गुरु नानक देव जी ने जहां पंजाबी भाषा को अपनाया वहां पंजाबी वर्णमाला को भी महत्व दिया। अन्य गुरूओं ने भी उन अक्षरों में अपनी वाणी लिखी लिखी। गुरूओं के सिखों को उस समय अधिकतर गुरमुख कहा जाता था। इन गुरमुखों ने गुरूओं द्वार बरती लिपि को ही अपनी बिचारों को लिखितबद्ध करने का साधन बनाया।

*राज भाषा अधिकारी स्टेट बैंक आफ पटियाला,
माल रोड, पटियाला-147001

गुरमुखों द्वारा प्रयोग की जाने वाली "अर्ध नागरी लिपि' अब गुरमुखी नाम से प्रसिद्ध हो गई। गुरमुखी वास्तव में लिपि का नाम है। पंजाबी भाषा का नहीं।

राजनीतिक तौर पर पंजाब की सरहदें

लाहौर को पंजाब की राजधानी बनाया गया तथा शीघर ही यह शहर विद्या, साहित्व व कला का केन्द्र बन गया। हिंदी बोली के स्थान पर केन्द्रीय पंजाबी का महत्व बढ़ा क्योंकि यह लाहौर की स्थानीय बोली थी। सन् 1860 इ० में भाषा विभाग आरम्भ हुआ—लड़कों को उर्दू पढ़ना अनिवार्य था मगर लड़कियों को पंजाबी की परीक्षा देने की अनुमति मिल गई। सन् 1883 इ० में पंजाब यूनिर्वसिटी स्थापित हुई। फारसी, संस्कृत व अरबी की परीक्षाओं के साथ-साथ उर्दू, हिन्दी व पंजाबी की परीक्षाएं भी आरम्भ हुई। उर्दू लिपि में भी पंजाबी भाषा की तीन परीक्षाएं शुरू हुई। इस तरह से पंजाबी का प्रचार प्रसार आरम्भ हुआ।

आधुनिक पंजाबी का प्रारंभिक समय

आदिकाल

आदिकाल को हम दो भागों में बांट सकते हैं। पहला भाग 700 ई० से 1000 ई० तक तथा दूसरा भाग 1000 ई० से गुरु नानक देव जी तक अथवा 1526 ई० तक। इस लम्बी अवधि में पंजाबी अपभ्रंश से निकलकर अपना अलग अस्तित्व स्थापित करती है। क्रियाएं संयोगात्मक स्थिति से वियोगात्मक स्थिति को प्राप्त करती है। कर्ता, कर्म तथा सम्बन्ध कारकों में परिवर्तन आता है और पंजाबी से अलग रूप में स्वतन्त्र रूप से आगे बढ़ती है। पहले मुलतान में भाषा परिवर्तन का केन्द्र बनता है तथा 1000 ई० में लाहौर इस भाषा की टकसाल तथा गढ़ बन जाता है और युद्धों के आगमन से अमृतसर इस भाषा का प्रसिद्ध केन्द्र बनता है।

मध्यकाल

(पंजाबी का स्वर्ण युग)

यह काल स्वर्ण युग कहा जाता है। यह युग 1526 ई० से मुगल शासन से आरम्भ होता है तथा पंजाब में अंग्रेजों के शासन के साथ समाप्त हो जाता है। इसकी अवधि 1526 ई० से 1850 ई० तक निर्धारित की जा सकती है। इस काल में बहुत सी घटनाएं घटती है। लोधी बंश के बाद मुगल बंश भारत का शासक बनता है। मुगलकाल में राजा टोडरमल की नीति से हिन्दू फारसी विद्या की प्राप्ति में लग जाते हैं तथा मुसलमान स्थानक बोलियों में साहित्य रचना करना अपना कर्तव्य समझते हैं। श्री गुरू नामक स्वयं पंजाबी को अपने विचारों का माध्यम चुनते हैं। गुरूओं के अलावा इस काल में शाह हुसैन आदि मुसलमान सूफी तथा कहानीकार पंजाबी भाषा को धनी बनाते हैं।

आधुनिक काल

इस काल को भी दो भागों में रखा जा सकता है—पहले 1850 ई० से 1947 ई० तक तथा 1947 ई० से आज तक—

इस काल में बड़े राजनीतिक उतार चढ़ाव में जन्मे महाराज रणजीत सिंह पंजाब की शासन डोर संभालते हैं। इस शासन में पंजाबी भाषा तथा साहित्य अंग्रेजी साहित्य व भाषा से प्रभावित होता है। हीर वारिस शाह टक्साली भाषा में लिखी जाती है। आर्य समाज तथा सिंह सभा जैसी धार्मिक संस्थाएं अपना अस्तित्व कायम करती हैं जिनके द्वारा हिन्दी तथा पंजाबी भाषा की प्रगति होने लगती है। 1947 ई० में फिर शासन परिवर्तन होता है तथा अंग्रेजों का युग समाप्त होता है। भारत की स्वतंत्रता के बाद पंजाबी भाषा तथा साहित्य में एक नयी जागृति पैदा होती है। साहित्यकारों तथा कवियों का झुकाव एक नए क्षेत्र की तरफ जाता है।

यह ठीक है कि पंजाब में अंग्रेजी राज्य भारत के शेष प्रदेशों की अपेक्षा वाद में स्थापित हुआ मगर पंजाबी लोग अंग्रेजी साहित्य से बहुत शीघ्र प्रभावित हुए—पंजाबी ने आधुनिकता की तरफ वहन शीघ्रता से कदम बढ़ाए—आज इसके नवीन साहित्य के रंग में कविता, उपन्यास मिनी कहानी, नाटक एकांकी, निबन्ध, रचना विज्ञान भाषा विज्ञान साहित्य का इतिहास, आलोचना का इतिहास लोकगीत इत्यादि मौजूद हैं। यह सब पंजाबी की अमीरी तथा सजन शक्ति के सूचक हैं।

राजभाषायी स्थिति

पंजाबी को प्रथम रूप में राजभाषा का दर्जा महाराजा भूपिन्दर सिंह पटियाला द्वारा दिया गया जैसाकि सन् 1911 के शाही फरमानों तथा सन् 1912 में पटियाला रियासत के परिपत्रों से स्पष्ट है। किसी प्रकार महाराज यादविन्द्र सिंह द्वारा 23-12-1947 को पंजाबी विभाग बनाने हेतु योजना को अपनी स्वीकृति प्रदान की गई।

इसके अलावा पैपसू अदालतों की भाषा हेतु पटियाला तथा पूर्वी रियासती संघ अदालनी आर्डीनेस विक्रमी 2005 सम्वत् (2005 का 2) की धारा 11 के अधीन यह निश्चित किया गया था कि हाई कोर्ट की भाषा अंग्रेजी अथवा गुरमुखी अक्षरों में पंजाबी होगी।

26 जनवरी, 1949 को भारतीय संविधान में देश की 14 विकसित बोलियों को राष्ट्रीय भाषाओं का दर्जा प्राप्त हुआ। संविधान की अनुसूची 8 में पंजाबी भाषा अक्षर क्रम अनुसार दसवें नम्बर पर दर्ज हुई। भारतीय गणतंत्र के अलग-अलग राज्यों ने भारतीय संविधान की धारा 345 के अन्तर्गत अपने-अपने राजभाषा अधिनियम बनाए तथा लगभग सभी भारतीय बोलियों को राभाषाओं का दर्जा प्राप्त हो गया।

पंजाबी भाषा के विकास तथा इसे उच्च स्तर पर शिक्षा का माध्यम बनाने हेतु पंजाब विकान मण्डल द्वारा 1961 में पंजाबी यूविर्सिटी एक्ट पास किया गया तथा 1962 में राष्ट्रपति डा० राधा कृष्णन ने पटियाला (पंजाब) में इस युनिवर्सिटी का उद्घाटन किया।

प्रथम नवम्बर, 1966 को बोली के आधार पर नए एक भाषी पंजाब का पुर्नगठन हुआ और इस सम्बन्ध राजभाषा अधिनियम 29-12-1967 को पंजाब के राज्यपाल द्वारा पारित हुआ।

उस समय पंजाब सरकार द्वारा इस अधिनियम की धारा 4 के अनुसार सरकारी कामकाज पंजाबी में करने के लिए तिथियां निश्चित कर दी गई तथा इस उद्देश्य हेतु 13 अप्रैल 1968 वैसाखी का शुभ दिन चुना गया।

पंजाब राजभाषा अधिनियम, 1967

भारत गणराज्य के 18वें वर्ष में पंजाबराज्य के किशान मण्डल द्वारा निम्नानुसार कानून बनाए गए:—

संक्षिप्त नाम, विस्तार एवं प्रारंभ

(1) इस अधिनियम को पंजाब राभाषा अधिनियम 1967 कहा जाएगा। शेष पृष्ठ 83 पर

क्या हिन्दी राजभाषा एक वोट से हुई?

—ब्रज किशोर शर्मा,

जब भी हिन्दी के संविधान के रूप में स्वीकार किए जाने की बात चलती है तो बहुधा लोग यह कहते हैं कि हिन्दी को एक वोट के बहुमत से राजभाषा स्वीकार किया गया है। 1977 के सितम्बर में हिन्दी दिवस केआस-पास अंग्रेजी के अनेक दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में प्रकाशित लेख और सम्पादक के नाम पाठकों के पत्रों में इस बात का उल्लेख किया गया। कभी-कभी तो ऐसा भी आभास होता है कि यह हिन्दी विरोधियों का सुनियोजित षडयंत्र है क्योंकि जब भ्रम निवारण केलिए सम्पादक के नाम पत्र भेजे जाते हैं तो वे प्रकाशित नहीं किए जाते।

इस लेख में संविधान में हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने की प्रक्रिया की समीक्षा की गई है। 10.46 में जब संविधान सभा बनी तब अंग्रेजी ही एक मात्र भाषा थी जिसमें संधिान का प्रारूप तैयार किया जा सकता था क्योंकि प्रारूपण समिति में जितने भी सदस्य थे वे यदि किसी एक भाषा में पारंगत थे तो अंग्रेजी में। 14 सितम्बर, 1946 को संविधान सभा की नियम समिति ने डा० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में यह निर्णय किया कि संविधान सभा का कामकाज हिन्दुस्तानी या अंग्रेजी में किया जाना चाहिए और अध्यक्ष की अनुमति के कोई भी सदस्य सदन में अपनी मातृभाषा में भाषण दे सकेगा। संघ संविधान समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की थी कि संघ की संसद की भाषा हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी होगी और सदस्यों को अपनी मातृभाषा का प्रयोग करने की छूट होगी। प्रान्तीय संविधान समिति ने यह सिफाशि की कि प्रान्तीय विधान मण्डलों में कामकाज प्रान्त की भाषा या भाषाओं में किया जाएगा अथवा हिन्दुस्तानी या अंग्रेजी में।

14 जुलाई, 1947 को जब संविधान सभा का सत्र प्रारम्भ हुआ तब सत्र के दूसरे ही दिन यह संशोधन प्रस्तुत किया गया कि 'हिन्दुस्तानी' के स्थान पर 'हिन्दी' शब्द रखा जाए। 16 जुलाई को ही संविधान सभा काग्रेस पार्टी में इस विषय पर विचार-विमर्श शुरू हुआ। विचार-विमर्श के दौरान नेता एक ओर थे और साधारण सदस्य उनके विरूद्ध दूसरी ओर। इस मतदान में हिन्दी के पक्ष में 63 वोट थे और हिन्दुस्तानी के पक्ष में 32। इसी प्रकार एक दूसरे मतदान में देवनागरी लिपि के पक्ष में 63 वोट थे और विपक्ष में 18। दूसरे दिन संविधान सभा की बैठक में सरदार पटेल ने यह अनुरोध किया कि प्रान्तीय विधान मण्डलों की भाषा के प्रश्न को अभी न लिया जाए।

1948 में हिन्दी के बारे में अनेक बातें उठीं। फरवरी 1948 में संविधान का जो प्रारूप प्रस्तुत किया गया उसमें भाषा के लिए कोई अलग से अध्याय नहीं था, किन्तु उसमें यह उपबन्ध अवश्य किया गया था कि संसद की भाषा अंग्रेजी या हिन्दी होगी और प्रान्तीय विधान मण्डलों में प्रान्तीय भाषाओं के अतिरिक्त इन दोनों भाषाओं का प्रयोग किया जा सकेगा। फरवरी और नवम्बर, 1948 के बीच संविधान के प्रारूप में हिन्दी के पक्षधरों द्वारा 29 संशोधन प्रस्तुत किए गए । ये मुख्यतः थी घनश्याम सिंह गुप्त, सेठ गोविन्द दास, श्रीशिब्बनलाल सक्सेना और श्री वी०डी० त्रिपाठी द्वारा पेश किए गए थे। इन संशोधनों के विपरीत संशोधन श्री के०टी० शाह, श्री सच्चिदानंद सिन्हा आदि द्वारा प्रस्तुत किए गए थे।

5 अगस्त, 1949 को आंग्रेस वर्किंग कमेटी ने द्विभाषीय क्षेत्रों के बारे में एक संकल्प तैयार किया। यद्यपि इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह द्विभाषीय क्षेत्रों के बारे में था किन्तु इसमें भाषा के बारे में कांग्रेस पार्टी के विचार व्यक्त किए गए थे। इस संकल्प का प्रारूप मुख्यतः डा० राजेन्द्र प्रसाद ने तैयार किया था और प्रारूप तैयार करते समय जो सदस्य उपस्थित थे उनके नाम हैं श्री पट्टाभि सीतारमैया, सरदार पटेल, मौलाना आजाद, पंडित नेहरू, पंडित पन्त, श्री पी०सी० घोष, कामराज नाडार, शंकर राव देव, श्री एस०के० पाटिल, श्री प्रताप सिंह, श्री देवेश्वर शर्मा, सुचेता कृपलानी, के०बी० राव और निजलिंगप्पा।

5 अगस्त के संकल्प की प्रक्रिया तुरन्त हुई। 6 और 7 अगस्त को संविधान सभा की कोई भी बैठक नहीं हुई। किन्तु कांग्रेस दल के कार्यालय में भाषा नीति के बारे में हजारों पत्र आए। इसी बीच सेठ गोविन्द दास की अध्यक्षता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने नई दिल्ली में एक राजभाषा सम्मेलन किया जिसमें हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकार भी एकत्र हुए। इस सम्मेलन में हिन्दी भाषा और नागरीलिपि को राजभाषा के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव पारित किया गया।

8 अगस्त को जब संविधान सभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ तो उस दिन के परिपत्र में संविधान के प्रारूप संबंधी उपबन्धों पर अनेक संशोधन थे। एक संशोधन पर 82 सदस्यों के हस्ताक्षर थे। इनमें से पहला नाम आचार्य जुगल किशोर का था जो 1948 में काग्रेस के महामंत्री थे। अनेक हस्ताक्षरकर्ता दक्षिण भारत के थे।

9 अगस्त, 1948 को कुछ सदस्यों ने इन संशोधनों का विरोध किया और अपराह्न में सभाई कांग्रेस पार्टी की बैठक में इसका विरोध किया। विरोध इस बात पर था कि अंग्रेजी कितने वर्षों तक चलेगी। विरोध कर्ताओं का यह कहना था कि अंग्रेजी राजभाषा के रूप में 15 वर्ष तक चले। यहां तक हिन्दी के संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने की बात है मीटिंग में इस बारे में कोई मतभेद नहीं था। सदस्यों में अगर मतभेद था तो वह इस बात पर कि हिन्दी का स्वरूप क्या हो, अर्थात् उसमें शब्द अरबी फारसी के लिए जाएं या संस्कृत से। सदस्यों ने समस्या का हल निकालने के लिए एक समिति का गठन किया जिसके सदस्य थे—श्री गोपाल स्वामी आयंगार, श्री टी०टी० कृष्णामाचरी, श्री ए०के० अय्यर, श्री के०एम० मुंशी, श्री भीम राव अम्बेडकर, श्री सआदुल्ला,

पूर्व अपर सचिव एवं प्रारूपकार, राजभाषा खंड, विधायी विभाग,

श्री एल० एम० राव, मौलाना आजाद, पंडित पन्त, राजर्षि टण्डन, श्री बालकृष्ण शर्मा, श्री श्यामा प्रसाद मुखर्जी और श्री के० सन्थानम्।

हिन्दी को राजभाषा के रूप में शीघ्र प्रतिष्ठित करने के लिए 82 सदस्यों के हस्ताक्षर से जो संशोधन पेश किया गया था उसके जवाब में 15 वर्ष तक अंग्रेजी को चालू रखने के लिए 44 सदस्यों के हस्ताक्षर से एक अन्य संशोन पेश किया जिसमें सबेस पहला नाम श्री के० सन्थानम का था और अन्य हस्ताक्षरकर्ताओं में मुख्य लोग थे—श्री कृष्णामाचारी, श्रीमती दुर्गा बाई, श्री ए०के० अय्यर और श्री अनन्तशयनम् अयंगार।

जहां तक हिन्दी के स्वीकार किए जाने की बात है दोनों ही पक्षों में इसके बारे में कोई असहमति नहीं थी। मत-भिन्नता केवल इस बात पर थी कि अंग्रेजी कब तक चलती रहे। इसी संशोधन में 10 अगस्त को यह प्रस्ताव रखा गया कि संघ और राज्य के शासकीय प्रयोजन के लिए अरबी अंकों का प्रयोग किया जाए। 10 से 17 अगस्त तक भाषा के बारे में सभाई पार्टी में गरमागरम बहस चलती रही। 16 अगस्त को विशेष समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट में अरबी अंकों के स्थान पर "अन्तर्राष्ट्रीय अंक" अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया। 22 अगस्त को डा० अम्बेडकर ने समझौते के रूप में एक प्रस्ताव पेश किया। इसके बाद दस दिनों तक अंकों और 15 वर्ष की अन्तरिम अवधि के बारे में संविधान सभाई पार्टी में बहस चलती रही। इस बहस के दौरान जो विचार सामने आए उन्हें ध्यान में रखते हुए संविधान के उपबन्धों को जो रूप दिया गया उसे मुंशी आयंगार सूत्र कहते हैं। कांग्रेस संविधान सभा दल में 26 सगस्त को अंकों के बारे में जो बहस हुई उसमें बड़ी गरमागरमी हुई। श्री पट्टाभि सीतारमैया अध्यक्षता कर रहे थे और इस प्रश्न के लिए हाथ उठा कर मतदान हुआ। किन्तु कुछ लोग इससे असन्तुष्ट थे और उन्होंने विभाजन की मांग की। लाबी में जब मतगणना हुई तो पक्ष-विपक्ष मेंएक बराबर मत थे। अर्थात् प्रत्येक पक्ष को 74 मत प्राप्त हुए। एक सदस्य पटियाला के काका भगवन्त राय हिन्दी के पक्ष में वोट देकर चले गए थे और सेठ गोविन्द दास आदि का कहना था कि उनका मत हिन्दी के पक्ष में माना जाना चाहिए। किन्तु बाद में डा० सीतारमैया और पंडित नेहरू के अनुरोध पर इस बारे में निर्णय स्थगित कर दिया गया।

2 सितम्बर की शाम को मुंशी आयंगार सूत्र पर विचार विमर्श प्रारम्भ हुआ। अध्यता पट्टाभि सीतारमैया कर रहे थे। यहां भी जो मुख्य बहस थी वह तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को लेकर थी और कोई भी निर्णय नहीं हो सका। परिणामस्वरूप सभाई कांग्रेस पार्टी में सहमति के अभाव में भाषा विवाद संविधान में उसी रूप में प्रस्तुत किया गया और कोई विप जारी नहीं किया गया।

डा० अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'थाट्स आन लिंग्विस्टिक स्टेट्स' में यह लिखा है कि जिस अनुच्छेद पर सबसे ज्यादा विवाद हुआ वह हिन्दी के प्रश्न पर था। सबसे अधिक विरोध इसी पर हुआ सबसे अधिक गरमागरमी भी इस पर हुई। लेकिन विवाद केबाद जब इस प्रश्न पर मतदान हुआ तो पक्ष और विपक्ष में 78-78 वोट थे। पुनर्विचार के बाद जब पुनः मतदान हुआ तो हिन्दी के पक्ष में 78 और विपक्ष में 77 मत थे। सेठ गोविन्ददास ने अपनी आत्मकथा में इसी प्रकार की बात लिखते हुए यह भी उल्लेख किया है कि पटियाला के काका भगवन्त राय हिन्दी के पक्ष में अपना मत देकर और यह जानकर कि मतदान उनके पक्ष में हुआ है बाहर चले गए।

दोनों लेखकों ने जिस घटना का उल्लेख किया है वह 26 अगस्त को कांग्रेस सभाई पार्टी मीटिंग का वर्णन है, संविधान सभा का नही। ऐसा प्रतीत होता है कि डा० अम्बेडकर और सेठ गोविन्ददास ने नागरी अंकों के पक्ष में उस बहुमत का भ्रमवश इस प्रकार उल्लेख किया है। यह उल्लेखनीय है कि संविधान सभा में सभी निर्णय एक मत से हुए। सभाई पार्टी की बैठकों में निर्णय लेने के पहले जो मतदान होता था, उसके आधार पर अन्तिम विनिश्चय नहीं किया जाता था। उसके बाद भी बातचीत चलती रहती थी और समझौता करके आगे एक मत से फैसला किया जाता था।

2 सितम्बर की बैठक के बाद भी हिन्दी के मामले में समझौता ढूंढने का प्रयास जारी रहा। संविधान सभा में भाषा संबंधी उपबन्ध पर विचार 12 सितम्बर को प्रारम्भ होना था। 10 सितम्बर के संविधान सभा के परिपत्र में भाषा संबंधी जोसंशोधन थे वे 45 पृष्ठों में छपे थे। यह उल्लेखनीय है कि डा० अम्बेडकर और श्री कृष्णामाचारी सहित 28 सदस्यों ने एक संशोधन पेश करके यह मांग की कि संस्कृत को राजभाषा बनाया जाए।

12 सितम्बर को बहस प्रारम्भ होते ही डा० राजेन्द्र प्रसाद ने सदस्यों से यह अनुरोध किया कि वे संयत भाषा का प्रयोग करें और ऐसा कुछ न कहें जिससे दूसरों की भावना को ठेस पहुंचे। इसके बाद श्री गोपाल स्वामी आयंगार ने मुंशी-आयंगार सूत्र पर आधारित उपबन्ध पुरःस्थापित किए। सेठ गोविन्द दास ने इसका विरोध किया। उसी दिन शाम को राजर्षि टण्डन, पंडित रविशंकर शुक्ल, सेठ गोविन्ददास आदि ने कुछ और संशोधन तैयार किए। 13 तारीख की बहस में डा० श्यमाप्रसाद मुखर्जी, पंडित जवाहरलाल नेहरु आदि दिग्गजों ने भाग लिया। तीसरे दिन की वहस में डा० रघुवीर, राजर्षि टंडन, मौलाना आजाद और शंकर राव देव आदि ने अपने विचार व्यक्त किए।

14 सितम्बर को 1 बजे बैठक स्थगित हुई। इसी दिन अपराह्न में इस विषय पर अन्तिम फैसला होना था। किन्तु विचार-विमर्श से समझौते की कोई शक्ल उभरती नजर नहीं आ रही थी। 3 बजे संविधान समाई पार्टी ने समझौते के प्रयास में बैठक आरम्भ की। इसकी अध्यक्षता पट्टाभिसीता रमैया ने की। विधान सभा का सत्र 5 बजे प्रारहम्भ होना था और तभी सदस्यों में कुछ सहमति हुई। वे संविधान सभा में प्रविष्ट हुए और उन्होंने अध्यक्ष से अनुरोध किया कि वे उन्हें ब्यौरे की बातों को हल करने के लिए एक घंटे का समय और दें। 6 बजे तक सभी पहलुओं पर विचार कर मुंशी-आयंगार सूत्र में सुधार कर दिया गया और सभी सदस्यों ने मुक्ति की सांस ली।

समझौते के रूप में मुंशी-आयंगार सूत्र में 5 संशोधन किए गए। समझौता होजाने के बाद संविधान सभा में यह तय किया गया कि सभी सदस्य अपने संशोधन वापस ले लेंगे और सूत्र का समर्थन करेंगे। इस बारे में एक विप भी जारी किया गया। परिणामस्वरूप लगभग 400 संशोधन वापस लिए गए। केवल 5 सदस्यों ने संशोधन वापस नहीं लिए। उनमें से 3 कांग्रेसी थे जिनके नाम हैं श्री ब्रजेश्वर प्रसाद, श्री शिब्बनलाल सक्सेना और राजर्षि टण्डन। दो सदस्य मुस्लिम लीग के थे श्री नजीरूद्दीन अहमद और जेड०एच० नारी। इन सबके संशोधन गिर गए और मुंशीलआयंगार सूत्र तालियों की गड़गड़ाहट में पारित हुआ। यह कार्यवाही 14 सितम्बर को हुई और तभी से 14 सितम्बर को हिन्दीलदिवस के रूप में मनाया जाता है।

बँगला : भाषा, साहित्य और समाज

अवधेश मोहन गुप्त*

बंगला, भाषा पूर्वी भारत की अत्यन्त महत्वपूर्ण और साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध भाषा है। इसे बंगाली या बांग्ला/बाङला नामों से भी अभिहित किया जाता है। भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं में भी बोलने वालों-की संख्या, साहित्यिक परंपरा तथा प्राचीनता की दृष्टि में बंगला का विशेष स्थान है। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से भारत में इस समय हिन्दी और तेलुगु के बाद बंगला का ही स्थान है। सन् 1971 की जनगणना के समय भारत में 4,45,21, 533 बंगला भाषी थे। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से बंगला विश्व की दसवें स्थान की भाषा है : अतः इसका अंतरराष्ट्रीय महत्व भी है। भारत में बंगला पश्चिम बंगाल, असम के दक्षिणी जिलों तथा त्रिपुरा में प्रयुक्त होती है। भारत के पड़ोसी देश बंगला देश की भाषा भी बंगला ही है।

'बंगालियों' या 'बंगाल क्षेत्र' की भाषा होने के कारण इसका नाम 'बंगला'/'बांग्ला'/'वाङला' पड़ा। 'बंगाल' का पूर्वज शब्द 'बंग' था। 'बंग' शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में विद्वानों में कुछ मतभेद है। एक मत यह है कि आस्ट्रिक परिवार की एक उपजाति 'म्युअह' इस प्रदेश में रहती थी जो आर्य भाषा में 'बंग' बन गया। दूसरी ओर डा० सत्येन्द्र के अनुसार "चीनी प्रमाण से विदित होता है कि भारत के बौंगलौंग प्रदेश के नागबंश के लुक-लाभ ने अन्जाम में राज्य स्थापित किया था। यह "बौंगलौंग" ही तो 'बांगला' है, जिससे बंगाल व्युत्पन्न हुआ है।" पहले मन के अनुसार मुस्लिम शासनकाल में 'बंग' शब्द से ही 'बंगला' और बंगाली' शब्दरूप चले थे।

भौगोलिक दृष्टि से भारत का बंगला-भाषी क्षेत्र असमी, नेपाली, उड़िया और मैथिली भाषी क्षेत्रों से घिरा हुआ है। ये सभी भाषाएं दसवीं शताब्दी के आसपास विकसित हुई हैं।

क्षेत्रीय रूपों की दृष्टि से बंगला के दो प्रमुख रूप माने जाते रहे हैं——'पूर्वी' जिसका केन्द्र ढाका था और 'पश्चिमी' जिसका केन्द्र 'कलकत्ता' है। 'पूर्वी' बंगला के उपरूपों में 'उत्तरी', 'उत्तर-पूर्वी' और 'पूर्वी' है जो बंगला देश में व्यवहृत होते हैं। 'पश्चिमी' 'बंगला' पश्चिमी बंगाल में व्यवहृत होते हैं। 'पश्चिमी' 'बंगला' पश्चिम बंगाल में प्रयुक्त होती है और इसके, उपरूपों में 'पूर्वी' केन्द्रीय', 'पश्चिमी केन्द्रीय', 'उत्तरी केन्द्रीय', 'पूर्व-दक्षिण-पश्चिमी' तथा 'पश्चिम-दक्षिण-पश्चिमी' प्रमुख हैं। बोली-विज्ञान की दृष्टि से 'पश्चिमी बंगला' के कुछ उपरूप (बोलियां) निम्नानुसार हैं:——

1. राढ़ी——गंगा नदी के किनारों पर 24 परगना, कलकत्ता, हावड़ा, हुगली, बर्दवान और नदिया जिलों में बोली जाने वाली बोली।

2. पावना-बांकुड़ा, राजशाही, रंगपुरा, दिनाजपुर आदि क्षेत्रों की बोली।

3. झाड़खण्डी——झाड़ग्राम, बीरभूम, मेंदिनीपुर आदि क्षेत्रों में व्यवहृत बोली।

बंगला भाषा की लिपि ब्राह्मी लिपि से ही विकसित हुई है और बहुत कुछ नागरी लिपि के ही समान है। पहले इसकी समानता नागरी लिपि से और भी अधिक थी। परवर्ती काल में इसे कलात्मक बनाने के प्रयास में इसका रूप नागरी लिपि से कुछ और भी अधिक भिन्न हो गया। बनावट की दृष्टि से बंगला के संयुक्ताक्षर काफी क्लिष्ट और कलात्मक होते हैं। इसकी वर्णमाला देवनागरी के ही समान हैं, किन्तु उच्चारण में काफी भेद है।

बंगला-भाषा की प्रमुख उच्चारण-विशेषताएं इस प्रकार हैं:——

बंगला-उच्चारण

प्रायः सभी बंगला व्यंजनों का उच्चारण हिन्दी व्यंजनों के समान होता है। उच्चारण भेद के कुछ साधारण नियम इस प्रकार हैं:——

1. 'न' और 'ण' के उच्चारण में उतना फर्क नहीं होता, जितना कि हिन्दी में। मोटे तौर पर 'ण' का उच्चारण 'न' जैसा ही होता है।

2. 'व' का उच्चारण 'ब' होता है।

3. 'व' का काम 'ओ——य' या 'उ——य' से चलाया जाता है, जैसे रेलउ——ये (रेलवे), जाओया (जावा अर्थात् जाना)

4. मूल शब्दों के प्रारम्भ में 'यं का उच्चारण 'ज' होता है, जैसे——यथा——जथा, यल——जल, यादव——जादव। उपसर्ग वाले शब्दों में भी 'य' प्रारम्भिक माना जाता है, अतः उसका उच्चारण 'ज' होता है, यथा-अयाचित-अजाचित।

5. मूल शब्दों के अन्त या मध्य वाले 'य' का उच्चारण 'य' होता है, तथा-राय——राय, मयंक——मयंक आदि।

6. 'क्ष' का उच्चारण 'क्ख' होता है, यथा—कक्षा कक्खा।

7. 'द्म' का उच्चारण 'द्दो' होता है, यथा——पद्म पद्दो।

8. 'द्य' या 'द्य' का उच्चारण 'द्द'/'द्द' होता है, यथा-पल द्य——पद्द।

9. 'अ' बंगला में उत्तर तालव्य स्वर है। इसके सही उच्चारण में अभ्यास प्रमुख है किन्तु कुछ दूर तक बंगला के 'अ' का उच्चारण lot, got में देखा जा सकता है।

*प्रभारी-अधिकारी, राजभाषा विभाग, भारतीय नौवहन निगम लि०; 13 स्ट्रैंड रोड़, कलकत्ता-700001.

10. अन्तिम व्यंजन को छोड़कर प्रत्येक व्यंजन में 'अ' का उच्चारण होता है। अर्थात् 'कमल' नहीं बल्कि 'कॅमॅलॅ' सही है।

11. किन्तु यदि अंतिम व्यंजन 'त' हो तो उसके 'अ' का उच्चारण होता है यथा———जयन्त———जॅयॅन्तॅ।

12. स,श और ष का उच्चारण प्रायः 'श' ही किया जाता है।

व्याकरणिक विशेषताएं

हिन्दी की भांति बगला लिंग प्रधान भाषा नहीं है। इसमें हिन्दी की तरह लिंग का प्रभाव क्रिया पर नहीं पड़ता, यथा———

मैं खाता हूं———आमि खाच्छि।

मैं खाती हूं।———आमि खाच्छि।

संयोगात्मक विभक्तियां मिलती हैं, यथा———राम का———रामेर,

आपका———आपनार, आदि।

क्रियारूप भी संश्लिष्ट होते हैं, यथा———जाता हूं———जाच्छि, जा रहे हैं———जाच्छेन, आदि।

अधिकरणवाचक रूपों में प्रायः 'ए' जोड़ दिया जाता है, यथा———बाजार में———बाजारे।

जहां तक शब्द भण्डार की बात है, बंगला में संस्कृत शब्द सर्वाधिक हैं। शब्दावलि की दृष्टि से बंगला और मलयालम ही संस्कृत के सर्वाधिक निकट हैं। डा० राधा कृष्ण सहाय के अनुसार बंगला में 55.1% तत्सम 25.0% तद्भव, 16.2% विदेशी तथा 3.1% देशी शब्द पाए जाते हैं। विदेशी शब्दों में अरबी-फारसी, तुर्की, अंग्रेजी और पुर्तगाली के शब्द सर्वाधिक प्रचलित हैं, जैसे—इज्जत, रूमाल, कागज, जल्दी, आहिस्ता (आस्ते), चार्ब बोताम नीलम आदि। बंगला में संस्कृत और विदेशी भाषाओं के बहुत से शब्द अपने मूल अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं जबकि हिन्दी आदि अन्य भाषाओं में उन्हें परिवर्तित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

बंगला भाषा और उसके साहित्य के विकास की एक सुदीर्घ एवं सुदृढ़ परंपरा है। बंगला भाषा के इतिहास को डा० सुकुमार सैन ने तीन खण्डों में बांटा है। पहला काल प्रारंभ काल या आदिकाल है जिसे 'पुरानी बंगला का काल कहा जा सकता है और जिसकी अवधि दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के बीच तक मानी जाती है। पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक की अवधि मध्यकाल के अन्तर्गत आती है और उन्नीसवीं शताब्दी से आधुनिक काल माना जाता है।

बंगला का आरंभिक विकास रहस्यवादी भावों से भरपूर 'चर्यापद' से माना जाता है। 'चर्यापद' न केवल बंगला की प्राचीनतम साहित्यिक कृति है बल्कि, इसमें अन्य भारतीय भाषाओं के संकेत भी मिलते हैं। इससे तत्कालीन समाज और संस्कृति के विषय में भी पता चलता है। इसकी रचना दसवीं शताब्दी में होने का अनुमान है। इसमें उस युग के सिद्धों की रचनाएं हैं, जिनमें लुई, लुईया कानपा, भुसुक आदि सिद्ध प्रमुख हैं। चर्यापद' का संपादन प्रकाशन सन् 1916 में बौद्धगान ओ दोहा' शीर्षक से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने किया था। इसमें 35 पद-रचियताओं के गेय पद हैं, यथाः———

'आजि भ्शू बंगाली भईली
निअ धरिणी चंडाली ले ली'
'काआ तरूवर पंच विडाल
चंचल चीअ पईठी काल'
'बरगुरू———बअण कुठारें छिजइ
काहन भणइ तरू पुण न उईजइ' आदि

इन पदों पर तत्कालीन प्राकृत और अपभ्रंश का व्यापक प्रभाव स्पष्ट है। चर्यापद के बाद दो-तीन शताब्दियों तक संस्कृत ग्रंथ तो मिलते हैं किन्तु उस काल के दौरान विकसित हो रही बंगला के कोई ग्रंथ नहीं मिलते हैं। आगे चलकर, तत्कालीन बंगला ग्रंथों के मिलने पर ही उस काल के बंगला-साहित्य-विकास पर प्रकाश पड़ सकेगा।

चौदहवीं शताब्दी में रचित राधाकृष्ण संबंधी बंगला साहित्य प्रभूत मात्रा में मिला है। इसमें बड़ चंडीदास रचित' श्रीकृष्ण कीर्तन' का ऐतिहासिक महत्व है। इसमें राधाकृष्ण की लीलाओं का मान किया गया है। डा० कैलाशचन्द्र भाटिया के अनुसार, इस दृष्टि से 'राधाकृष्ण' से संबंधित काव्य से ही बंगाली साहित्य प्रारम्भ होता है। इसका अधिकांश साहित्य गेय है जो बहुत समय तक मौखिक रूप से चलता रहा। इसमें प्रचीन बंगला का रूप झलकता है। चण्डीदास और विद्यापति की राधाकृष्ण की कविताओं ने इस युग के साहित्य को रस से भर दिया। बड़े चण्डीदास के कावय में वर्णित राधा और कृष्ण की प्रेम कहानी बहुत कुछ लौकिक-सी लगती है।"

बंगला साहित्य के मध्यकाल का प्रारंभ चण्डीदास के बाद होता है। इस काल में धार्मिक, श्रृंगारिक तथा गेय साहित्य की रचना की गई। इस काल की धार्मिक साहित्य धारा के अंतर्गत असंख्य मंगल-काव्यों की रचना की गई। मंगल-काव्य के बीज सहजिया संप्रदाय में मिलते हैं। लोक साहित्य और लोक कल्याण की भावनाओं से रचित मंगल काव्यों या शाक्तधर्मी काव्यों में धर्ममंगल, मनसामंगल आदि उल्लेखनीय हैं। चण्डी और अन्नदा संबंधी मंगल काव्य भी विशिष्ट हैं। पौराणिक विश्वास के अनुसार सर्पों की देवी मनसा शिवजी की मानसपुत्री मानी जाती है। बंगला में मनसा देवी की अत्यधिक मान्यता रही है। मनसामंगल काव्यों की रचना चांद-बेहुला वृत्त के गेय छन्द में हुई है जिसमें प्रायः 24 मात्राओं का पयार है। इस धारा के प्रथम कवि हरिदत्त (पन्द्रहवीं शताब्दी) माने गए हैं। अन्य कवियों में विजय गुप्त, विप्रदास, मंगादास सेन, द्विज वंशीदास, कालिदास, क्षमानंद आदि उल्लेखनीय हैं।

अठारहवीं शताब्दी तक चंडीमंगल काव्य भी मिलते हैं। चण्डी को आदि शक्ति माना गया है। इसके प्रथम कवि मामिकदत्त (तेरहवीं शती) माने जाते हैं। सोलहवीं शताब्दी से चंडीमंगल काव्य की बहुतायत पाई गई है। इस काव्य धारा में द्विज माधव, मुकुंदराम, द्विज हरिराम, भारतचन्द्र आदि के कार्य उल्लेखनीय हैं। भारतचन्द्र (1712 ई०) ने बंगला काव्य में नई स्फूर्ति भरी। उनकी पहली रचना 'सत्यपीरि कथा' का ऐतिहासिक महत्व है। अन्नदामंगल काव्यों की धारा में लाला जयनारायण, सेन, भारतचन्द्र, जनार्दन, भवानीशंकर के नाम उल्लेखनीय हैं। कालिका-मंगल काव्य के रचयिताओं में कंक, श्रीधर, गोविन्द दास, साविरिद खां, कृष्णराम दास, प्राणराम चक्रवर्ती, बलराम आदि प्रमुख हैं। अन्य मंगल काव्यों में शीतला, शारदा, गंगा और कपिला से संबंधित मंगल काव्य विशेष रहे हैं।

उपर्युक्त, मंगल काव्यों में साधारणतः चार अंश मिलते हैं, जिनके संबंध में डा० इन्द्रनाथ चौधरी का कथन है, "पहले अंश में ईश्वर की वन्दना है। इस वन्दना में हिन्दू-मुसलमान, निर्विशेष असांप्रदायिक भक्ति भावना और विश्व-बोध के विचारों की अभिव्यंजना पाई जाती है। दूसरे अंश में ग्रंथ रचना के कारण का वर्णन किया जाता है। साधारणतः देव निर्देश ही इसका कारण होता है। इसके साथ कवि अपना आत्मपरिचय भी देता है। तीसरे अंश में पौराणिक देवता के साथ लौकिक देवता का संबंध स्थापित किया जाता है। इन देवताओं के साथ भगवान शिव को समान प्रधानता दी जाती है। चतुर्थ अंश में काव्यवर्णित देवता की पूजा के प्रचार के लिए किसी-किसी देवता का या स्वर्गवासी का शापभ्रष्ट होकर संसार में जन्म लेने का और फिर उसके नरजीवन का वर्णन किया जाता है। काव्य की यही मूल आख्यायिका होती है। इस नरखण्ड में इन देवताओं या स्वर्गवासियों के लौकिक प्रेम का विस्तर से वर्णन होता है।"

मंगल काव्य के अतिरिक्त शिव के स्तुतिपरक गीत भी मिले हैं। 'सत्यपीर' की कथा पर फकीरचंद तथा रामानंद के काव्य भी मिले हैं। लोह साहित्य में डाक और खना का काव्य उल्लेखनीय हैं। परन्तु चण्डीदास के परवर्ती काल में सर्वाधिक प्रभाव महाप्रभु चैतन्य का दिखाई पड़ता है। चैतन्य के प्रभाव से सोलहवीं शताब्दी में प्रभूत मात्रा में वैष्णव धार्मिक साहित्य लिखा गया। डा० भाटिया के अनुसार, "मैथिली कवि विद्यापति की पदावली से बंगला बैष्णव साहित्य भी राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं की ओर बढ़ा। रूप गोस्वामी की उज्जवल नीलमणि तथा भक्ति-रसामृतसिंधु ग्रंथों ने वैष्णव साहित्य को दृढ़ शास्त्रीय आधार दिया। मैथिली और तत्कालीन बहुप्रचलित अवहंट्ठ भाषा के साथ बंगला का भी मिश्रण कर दिया गया। ब्रजभाषा का संपन्न रूप उभर कर आ चुका था। उसी के अनुरूप 'ब्रजबुलि' को विकसित कर उसमें पर्याप्त साहित्य लिखा गया। पन्द्रहवीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से बंगाली साहित्य भक्ति की ओर उन्मुख हो गया। चैतन्य लीला के पदों की रचना भी प्रारंभ की गई जिनको गौर चन्द्रिका कहा गया। इस काव्य में बंगला-भाषा का समस्त माधुर्य, कोमल-अनुभूति और भावप्रवणता मिलती है। यह पदावली बंगला का श्रेष्ठ साहित्य है।

तत्कालीन भक्ति-साहित्य को डा० सत्येन्द्र ने इस प्रकार वर्गीकृत किया है:——

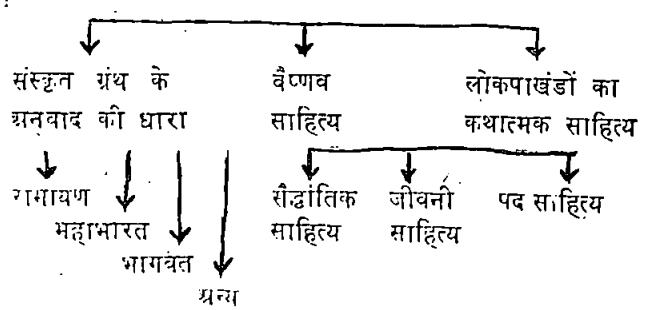

मध्यकाल के दौरान संस्कृत ग्रथों के बंगला अनुवाद की भी अजस्र धारा वही। संस्कृत से अनुदित ग्रंथों में सत्रवहीं सदी में रचित काशीराम दास कृत 'महाभारत' और कृतिवास कृत 'रामयण' प्रमुख हैं। कृतिवास कृत 'रामयाण' आज भी बंगाल के घर-घर में लोकप्रिय हैं। इसी काल के दौरान चैतन्य देव के जीवन पर आधारित अनेक चरितकाव्य लिखे गये। वस्तुतः उस दौरान वैष्णव जीवनी साहित्य की धूम-सी मच गई थी। इस श्रृखंला में वृन्दावन दास कृत 'चैतन्य भावगत' गोविन्ददास कृत 'कडचा', जयनान्द कृत "चैतन्य भागवात', गोविन्ददास कृत 'कडचा', जयानन्द कृत "चैतन्य मंगल", कविराज गोस्वामी कृत, "चैतन्य चरितमृत", श्रीकृष्ण मुरारी गुप्त कृत 'श्री करण चैतन्य चरित्र' कुछ उल्लेखनीय कृतियां हैं। चैतन्य के सैद्धांतिक पक्ष पर भी पैतीस से अधिक ग्रंथ लिखे गए जिनमें उनके शिष्यों—रूप तथा सनातन के ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। वस्तुतः चैतन्य साहित्य बंगाल और ब्रजभूति का महतवपूर्ण हैं। वस्तुतः चैतन्य साहित्य बंगाल और ब्रजभूमि का महत्वपूर्ण सेतु है जिसके परिणति बहुत बाद में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाए जाने के लिए बंगाल से उठे शक्तिशाली स्वर में होती है। चरित-साहित्य-काल में रचित सैद्धतांतिक ग्रंथों में लोचनदास, नरोत्तम, मनोहरदास, कवि बल्लभ, ब्रजमोहन दास, मंदकिशोर दास। रामगोपालदास, बीताबंर दास की कृतियां महत्वपूर्ण हैं।

मध्यकाल के दौरान रचित कृष्णकाव्य का भी विशेष महत्व है। कृष्ण पद साहित्य के अंतर्गत कृष्ण का बाल्यकाल, राधा-कृष्ण प्रेम एवं प्रभास मुख्य विषय रहे। तत्कालीन कृष्ण-काव्य के रचयिताओं में मालाधर वसु तथा रामानंद वसु उल्लेखनीय हैं: कृष्ण-काव्य के अंतर्गत प्रभूत मात्रा में कीर्तन-काव्य रचा गया, और 'यात्रा' (अर्थात् बंगाल के लोकरंगमंच) का उद्‌भव् हुआ। इस दौर के कुछ बाद ही बंगाल के हिन्दू-मुसालमान फ़कीरों ने सूफियों की भांति 'बाउलगीत' भी लिखे। बाउलगीतों में वैष्णव, सहजिया तथा सूफी मतों का लोकमांगलिक मिश्रण हुआ। लालन फकीर के बाउलगीत अधिक प्रसिद्ध हुए। आज भी बांगल में ब्राउलगीत उत्तर भारत की 'कजरी' आदि की तरह प्रसिद्ध हैं। मध्यकाल में ही नाथ संप्रदाय की विचार-धारा पर आधारित काव्यों की रचना भी की गयी। इसके अतिरिक्त, बंगाल के बसुत से मुस्लिम कविव्यों ने हिन्दू देवी-देवताओं और शास्त्रयीय विषयों को अपने काव्य का आधार बनाया। इनमें चटगांव के सैयद सुलतान प्रमुख है। इन्होंने अपने काव्य से बंगाला साहित्य को समृद्ध किया। इनके अतिरिक्त अनेक मुस्लिम कवियों ने बंगला में योग तथा वैष्णाव भक्ति के पद भी लिखे।

अंग्रेजों के आगमन के साथ ही बंगला साहित्य का आधुनिक काल प्रारंभ होता है। आधुनिक काल में बंगला साहित्य की चहुंमुखी प्रगति हुई, विशेषकर गद्य साहित्य, काव्य, उपन्यास और नाटक के क्षेत्र में बंगला की कीर्तिपाताका समस्त भारत में सर्वोच्च लहराने लगी।

सन् 1800 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना होने पर श्रीरामपुर में स्थापित हुए प्रेस के माध्यम से बंगला-गद्य का परादुर्भाव और विकास आरंभ हुआ। इस विजय-यात्रा में विलियम केरी, डीविड हेयर, राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, प्यारीचांद मित्र तथा अक्षयकुमार दत्त का योगदान अभूतपूर्व एवं ऐतिहासिक रहा। अक्षयकुमार दत्त ने निबंध, ईश्वरचन्द्र विद्यसागर ने देश प्रेम की कविताओं एवं हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय ने नाटक को आरम्भ किया और आगे बढ़ाया।

सर्वप्रथम निबंध लेखन को ही लें तो राममोहन राम ने वेदांत ग्रंथ की रचना कर गत साहित्य को आधार भूमि प्रदान की। वे वस्तुतः हि धर्म को नये संदर्भों में ढालने का प्रयत्न कर रहे थे। उसी समय श्रीरामपुर स्थित मिशन के प्रयत्न से 'दिग्दर्शन' नामक पत्रिका के जरिये ज्ञानोपयोगी निबंधों और 'समाचार दर्पण' नामक पत्र के माध्यम से धार्मिक निबंधों ने धर्म एवं दर्शन संबंधी निबंध, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, राजनारायण बसु तथा भू देव

मुखर्जी ने शिक्षा तथा समाज संबंधी उत्तम निबंध लिखे। बंगला निबंध विकास के राममोहन राय युग की इति बंकिम युग में 'बंगदर्शन' के माध्यम से निबंधों में लोकमंगल की भावना प्रतिष्ठित हुई। इन निबंधों में पाश्चात्य एवं प्राच्य गुणों का सुन्दर समन्वय किया गया। बंकिम के अतिरिक्त इस युग के अन्य निबंधकारों में अक्षयचन्द्र सरकार, चन्द्रनाथ बसु, संजीचन्द्र चटर्जी, हरप्रसाद शास्त्री, (विश्वनाथ शास्त्री, विश्वनाथ शास्त्री,) विश्वनाथ शास्त्री, रमेशचन्द्र दत्त और केशवचन्द्र सेन प्रमुख हैं। बंकिम युग के बाद रवीन्द्र युग प्रारंभ हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अतिरिक्त इस युग के दो प्रमुख निबन्धकार चौधरी तथा रामेंद्र सुन्दर त्रिवेदी हुए। चौधरी के काल में 'चलित भाषा' और 'साधु भाषा' का विवाद उठ खड़ा हुआ हुआ। गुरु रवीन्द्र और चौधरी ने चलित-भाषा अर्थात् लोकभाषा का ही पक्ष लिया। गुरु रवीन्द्र ने निबन्ध-साहित्य में भी पर्याप्त योगदान दिया। उन्होंने मुख्य रूप से गंभीर दार्शनिक निबंध लिखे। अन्य निबंधकारों में अतूलचंद्र गुप्त, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सुधरी कुमार दासगुप्त, शशिभूषण दासगुप्त, विष्णुदत्त भट्टचार्य ने काव्यशास्त्रीय पक्षों पर और डा० सुनितिकुमार, अन्नदा शंकर रे, सुधीन्द्रनाथ दत्त आदि ने व्यक्तिवादी पक्ष को लेकर निबंध लिखे। बंगला निबंध के आधुनिक युग प्रमुख निबंधकारों में डा० सुनीत कुमार, डा० सुकुमार सेन, डा० निहार रंजन राय, डा० राधागोविद, डा० हरेकृष्ण गोपाल हालदार, धुर्जटी प्रसाद मुखोपाध्याय, रमेशचन्द्र मजूमदार, विनय घोष आदि विशेष उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने भाषा, साहित्य, समाज इतिहास, शिल्प दर्शन आदि विषयों पर चिंतन प्रधान गंभीन लिख कर बंगला बाड्मयको समृद्ध किया है।

आधुनिक बंगला काव्य ने भारतीय काव्य की उच्चतम शिखरावलियों को हुआ है। आधुनिक काव्य की प्रारंभिक धारा 'गीतिकाव्य' में ईश्वरचन्द्र गुप्त माइकेल मधुसूदन दत्त, बिहारी लाल, चक्रवर्ती, सुरेन्द्रनाथ मजूमदार, देवेन्द्रनाथ सेन आदि का विशेष योगदान रहा। बीसवीं शती के प्रारंभ में बंगला साहित्य में गुरु रवीन्द्र पदार्पण इस शती की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक रहा। डा० भाडिया ने ठीक ही लिखा है कि "बीसवीं" शती के पहले चार दशकों में बंगला साहित्य में कवीन्द्र रवीन्द्र छाए रहें। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कृतियों से बंगला को विश्व प्रसिद्धि (प्रसिद्धि ठाकुर की कृतियों से बंगला को विश्व प्रसिद्धि) प्राप्त हुई। सन् 1913 ई० में "गीतांजलि" पर साहित्य का नोवेल प्राइज़ प्राप्त होनों के बाद कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं पर पड़ा। पूर्व ही पश्चिम को लाने का प्रयत्न रवीन्द्र ने किया। आध्यात्मिक भूमि पर उठा कर पश्चिम को भी पूर्व का संदेश दिया। गीतांजलि के अतिरिक्त 'कड़ी ओ कोमल', 'मानसी", 'चित्रा', 'उर्वशीं, 'सोनार नदी', 'बलाका' प्रमुख कृतियां हैं। देश प्रेम की कविताएं भी लिखीं, वैष्णव भक्तों के लिए ब्रजबलि में काव्य रचना की। उन्होंने शांति निकेतन की स्थापना की जहां पर कालान्तर में 'विश्वभारती विश्वविद्यालय' विकसित हुआ।"

कवीन्द्र के अनुयायी सत्येन्द्रनाथ दत्त ने भी अनेक काव्य ग्रंथों की रचना की। अन्य महत्वपूर्ण कवियों में जीवेन्द्रदत्त, द्विजेन्द्रनारायन, करुणानिधान वन्धोपायध्याय, यतीन्द्र मोहन बागची, कुमुदरंजन मल्लिक, (उल्लेख हैं। इस समय बागची, कुमुदरंजच मल्लिक) उल्लेखनीय हैं। इसी समय रोमान्टिक-काव्य से इतर एक समाज-सापेक्ष विद्रोह धारा नज़रुल इस्लाम के काव्य में प्रस्फुटित हुई। नज़रन ने भी प्रभूत मात्रा में काव्य सृजन किया और उनकी 'अग्निधीषा' (सन् 1922) तथा 'धूमकेतु' नामक काव्य कृतियां विशेष चर्चित हुई।

बंगला काव्य के समकालीन दौर में भी अनेक महत्वपूर्ण कवि हुए जिनमे प्रेमेन्द्र मित्र, बुद्धिदेव, जीवनानंद दास, विष्णु दे आदि अधिक चर्चित हुए।

नाटक के क्षेत्र में भी बंगाल ने अग्रणी भूमिका निभाई है। बंगला का पहला नाटक सन् 1854 में नामनारायण तर्करत्न द्वारा लिखा गया था। 'कुलीन कुल सर्वस्व' नामक इस नाटक का मंचन सन् 1858 में हुआ। तत्पाश्चात् माइकेल मधुसूदन दत्त (1824-1873) ने अपने 'शार्मिस्ठा' (1859), (पद्मावती', 'कृष्णकुमारी', 'एइके की बले सभ्यता', बड़ी शालिकेर घाड़े रोम', आदि नाटकों/प्रहसनों से सोद्देश्य नाट्य लेखन की नींव डाली। उनके नाटक प्रयः बेलगाछिया रंगमंच' द्वारा अभिनीत हुए। इसके पश्चात् युग प्रवर्तक नाटककार दीनबंधु मित्र उपस्थिति हुए। उनके नाटक 'नीलर्दपण' (1860 ई०) ने जिसमें नील बनाने की कोठियों के मालिक अंग्रेजों के शोषण एवं अत्याचारों का पर्दाफाशा किया गया था, एक प्रकार सामाजिक क्रांति ही पैदा कर दी। उनके अन्य नाटकों में सधवार एकादशी, नवीन तपस्विनी, कमले कामिनी, बिए पागल बुड़ों, जमाई बारिक आदि स्मरणीय हैं। परवर्ती काल में यतीन्द्र मोहन ने पथुरियाघाट रंगमंच नाटक खेले। इस दौरान और भी कई नाटकार हुए और बंगला नाटक तथा रंगमंच निरंतर विकसित होता गया। इसके बाद हुए महान नाटकार गिरिशचन्द्र घोष (1844-1911 ई०)। आपने कई ऐतिहासिक नाटक लिखे और खेले । स्त्री पात्रों को रंगमंच पर लाने का श्रेय भी आपको ही है। अमृतलाल बसु और अन्य कुछ नाटककारों ने परिहास पूर्ण नाटक खेले और लिखे। इसके बाद अब तक के नाटकारों में सर्वाधिक प्रतिभा संपन्न नाटकार द्विजेन्द्रलाल राय अवतरित हुए द्विजेन्द्रलाल राय के सामाजिक सन्दर्भों वाले ऐतिहासिक नाटकों ने अच्छी-खासी धूम मचायी। इसके उपरान्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नाटक के नवीन युग के द्वारा अपने तमाम नाटकों से खोल दिये। उनके चर्चित नाटकों में से 'काल गृगया' (संगीत नाटक), 'मायार वेला' (सगीतिका), प्रकृतिर प्रतिशोध (भाटकीय काव्य), चित्र गीतिनाट्य), (फाल्गुनी) संगीता ऊहा नाटक), रक्त करवी (ऊहा नाटक), विदाय विलाप (संवाद एकांकी) शारदोत्सव (प्रतीक नाटक), डाकघर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

समकालीन नाटककारों में बादल सरकार सर्वाधिक लोवप्रिय हैं। अन्य नाटककारों में सलिल सेन, नीहार रंजन, रवीन्द्रनाथ मैत्र, धनंजय वैरागी आदि प्रमुख हैं।

जैसाकि अन्यत्र उल्लेख किया गया है बंगला गद्य साहित्य का शुभारंभ फोर्ट विलियम कालेज से हुआ। सन् 1852 में बंगला के प्रथम उपन्यास 'करण ओ फुलमनि का प्रकाशन हुआ। सन् 1852 में टेकचन्द्र ठाकुर रचित उपन्यास "आलालेर भेरे दुलालद का प्रकाशन हुआ। परवर्ती काल में वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के सरस एवं भावेत्तेजक उपन्यासों ने धूम मचा दी। बंकिम आज भी पूरे भारत में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले उपन्यासकारों में से हैं। उनके चर्चित उपन्यासों में 'दुर्गेशनन्दिनी', 'कपाल-कुण्डल', आनंदमठ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। आनंदमठ में दिया गया 'वन्देमातरम्' का गीत तो सच्चे भारतीयों के मन में आज तक ऊंची हिलोर उठाता है। तत्पश्चात् महान एवं सर्वाधिक पठित भारतीय उपन्यासकार शरतचन्द्र का आगमन हुआ। शरत ने अपने उपन्यासों द्वारा, ग्रामीण समाज, प्रेम रहस्य और सामाजिक कुरीतियों को व्यक्त किया। 'श्रीकान्त' और 'शेफ प्रश्न' के माध्यम से शरत अमर हो गये हैं।

रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में भी नूतन समाज चेतना तथा मानवीयता को प्रश्रय दिया गया। शैलजानन्द मुखोपाध्य, प्रेमेन्द्र मित्र, आर्चित्यकुमार सेनगुप्त, बुद्धदेव बसु, ताराशंकर बंद्योपाध्याय आदि आंचलिक कथा-साल हित्य का शक्तिशाली दौर लाए जिनमें से ताराशंकर बन्द्योपाध्याय ने अपने गणदेवता, धातृ देवता कालिन्दी उपन्यासों के बंगाल साहित्य में अद्वितीय स्थान पाया। परवर्ती कथाकारों में महाश्वेतादेवी, आशापूर्ण देवी, जरासंघ, बन फूल मनोजबसु, शंकर, विमल मित्र, समरेश बसु, सुनील गंगोपाध्याय आदि अनेक रचाकार सक्रिय एवं चर्चित रहे। आरंभ से आज तक बंगला कथा साहित्य ने पूरे भारत में लोकप्रियता पायी है। और अन्य भारतीय के कथा-साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला है। अनुवाद भी सर्वाधिक बंगाला कथा-साहित्य का हुआ है। मलयालम भाषी भी बंगला उपन्यासों के अनुवाद बहुत चाव से पढ़ते हैं।

यद्यपि पिछले 25-30 वर्षों में हिन्दी साहित्य ने अभूतपूर्व प्रगति की है। विशेष रूप से हिन्दी कविता और हिन्दी कहानी दुनिया को किसी भी भाषा की कविता-कहानी से टक्कर ले सकती है। तथापि बंगला साहित्य समय रूप से आज भी भारतीय साहित्य परिदृश्य में अपनी बनाए हुए हैं। नाटक के क्षेत्र में तो मराठी और कन्नड़ के अतिरिक्त अन्य कोई भाषा बंगला-नाटक को उच्चता की बराबरी का विचार भी नहीं कर सकती। जहां तक ज्ञान साहित्य का प्रश्न है, साहित्यक उपलब्धियों की तुलिना में बंगला भी अभी काफी पीछे है। फिर भी, जो कुछ भी थोड़ा बहुत ज्ञान-सहित्य तथा तकनीकी की साहित्य बंगला में उपलब्ध है उसका उपयोग हिन्दी के ज्ञान/तकनीकी साहित्य की तुलना में कहीं बेहतर हुआ है। इसका कारण है 17% साक्षरता वाले पश्चिम बंगाल के बंगला-भाषियों को पढ़ने का चाव। वे खरीद कर पढ़ना जानते हैं। यही कारण है कि प्रायः 60 प्रतिशत साक्षरता वाले दिल्ली शहर की तुलना में पश्चिम बंगाल में अधिक प्रतिशत पुस्तकों की बिक्री होती है। आज का हिन्दी पुस्तक व्यवसाय जहां, सरकारी या थोक खरीद पर आश्रित है वही बंगला पुस्तकें एक-एक करके पाठकों द्वारा खरीदी जाती हैं। यहां तक कि कलकत्ता के पुस्तक मेलों में बंगाली पाठक लाइन लगाकर रवीन्द्र रचनावाली, शरत साहित्य एवं अन्य पसंदीदा पुस्तकें खरीदते हैं। हिन्दी क्षेत्र में तो इस दृश्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

स्वतंत्रता के बाद, अकादमी द्वारा सन् 1955 से पुरस्कृत साहित्यकारों में से कुछ इस प्रकार हैं—काव्यः जीवनानंद दास, प्रेमेन्द्र मित्र, अमिय चक्रवर्ती, सुभाष मुखोपाध्याय, विष्णु दे, मानीन्द्र राम, नरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, शंखघोष आदि। कथा-साहित्य : ताराशंकर वैद्योपाध्याय गजेन्द्र कुमार मित्र, मनोज बसु, विमल कर, मैत्रणी देवी, पशुराम आदि। नाटक एवं अन्यःबुद्धदेव घोष आनंदशंकर राय, शशिभूषण दासगुप्त, बुद्धदेव बसु, महाश्वेता देवी आदि।

राजभाषायी विकासः

पश्चिम बंगाल को प्रमुख भाषा होने का कारण बंगला को वहा की राजभाषा के रूप में मान्यता दी गयी है। तथापि उत्तरी बंगला के कुछ हिस्सों, यथा-दर्जिलिंग आदि में नेपाली को और संथाली क्षेत्रों में संथाली को द्वितीय राजभाषा का दर्जा दिया गया है। उन क्षेत्रों के जन-सम्पर्क वाल राज्य सरकारी कार्यलयों में यथास्थिति अधिकांश कार्य नेपाली या संथाली में होते हैं। पश्चिम बंगाल के वाकी क्षेत्रों में राज्य सरकार के कार्यालयों में से अधिकांश में कुछ-न-कुछ, और कहीं-कहीं काफी कार्य बंगला में किया जाता है। स्वतंत्रता के बाद पश्चिम बंगाल में भी यथास्थिति बनी हुई थी, अर्थात् सरकारी कामकाज में अंग्रेजी का ही प्रयोग होता था। सन् 1961 में रवीन्द्र शातवार्षिकी के अवसर पर आदेश जारी करके राज्य सरकार ने अपने सभी कर्मचारियों से सरकारी कामकाज में बंगला का प्रयोग करने का अनुरोध किया जिसका अत्यन्त प्रभाव पड़ा। तत्पश्चात् 1972 ई० में फिर कानूनी तौर पर बंगला को सरकारी कामकाज में लाने का प्रयास किया गया। सन् 1977 में इस दिशा में कानून बना कर एक बार फिर जोरदार कोशिश की गई।

आज पश्चिचम बंगाल के प्रयोग की स्थिति यह है कि कलकत्ता शहर में जहां पश्चिम बंगाल की बंगला भाषी का प्रायः एक-तिहाई हिस्सा बसता है राज्य सरकार के अधिकांश कार्यालयों में बंगला का 30 से 40% तक प्रयोग होता है। राज्य सरकार के मुख्य कार्यालय 'राइटर्स बिल्डिग' में प्रायः 50% कार्य बंगला में होता है जबकि कलकत्ता महानगर में विखरे अधिकांश राशनिंग और प० बंगाल लोक निर्माण विभाग के कार्यालयों में प्रायः अग्रेजी में ही काम होता है। राज्य के अन्य क्षेत्रों में स्थित ब्लाक पंचायत, राशनिंग आदि की ओर से अन्य प्रकार के सरकारी कार्यालयों में अधिकांश कार्य बंगला में होता है। राज्य सरकार के अधिकतर मंत्री बंगला में ही निदेश देते/लिखते हैं। प्रिय लोक भाषा होने के कारण घर-परिवार, बाजार, नामपट्टी आदि में भी बंगला ही का प्रयोग प्रायः होता है। फिर भी एक बात हर स्तर पर महसूस होती है कि बंगला की साहित्यिक सम्पन्नता की तुलना में उसकी राजभाषायी प्रगति विशेष प्रभावशाली नहीं है।

"हिन्दी देश के सबसे बड़े हिस्से में बोली जाती है। हमें इस भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना ही चाहिए"

—रविन्द्रनाथ ठाकूर

अंग्रेजी-हिन्दी पारिभाषिक शब्दकोश-निर्माण में डॉ० रघुवीर का योगदान

—डॉ० रमेश चन्द्र शुक्ल*

अंग्रेजी हिन्दी कोशों की परम्परा बहुत पुरानी है। गत शताब्दी में प्रकाशित इस प्रकार के कोशों में फर्ग्यूसन, हेनरी हैरिस, गिलक्राइस्ट, रोबक, थामसन, देवी प्रसाद राय, आर०एस० डोबी, ग्रांट, मथुराप्रसाद मिश्र, हैजेल ग्रोव, बोराडाइल, फैलन और मुन्नीलाल आदि के कोश उल्लेखनीय हैं। इस शताब्दी में भी थामस क्रैवन, रामचन्द्र पाठक, पुरूषोत्तम नारायण अग्रवाल, गोपीनाथ श्रीवास्तव, डॉ० सूर्यकान्त, केदारनाथ भट्ट, डॉ० सत्यप्रकाश तथा डा० रघुवीर ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। इसमें डॉ० रघुवीर (सन् 1955) के 'अ कंप्रिहेंसिव इंग्लिश-हिन्दी डिक्शनरी' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि उसमें लगभग सभी आवश्यक विषयों के पारिभाषिक तथा सामान्य शब्द विद्यमान हैं।

डॉ० रघुवीर ने पारिभाषिक शब्दकोश के निर्माण का कार्य सन् 1942 में प्रारम्भ किया परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस कार्य में तीव्रता आई। मध्य प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री पं० रविशंकर जी शुक्ल की प्रेरणा से मध्य प्रदेश सरकार ने उन्हें पूर्ण समर्थन दिया। इस प्रकार सन् 1947 से 54 तक सांख्यिकी, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, सरल विज्ञान, तर्कशास्त्र आदि अलग-अलग कोशों का प्रकाशन हुआ तथा इसी बीच सन् 1950 ई० में 'ग्रेट इंग्लिश-इंडियन-डिक्शनरी' नामक 80 हजार शब्दों के वृहत्त कोश का भी प्रकाशन हुआ। इसी कोश के परिवर्धित संस्करण निकले तथा इसने भारतीय कोशविज्ञान में युगान्तर परिवर्तन का काम किया। डॉ० रघुवीर के इस कोश के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी-जगत में तहलका मच गया। उनके द्वारा निर्मित हिन्दी पर्याय शब्द अत्यन्त क्लिष्ट, दुरूह तथा अप्रचलित माने गए। मजाक के लिए कण्ठ-लंगोट (टाई) और अग्निरथ-गमन, आगमन-सूचक लोहपट्टिका (सिगनल) जैसे शब्द पढ़े गए। उल्लेखनीय है कि डा० रघुवीर के कोश में ये शब्द नहीं हैं, बल्कि उन्होंने कोश की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि हिन्दी-पर्याय खोजने में यथासंभव छोटे शब्द दिए गए हैं, बड़े समास नहीं। सिगनल के लिए उन्होंने 'संकेत, शब्द रखा है, 'अग्निरथ-गमन-आगमन सूचक-लोहपट्टिका' नहीं। इसलिए डा० रघबीर के कार्य की समीक्षा करने से पूर्व हमें उनके मूल सिद्धान्तों को समझना अति आवश्यक है।

डॉ० रघुबीर ने अपने कोश में शब्द-संकलन का आधार 'संस्कृत' बनाया। जिन विषयों का साहित्य उन्हें संस्कृत-प्राकृत, पालि व अपभ्रंश में मिल गया, उनके पारिभाषिक शब्द उन्होंने इन्हीं स्रोतों से लिए। जहां उन्हें एक शब्द से अन्य शब्द बनाने की आवश्यकता हुई, वहां उन्होंने मूल संस्कृत शब्द या धातु को लेकर उसमें उपसर्ग और प्रत्यय लगाकर शब्द बनाए। डा० रघुवीर ने अंग्रेजी प्रत्ययों के लिए हिन्दी-प्रत्यय निश्चित किए जैसे अल्युमिनियम, प्लैटिनम आदि धातुनाम के अंग्रेजी-प्रत्यय के लिए उन्होंने 'धातु' निश्चित किया और इस आधार पर मैग्नेशियम के लिए 'भ्राजातु' शब्द बनाया। अब हम कतिपय विषयों की पारिभाषिक-शब्दावली का अवलोकन करेंगे।

1. गणित:— डा० रघुबीर ने गणित के सूत्रों के बारे में विस्तार से विचार किया है। उन्होंने बताया कि गणित के कुछ सूत्र रोमन और ग्रीक अक्षरों से बने हैं, जैसे ग्रीक अक्षर 'ग' (पाई) जो व्यास और परिधि का सम्बन्ध बताता है। डॉ० रघुबीर ने इसके लिए 'प्या' संकेत देते हैं। डॉ० रघुवीर ने गणित के इन सब रोमन और ग्रीक संकेताक्षरों के लिए देवनागरी संकेताक्षर निश्चित किए हैं। भारत की सभी भाषाएं इन सूत्रों का व्यवहार कर सकती है। डॉ० रघुबीर ने गणित-सूत्रों की पूरी सूची दी है।

2. भौतिकी—कहा जाता है कि भौतिकी के सूत्र अन्तर्राष्ट्रीय है, इसलिए इनको नागरी अक्षरों में लिखने के बजाए ज्यों का त्यों ले लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में डॉ० रघुबीर का मत है कि भौतिकी के संकेताक्षर या सूत्र अंग्रेजी शब्दों के आद्यक्षर या संकेत है जैसे अंग्रेजी का 'a' अक्षर एम्प्लीट्यूड और एकसीलरेशन का, 'छ' ग्राम कर उनकी संकेताक्षरो की कमी पड़ जाती है, जैसे 'ग्रेविटी' के लिए 'g' कैसे लिखें। इसलिए वे कैपिटल लेटर 'G' का प्रयोग करते हैं। नागरी अक्षरों में यह कठिनाई नहीं है क्योंकि मात्रा लगाने से सैकड़ों अक्षर उपलब्ध हो जाते हैं और अलग-अलग संकेत दिए जा सकते हैं। भौतिकी के सूत्रों की डॉ० रघुबीर ने पूरी सूची दी है।

3. वनस्पतिशास्त्र—वनस्पतिशास्त्र के लिए डॉ० रघुबीर ने प्राचीन आयुर्वेद का सहारा लिया है। अंग्रेजी नाम वास्तव में लैटिन के हैं और अंग्रेज छात्रों के लिए भी कठिन हैं। अंग्रेजी में पहला शब्द जाति का नाम होता है, दूसरा विशेषण और तीसरा उपजाति का। 'तुलसी का लैटिन शब्द है 'आसीमम'। 'आसीमम सैक्टस' हिन्दी में सामान्य तुलसी' हो जाएगा क्योंकि हिन्दी में विशेषण विशेष्य से पहले आता है। हिन्दी में नाम देने का लाभ यह है कि इससे पता चल जाता है कि किस वनस्पति का वर्णन हो रहा है जबकि अंग्रेजी में सामान्य व्यक्ति लैटिन नामों के कारण यह नहीं जान पाता कि किस वस्तु की चर्चा हो रही है। इसलिए डॉ० रघुबीर ने युफाबियाकई के लिए एरंडकुल, रूताचिरो के लिए निम्बूकुल; विक्टाजिनाए के लिए पुनर्नबाकुल आदि नाम दिए हैं। निश्चय ही अंग्रेजी नामों से हिन्दी नाम स्पष्ट तथा सरल है।

4. प्राणिशास्त्र—प्राणिशास्त्र में भी, अंग्रेजी नाम लैटिन से लिए गए हैं, इसलिए अति दुर्बोध हैं। इनके स्थान पर यदि भारतीय नामों का प्रयोग किया जाए तो विद्यार्थी तुरन्त समझ लेगें। जैसे विदेशी नाम 'रैसर' के बजाए 'हंस' नाम सरल है। स्तनपायी पशुओं के नामों में हिन्दी तद्भव नामों के बजाए डा० रघुबीर ने तत्समों को पसन्द किया है, जैसे 'हाइना' (लकड़बग्घा) को उन्होंने 'तरक्षु' प्रजाति रखा है। इसी तरह 'हर्पेस्टेस' (नेवला) के लिए 'नकुल' शब्द। तर्क यह है कि सिन्धी और मराठी में 'तरक्ष' से उत्पन्न 'तरस' शब्द चलता है, इसी तरह नकुल से निकले हुए नेवला, नूल (कश्मीरी) शब्द हैं। डॉ० रघुवीर ने अंधानुवाद करने के बजाए उनकी विशेषताओं के सूचक नाम देने की पद्धति अपनाई है जो वास्तव में बड़ी वैज्ञानिक है। वस्तुतः डॉ० रघुबीर के काम का आधार यही है कि देश में सभी विषयों की पूरी शिक्षा हिन्दी और देश की भाषाओं के द्वारा होनी चाहिए और इसीलिए उन्होंने 'संस्कृत' का सहारा लिया है, क्योंकि दक्षिण भारतीय भाषाओं में संस्कृत के बहुत से शब्द समान रूप से व्यवहार में आते हैं।

5. प्रशासनिक शब्दावली—डॉ० रघुवीर ने प्रशासनिक शब्दावली के लिए हिन्दी पर्याय पर्याप्त संख्या में बनाए हैं। Action शब्द को ले। डॉ० रघुबीर के कोश में इसके बीस से अधिक प्रयोग दिए गए हैं जैसे—लीगल, क्रिमिनल, पर्सनल आदि। राहुलजी ने भी अपने 'शासन शब्दकोश' में इसके बारह प्रयोग दिए हैं। Action दोनों कोशों में ही 'कार्रवाई' है। दूसरा शब्द है— Inland Revenue डॉ० रघुबीर ने इसके लिए 'अंतर्देशीय आगम' और राहुल जी ने 'अन्तर्देशीय आय' लिखा है। साथ ही डॉ० रघुबीर ने Inland के लिए 'देशाश्यंतर' भी लिखा है। यहां उल्लेखनीय है कि 'आगम' शब्द 'आगम-निगम' के रूप में हिन्दी में दूसरे अर्थ में प्रचलित है। अतः भ्रान्ति की संभावना है। एक अन्य शब्द 'Defence' है। इसके लिए डॉ० रघुबीर ने प्रतिरक्षा' शब्द बनाया है। परन्तु आचार्य किशोरीदास बाजपेयी ने सब जगह उपसर्ग लगाने की नीति पर आलोचना की है। उनका कहना है कि यहां 'प्रति' उपसर्ग व्यर्थ है क्योंकि रक्षा स्वयं आक्रमण के प्रति रक्षा है, रक्षा की प्रतिरक्षा क्या होगी। यदि साधारण रक्षा और देश रक्षा में अन्तर ही करना हो तो 'राष्ट्ररक्षा' या 'देशरक्षा' शब्द ज्यादा अच्छा रहता। राहुल जी ने भी अपने कोश में 'प्रतिरक्षा' शब्द का ही प्रयोग किया है।

6. आयकर शब्दावली—'Income tax' शब्द के लिए डॉ० रघुबीर ने 'आयकर' को स्वीकार किया है, जो सरल भी है और प्रचलित भी। परन्तु मूल शब्द से अनेक समास-शब्द बनाए हैं जो कठिन हैं—

Income Tax deduction	व्यवकलन (डॉ० रघुवीर) कटौती (प्रचलित)
Income Tax Bearing Block	आय प्रदायी खण्ड (डॉ० रघुवीर) आय वाले खण्ड (प्रचलित)
Income Tax Return	आयकर प्रतिवरण (डॉ० रघुवीर) आयकर विवरणी (प्रचलित)
Income Tax Refund	आयकर प्रत्यर्पण (डॉ० रघुवीर) आयकर वापसी (प्रचलित)

स्पष्ट है कि डा० रघुवीर ने प्रचलित तथा सरल शब्दों के स्थान पर कहीं-कहीं संस्कृतनिष्ठ शब्द रखे हैं जोकि जन-सामान्य के लिए कठिन है।

7. डाक शब्दावली—एक प्रचलित शब्द है—Deposit इसका सामान्य अर्थ है—जमा। परन्तु डॉ० रघुवीर ने इसके लिए 'निक्षेप' शब्द चुना है। इसका परिणाम यह हुआ है कि 'Deposit at call' के लिए 'मांग-जमा' के बजाय डॉ० रघुवीर को 'याचनादेयनिक्षेप शब्द गढ़ना पड़ा। 'Post' शब्द के लिए डा० रघुवीर ने प्रारम्भ में 'डाक' शब्द स्वीकार किया, यथा-Postage—डाक, Postage-paid—डाक व्यय देकर, परन्तु इसके साथ उन्होंने एक विकल्प भी दिया है—पत्र-प्रेष शुल्क और आगे के शब्दों में उन्होंने डाक के बदले 'प्रेष' शब्द को ही अपनाया। यथा—

Post Card—प्रेष पत्रक
Reply—सोत्तर (जवाबी)
Past Parcel—प्रेष परिवेष्ट
Post Insurance—प्रेषालय आगोप

डॉ० रघुवीर ने 'Insurance' के लिए 'आगोप' शब्द रखा है जबकि 'बीमा' अति प्रचलित शब्द है।

8. रेल शब्दावली— डॉ० रघुवीर ने 'रेल' शब्द के लिए 'अयोयान' (लोहागाड़ी) या संयान और रेलवे के लिए 'अयोमार्ग' शब्द रखा है। यह ठीक है कि जर्मन, फ्रेंच और रूसी भाषाओं में भी इसी अर्थ के समास आईसेनवान, चेयां

द फर अ ार जलज्नामा द रोगा प्रचलित हैं और हमारे देश में भी 'धुवागाड़ी' शब्द प्रचलित था। मराठी में आज भी 'आगगाड़ी' शब्द प्रचलित है। यहां पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'रेल' शब्द का प्रयोग ज्यादा ठीक रहेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० रघुवीर ने शब्दावली निर्माण में अपूर्व योगदान दिया है। यद्यपि शब्दनिर्माण में उनका आधार 'सस्कृत' रही है परन्तु इससे डॉ० रघुवीर के कोश महत्ता और उपयोगिता कम नहीं होती। निश्चय ही, डॉ० रघुवीर ने आगे के कोशकारों का मार्ग प्रशस्त किया है उनको इस बात का श्रेय है कि उन्होंने पहली बार एक स्थान पर ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह किया और इस कार्य की पद्धति निर्धारित की है। निश्चय ही, हिंदी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दकोश-निर्माण के इतिहास में डॉ० रघुवीर चिरस्मरणीय रहेंगे।

पृष्ठ 58 का शेषांश

प्रायः यह देखने में आता है कि शुद्धता के नाम पर लोग ऐसी कठिन भाषा लिख देते हैं जिसका किसी की कोई अर्थ समय में नहीं आता। बात यह है कि वे मूल के प्रत्येक शब्द का पर्याय ढूँढते हैं और उन पर्यायों को जोड़ कर अनुवाद पूरा कर लेते हैं। परन्तु प्रत्येक भाषा का स्वरूप अलग होता है, इसका वे ध्यान नहीं रखते। शुद्धता का चाहे बहुत आग्रह रहे पर उसे प्रत्येक शब्द के पर्याय का आग्रह नहीं बनाया जाना चाहिए। यदि आप पूरे वाक्य के स्थान पर पूरे पैराग्राफ को पढ़ लें और मूल को सामग्री से अलग रख कर अपनी समझी हुई बात को स्वतंत्र रूप से कह दें तो भी शुद्धता की रक्षा हो सकती है। ध्यान इतना ही रखना होगा कि कोई आवश्यक बात छूटे नहीं और कोई अनावश्यक बात जुड़े नहीं। **वाक्यों की दुरूहता अनुवाद में प्रायः इसलिए आती है कि अनुवादक मूल के वाक्य के ढांचे को ध्यान में रखता है उसके भाव को नहीं; और यह सर्वविदित है कि मूल और अनुवाद की भाषा के ढांचे बिल्कुल अलग-अलग हो सकते हैं। इसलिए शुद्धता के नाम पर भाषा के ढांचे का अनुकरण नहीं करना चाहिए।** जहां अधिक अनुकरण होता है वहां पाठक ऐसे अनुवाद को पढ़ना ही पसन्द नहीं करता। वह यही सोचता है कि इसमें तो कुछ समझ में नहीं आता।

अतः अनुवादक को ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो सहज, सुबोध और प्रवाहयुक्त हो। साथ ही अनूदित सामग्री रुचिकर और पठनीय हो ताकि पाठक उसे मौलिक कृति की भांति पढ़ सके। अनुवाद को देखकर लोगों को यह प्रतीत हो कि यह तो वही भाषा है जिसको हम स्वयं ही बोलते हैं। वे यह भी सोचें कि यदि अनुवादक इसे लिख सकता है तो हम क्यों नहीं लिख सकते हैं। अतः अनुवादक को अपने अनुवाद में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके पाठकों में ऐसा भाव जागे। यदि अनुवादक ऐसा कर सकें तो राजभाषा की बड़ी भारी सेवा होगी और हिन्दी के विकास में बड़ा सहयोग मिलेगा। □

पृष्ठ 73 का शेषांश

(2) इस का विस्तार सारे पंजाब राज्य पर है।

(3) यह तुरन्त लागू हो जाएगा।

परिभाषा

(क) "पंजाबी" का अर्थ गुरमुखी लिपि में पंजाबी है।

(ख) "राज्य सरकार" का अर्थ पंजाब राज्य की सरकार है।

पंजाबी के पूर्ण तौर पर प्रचालन एवं सुगम बनाने हेतु भाषा विभाग पंजाब द्वारा सचिवालय तथा सिकी अलग-अलग शाखाओं, निदेशालयों एवं अन्य कार्यालयों की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न आकार की पंजाबी टाइपराईटरों की खरीद की गई।

पंजाबी भाषा पढ़ाने, पंजाबी टाईप एवं आशुलिपि का प्रशिक्षण देने हेतु सचिवालय तथा भाषा विभाग स्तर पर कक्षाएं आरम्भ की गई। इस कार्यक्रम के आरम्भ में 75,000 से भी ऊपर सभी श्रेणियों के कर्मचारियों ने इन प्रशिक्षणों हेतु प्रवेश प्राप्त किया। प्रोत्साहन योजना के सन्दर्भ में पंजाबी टंकण परीक्षा पास करने पर कर्मचारियों को 500/- रु० की नकद राशि देने का प्रावधान भी रखा गया है।

इसके अलवा भाषा विभाग द्वारा राज्यभर के कार्यालयों को कार्यालय मैनुअल, शब्दावली, दीवारी चार्ट, स्वशिक्षक गाईड तथा जानकारी से भरपूर कैलेण्डर वितरित किए गए।

- इस प्रकार पंजाबी तथा गुरमुखी जो बहुत पहले धार्मिक ग्रन्थों' तथा अन्य कृतियों तक ही सीमित थी पंजाब राज्य की विधिवन रूप से राजभाषा बनने पर विकास की राह पर अग्रसर हुई।

देश में अलग-अलग भाषाओं ने एक दूसरे से काफी कुछ प्राप्त करना है। भाषा ऐसा साधन है जिसके माध्यम से व्यक्ति एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करता है तथा किसी भी भाषा के समृद्ध साहित्य पर कुछ लोगों का ही अधिकार नहीं होना बल्कि वह पूरी मनुष्यता के प्रयोग में आने वाली वस्तु होती है। पंजाबी की उन्नति से अन्य राष्ट्रीय भाषाओं की भी उन्नत होने का उत्साह मिलेगा तथा वह भाषाएं भी समृद्ध बनेगी, ऐसी आशा है।

संदर्भ और टिप्पणियां

(1) पंजाबी बोली का इतिहास, प्यारा सिंह पदम, मनजीत प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग कम्पनी, पटियाला; 1951

(2) पंजाबी भाषा दा विकास, काला सिंह बेदी सेवक साहित्य भवन, 2899, बाजार सीता राम, दिल्ली-6 1971

(3) सोवीनर—पंजाबी उत्सव, भाषा विभाग, पंजाब; 13 अप्रैल 1968

'मैं दुनिया की सब भाषाओं
की इज़्ज़त करता हूँ,
परन्तु मेरे देश में हिन्दी की
इज़्ज़त न हो वह मैं सह
नहीं सकता।'

— विनोबा भावे

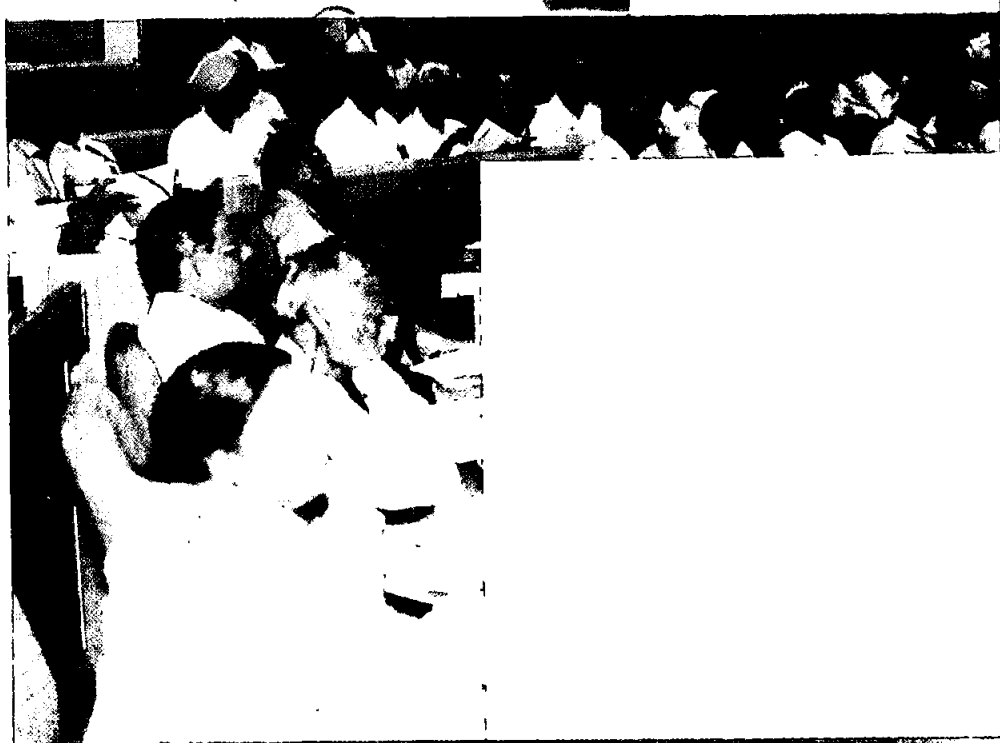

पंजीकरण सं० 32456/78

उठो! जागो!!

ए ओ ह्यूम (कांग्रेस के संस्थापक)
(कलकत्ता 1886)

भारत के पूतो, क्यों बैठे हो निष्क्रिय होकर?
क्या जोह रहे हो बाट किसी वरदानी की?
होकर सन्नद्ध जुट अपने कर्तव्य क्षेत्र में,
उन्नत होते हैं राष्ट्र सदा अपने ही बल पर।
तुम हो स्वतन्त्र, परतंत्र याकि हो क्रीत दास,
तुम, जो धरती पर पड़े हुए हो मुंह के बल?
है समाधान सब स्वयं तुम्हारे हाथ में,
उन्नत होते हैं राष्ट्र सदा अपने ही बल पर।
करते हो तुम भुगतान करों का निश्चय ही,
पर उनके व्यय पर तुमको है अधिकार नहीं।
सब जागो, उठाओ अपना स्वर इस के विरुद्ध
उन्नत होते हैं राष्ट्र सदा अपने ही बल पर।
किस मतलब का ज्ञान? व्यर्थ सब धन दौलत,
थोथी उपाधियां और सभी व्यापार लचर।
सच्चा स्वराज्य धरती पर होता सर्वोपरि।
उन्नत होते हैं राष्ट्र सदा अपने ही बल पर।
तुम विजड़ित हो या हो केवल भोले बच्चे?
क्यों डरे हुए सहमें घबराये हो अघन्टे?
क्या अन्त न होगा कभी तुम्हारे बचपन का?
उन्नत होते हैं राष्ट्र सदा अपने ही बल पर।
मांगो सहायता नहीं देव या दानव से,
खोजो अपने ही भीतर प्रश्नों के उत्तर।
है जीत उसी की जो साहस संकल्प-युक्त,
उन्नत होते हैं राष्ट्र सदा अपने ही बल पर।
भारत पूतो, उठो और कर्तव्य करो,
व्यवधान कदापि न अपने पथ में आने दो,
देखो प्राची से झांक रहा है नवप्रभात,
उन्नत होते हैं राष्ट्र सदा अपने ही बल पर।

अनुवादक: पं० ओम प्रकाश दीक्षित

उन्नत होते हैं राष्ट्र सदा अपने ही बल पर।

राजभाषा विभाग (गृह मंत्रालय) नई दिल्ली-110003 के उप संपादक द्वारा प्रकाशित तथा प्रबंधक भारत सरकार फोटोलिथो मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित।